

जुलाई 2014 मूल्य : 25 रुपए

साभयिक वार्ता



विद्रोह और विकल्प का राही

सुनील स्मृति अंक

साथी सुनील के प्रति

राजेंद्र राजन



विकास

कम हो रही हैं चिड़ियां
गुम हो रही हैं गिलहरियां
अब दिखती नहीं हैं तितलियां
लुप्त हो रही हैं जाने कितनी
जीवन की प्रजातियां

कम हो रहा है
धरती के घड़े में जल
पौधों में रस
अन्न में स्वाद
कम हो रही है फलों में मिठास
फूलों में खुशबू
शरीर में सेहत

कम हो रहा है
जमीन में ऊपजाऊपन
हवा में ऑक्सीजन

सब कुछ कम हो रहा है
जो जरूरी है जीने के लिए
मगर चुप रहो
विकास हो रहा है इसलिए।

मुल्क में इस वक्त

चाहे आंसुओं से सींचो
या पसीने की धार से
अब एक भी अंकुर फूटता नहीं है
निकलती नहीं है एक भी कोंपल

इतनी खराब हो गई जमीन
इतनी दूषित हो गई है हवा
इतना बिगड़ गया है वातावरण
विकास का ढोल पीटते इन बरसों में।

अगर चाहते हो अब भी फूटें कुछ अंकुर
निकलें नई-नई कोंपलें
तो अब कुछ भी बोने से पहले
सुधारनी होगी जमीन
चलना होगा हवा के जहरीले रुख के खिलाफ
बनाना होगा एक नया वातावरण।

बहुत मुश्किल है यह काम
पर यही तो है एक काम
मुल्क में इस वक्त।

सामयिक वार्ता

जुलाई 2014, वर्ष 37, अंक 11-12

संस्थापक संपादक: किशन पटनायक

संपादक: कश्मीर उप्पल

संपादक मंडल: सच्चिदानंद सिन्हा,

अशोक सेकसरिया, बाबा मायाराम, संजय भारती

संपादन सहयोग: सत्येंद्र रंजन, अरविंद मोहन,

हरिमोहन, राजेंद्र राजन, प्रियदर्शन, अरुणकुमार

त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल:

योगेंद्र यादव, स्मिता, चंचल मुखर्जी

प्रबंधक: चंद्रशेखर मिश्रा

पृष्ठ-सज्जा: तरुण पटैल, संजीव यादव

आवरण: संजीव यादव

कार्यालय: सामयिक वार्ता, द्वारा चंद्रशेखर मिश्रा,

दूसरी लाइन, इटारसी, जिला होशंगाबाद,

म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425643191, 09424437330 (संपादन)

09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल: varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क:

वार्षिक शुल्क: 150 रुपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रुपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रुपए

आजीवन शुल्क: 2000 रुपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा 'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेसी की राशि कोर बैंकिंग के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त नाम से खाता क्रमांक 3979000100117987 (ifsc code punbo397900) में जमा कर सकते हैं। जमा करने की सूचना और अपना पता हमें पत्र से अवश्य भेजें। आप पहले से वार्ता के ग्राहक हैं लेकिन वार्ता आप तक नहीं पहुँची हो तो एक पोस्टकार्ड डालकर हमें भूल-सुधार का मौका दें।

सुनील स्मृति अंक

- 6 मम्मी-बाबूजी को पत्र
- 9 सबसे प्रतिभाशाली प्रतिबद्ध समाजवादी सच्चिदानंद सिन्हा
- 13 एक समर्पित कार्यकर्ता-नेता जोशी जेकब
- 17 लोकशक्ति जगानेवाला नारायण देसाई
- 19 'योग' दान मेधा पाटकर
- 20 'महान' के साथियों का सलाम अविनाश चंचल
- 21 दिशा-बोध देती अदृश्य उपस्थिति योगेंद्र यादव
- 28 संस्कारों की महक कश्मीर उप्पल
- 30 वह जो मेरा भाई था डॉ. चंद्रशीला गुप्ता
- 33 सार्वभौमवाद के बरक्स स्थानीयता प्रेम सिंह
- 36 सरल जीवन और गंभीर चिंतन रणजीत राय
- 37 सुनील को अभी मत मापिए अरविंद मोहन
- 39 तीर्थ-यात्रा अशोक सेकसरिया
- 44 चौबीस कैरेट के आदमी अरुण कुमार त्रिपाठी
- 47 सहज जीवन टुलटुल विश्वास
- 49 सुनील भाई की विरासत लिंगराज
- 51 एक कुजात गांधीवादी सुरेश दीवान

52	वैकल्पिक सोच पर नई बहस अनुराग मोदी	78	जनेवि में हिंदी जगदीश्वर चतुर्वेदी
55	तुम्हें किशनजी का भूत... लिंगराज आजाद	80	पिछड़ेपन के पक्षधर जनेवि में अफलातून
57	सादगी भरी जीवन धारा कमल बनर्जी	81	सबसे अलग शरतचंद्र बेहार
58	मेरे देखे सुनील प्रीतीश आचार्य	82	किताबों की दुनिया से जुदा राह पीके बसंत
61	समाजवाद के संघर्ष... भारत डोगरा	83	लोहिया पथ का लौह पथिक नवीन
62	सुनील भाई को श्रद्धांजली अरविंद गुप्ता	84	उनको प्रणाम अनुराधा शंकर
63	सुनील को जानना अलका सरावगी	86	एक राजनीति जिसमें मिट्टी की... राहुल बनर्जी
64	युवाओं के प्रेरणा-स्रोत कामायिनी	88	सृजन करेंगी यादें राजेंद्र चौधरी
65	सविनय अवज्ञाकारी मुकुल मांगलिक	89	देशज विचार का अन्वेषक अमनदीप वशिष्ठ
66	सुनील भाई और 'नोटा' नरेंद्र कुमार	90	चिंतक बनते देखना तपन भट्टाचार्य
67	मेज के इस तरफ और उस तरफ देवेंद्र	92	आंदोलन की राह पर गुलियाबाई
68	कुछ यादें प्रेमपाल शर्मा	94	लड़ाई जारी है फागराम
70	सुनील जैसा होना संभव नहीं प्रियदर्शन	96	झोलावाले लोग जुगन
72	समाजवाद का सपना लिए... सुधा भारद्वाज	98	बांसलाखेड़ा वाले नेता राजीव बामने
73	क्या कहूं तुम्हें विद्या जैन	99	वे और नारी जागृति मंच विद्या मिश्रा
74	संकल्प मजबूत करती मुलाकातें आलोक अग्रवाल	99	तेरे लिए हैं सारे जतन लखनलाल मालवीय
75	आधार-स्तंभ इलीना सेन	100	प्रधानमंत्री के नाम जेल से खुला पत्र
76	तय करो किस ओर हो तुम प्रशांत दुबे	103	सुनील के लेख अर्थशास्त्र मार्क्स और लोहिया के आगे भूमंडलीकरण का भ्रष्टाचार सभ्यता का कचरा

अपनी बात

वार्ता का यह अंक हम सबके प्रिय साथी सुनील के बारे में है। सुनील के चले जाने के बाद एक नई सरकार आई है और अपने अब तक के काम से उसने यही संकेत दिया है कि बहुत बुरे दिन आनेवाले हैं; जिस 'विकास' के खिलाफ सुनील ने मृत्युपर्यंत लड़ाई लड़ी, वह तथाकथित विकास अपने और भी नग्न रूप में हमें लीलने को अग्रसर होता दिखाई पड़ रहा है। ऐसे में सुनील को याद करना, हमारे लिए यह संकल्प करना भी है कि जिस लड़ाई में उन्होंने अपना सर्वस्व झोंक दिया था, उस लड़ाई को हम समाप्त नहीं होने देंगे, उसे जारी रखेंगे।

वार्ता के इस अंक में सुनील के साथियों और उनके संपर्क में आए लोगों ने बहुत कुछ लिखा है। इस 'बहुत कुछ' के बावजूद यह दावा नहीं किया जा सकता कि यह अंक सुनील का एक संपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। झाकियां हैं, जिनसे चित्र बनाने में मदद मिल सकती है। संपूर्ण चित्र तो पाठकों को अपने मन में बनाना है। इस अंक में हमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। पृष्ठ संख्या बढ़ाने के बावजूद बहुत से लेखों को छोड़ना पड़ा और सुनील के वैचारिक लेखों में केवल 'अर्थशास्त्र मार्क्स और लोहिया से आगे', 'भूमंडलीकरण का भ्रष्टाचार' और 'सभ्यता का कचरा' को ले पाए हैं। सुनील के निधन के बाद कई जगह शोक सभाएं हुईं। कई साथियों ने इन सभाओं की रपट हमें भेजी लेकिन हम उन्हें अंक में नहीं दे पाए। संतोष है तो सिर्फ एक बात का और वह है 19-20 वर्ष की उमर में माता-पिता को लिखे गए सुनील के पत्र को छापने का। यह पत्र सुनील जैसा थे, वैसा ही उन्हें प्रकट करता है।

पाठकों को लेखों में कुछ बातों की दुहरावट मिलेगी; विश्लेषण का अभाव और महिमामंडन का दोष भी मिलेगा। सुनील को किसी भी व्यक्ति का महिमामंडन मंजूर न था। किसी भी प्रसंग में सफलता का सुनील को जब श्रेय दिया जाता तो वह पूरे जोर के साथ यह कहते थे कि आंदोलन की कोई भी सफलता व्यक्तिगत नहीं होती। सुनील की इस कसौटी पर चाहकर भी हम खरे नहीं उतर पाए हैं और यह हमारी अक्षमता का परिचायक है। दुहरावट को पाठक एक ही प्रसंग या घटना के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न विवरण

के रूप में देखेंगे तो उन्हें उसका (घटना या प्रसंग का) मर्म ज्यादा पकड़ में आएगा।

वार्ता मुख्यतः एक राजनीतिक पत्रिका है और एक राजनीतिक दल समाजवादी जन परिषद से जुड़ी है, जो विकास के चालू मॉडल और स्थापित राजनीतिक दलों की राजनीति को नकारकर विकास का एक वैकल्पिक समतामूलक मॉडल और वैकल्पिक राजनीति के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध है। सुनील इस प्रतिबद्धता का निर्वाह करते हुए वार्ता में सहमना संगठनों और व्यक्तियों के विचारों को स्थान देते रहे हैं ताकि बहस, विचार-विनिमय से संवाद स्थापित हो और वह अनवरत चलता रहे। हम सुनील जो बहस और संवाद चाहते थे उसे जारी रखने का भरपूर प्रयास करते रहेंगे।

सुनील के चले जाने के बाद इटारसी से वार्ता का प्रकाशन संभव नहीं रह गया है। जलपाईगुड़ी में इस मई को समाजवादी जन परिषद की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने बनारस के साथियों से परामर्श करने के बाद वार्ता को बनारस से प्रकाशित करने का निर्णय किया है। यह हमारा सौभाग्य है कि सच्चिदानंद सिन्हा ने संपादक मंडल का अध्यक्ष बनना मंजूर कर लिया है। उनके मार्ग-निर्देशन में वार्ता सुनील के रास्ते पर चलती रहेगी, यह आशा और विश्वास है। संपादक मंडल के अन्य सदस्य होंगे कमल बनर्जी, अशोक सेकसरिया, बाबा मायाराम, संजय भारती और चंचल मुखर्जी (संयोजक)।

इस अंक को तैयार करने में संजय भारती और शिउली वनजा ने विशेष सहयोग किया है। वार्ता चंद्रशेखर मिश्रा के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती है कि उन्होंने जिस लगन और प्रतिबद्धता से प्रबंध का भार संभाला उससे सुनील को प्रबंध की चिंता नहीं करनी पड़ी।

हम यह आशा करते हैं कि वार्ता के पाठकों और ग्राहकों का हमें पहले की तरह सहयोग व समर्थन मिलता रहेगा। और वार्ता एक वैकल्पिक राजनीति का मार्ग प्रशस्त करते हुए मौजूदा समाज की सारी विषमताओं से मुक्त एक समतामूलक समाज की स्थापना करने की दिशा में आगे बढ़ती रहेगी।



मम्मी-बाबूजी को पत्र

युवावस्था में सुनील का अपने माता-पिता को लिखा गया यह पत्र एक प्रकार से उनके आगे के जीवन का घोषणापत्र माना जा सकता है। सुनील को जाननेवाले यह देख-समझ सकते हैं कि मृत्युपर्यंत सुनील बीज रूप में वही रहे जो वह हुआ करते थे। इस पत्र में भारतीय मध्यवर्ग के 'सपनों के जीवन' के प्रति अवज्ञा का भाव है, लेकिन वह इतना 'सविनय' है कि साधारण जीवन में और 'क्रांति' की राह पर चलनेवालों को विनय की सीख देता है। माता-पिता को लिखे गए दुनिया के श्रेष्ठ पत्रों में यह एक माना जाएगा।

आदरणीय मम्मी एवं बाबूजी,
सादर चरणस्पर्श।

3 अप्रैल 1980 रात्रि
नई दिल्ली जनेवि

के झुकाव और प्रवृत्तियों को बताया था।

मैं खुद का आत्मावलोकन करके यह देखने की कोशिश कर रहा हूँ कि वे कौन सी बातें हैं, मेरे कौन से काम हैं जिनसे मैं आपकी उम्मीदों के प्रतिकूल जा रहा हूँ, जिनसे मैं सुधरा नहीं, बड़े लड़के के कर्तव्य पूरे नहीं कर पाया और पहले वाला सुनील नहीं रहा कोई दूसरा सुनील बन गया। जहां तक मैं सोच पाया, आपकी मुझसे निम्न शिकायतें / अपेक्षाएं हो सकती हैं-

आप दोनों के अलग-अलग पत्र मिले। पढ़कर बहुत दुख हुआ। आपके हृदय की भावनाओं को मैंने चोट पहुंचाई। विशेषकर मम्मी के पत्र से लगा कि मम्मी बहुत नाराज है।

किंतु मैं समझ नहीं पाया कि मैंने ऐसा क्या लिखा जो आप दोनों की चिंता व क्षोभ का कारण बना। मैंने पत्र में अपने मन की 3 इच्छाएं प्रगट की थीं-

1) पढ़ाई में अब मेरी रुचि और नहीं है तथा एमए के बाद पढ़ाई जारी रखने की इच्छा मेरी कम है (एमए की पढ़ाई तो मैं कर ही रहा हूँ)।

2) मैं कहीं गांव में जाकर काम करना चाहता हूँ।

3) छुट्टियों में बंगलौर सम्मेलन व कुछ अन्य जगह जाना चाहता हूँ।

मैंने ये कोई 'निर्णय' नहीं लिए थे, केवल अपने मन

1) मैं पीएचडी करूँ, अच्छी सी नौकरी करूँ, खूब पैसा व सम्मान कमाऊँ, सुख से रहूँ। किसी शहर / महानगर में रहूँ, गांव में न रहूँ (क्योंकि गांव का जीवन कष्टमय है)।

2) मैं अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखूँ, अपने शरीर को कष्ट न दूँ, अपने मम्मी-बाबूजी को इस बारे में चिंता का मौका न दूँ।

3) अधिक समय घर पर बिताऊँ, नियमित पत्र डालूँ, घर-परिवार को भुला न दूँ, घर की जिम्मेदारियों में हाथ बटाऊँ।

इसके लिए मेरे जवाब व तर्क इस प्रकार हैं-

1) जब मैं पिछले पत्र में गांवों में जाने की बात कर रहा था तो मैं कहीं काले पानी में नहीं जा रहा था, या सब कुछ छोड़-छाड़कर 'संन्यासी' नहीं बनने जा रहा था (जैसी कि मम्मी अक्सर कल्पना किया करती हैं)। मैं अपना कार्यक्षेत्र जरूरी नहीं कि कहीं सुदूर ही चुनूं- एकलिंगपुरा, रामपुरा या आसपास भी चुन सकता हूं। उस स्थिति में तो मैं ज्यादा समय आपके पास रह सकूंगा, घर-परिवार के साथ ज्यादा समय बिता सकूंगा, घर की जिम्मेदारियों में ज्यादा हाथ बटा सकूंगा, बजाय तबके जबकि मैं किसी महानगर में नौकरी करूं।

2) यदि आप यह सोच रहे हैं कि गांव के जीवन का मतलब कष्टमय जीवन है (उससे मैं अपना शरीर चौपट कर लूंगा) तो यह सोचना अंशतः ही सही है। बल्कि मैं ठीक विपरीत सोचता हूं। यह ठीक है कि गांव में आधुनिक सुविधाएं व विलासताएं उपलब्ध नहीं होतीं, जो शहर में होती हैं, लेकिन इन सुविधाओं की क्या कीमत हमें चुकानी पड़ती है? पिछले कुछ दिनों से शहर की जिंदगी के प्रति जुगुप्सा मेरे मन में भरती जा रही है। यहां जो पानी हम पीते हैं वह यमुना से आता है जिसमें शहर भर की सारी गंदगी (गू-मूत्र आदि) जाकर मिलती है; जिस हवा में हम सांस लेते हैं वह जहरीले धुंए से भरपूर होती है। शोर-शराबा इतना होता है कि कुछ सालों बाद आदमी ऊंचा सुनने लगता है। दिनचर्या अधिकांशतः कृत्रिम प्रकाश में गुजरती है और आंखें प्राकृतिक रोशनी खोने लगती हैं। जो खाद्य सामग्री बाजार में मिलती है उसमें पता नहीं कितनी मिलावट होती है, रासायनिक रंगों के रूप में धीमा जहर उसमें होता है। जिस डबलरोटी को हमें खाना पड़ता है, वह इतने गंदे व घृणित ढंग से तैयार की जाती है यह देख लें तो फिर कभी खा न पावें। सब्जियां, फल, दूध हमेशा बासी मिलते हैं और कीटाणुओं से युक्त होते हैं। शहर की जिंदगी भीड़ से भरी होती है; बसों विशेषकर गर्मी में, इतनी टूंस-टूंसकर भरी होती है कि भट्टी बन जाती हैं- नर्क की जिंदगी है यहां की- नर्क जो ऊपर से आकर्षित दिखाई देता है, जो शुरू में स्वर्ग दिखाई देता है। इन्हीं सब कारणों से मैं गांव के खुले वातावरण में जीना चाहता हूं।

यह मत सोचिएगा कि मैं कुछ इधर से, कुछ उधर से जोड़-तोड़ के तर्क जुटा रहा हूं। मैंने इस पर गहराई से, दीर्घकाल की दृष्टि से, सोचा है और महसूस किया है।

3) मैंने यह तर्क पूर्णतया व्यक्तिगत स्वार्थ को दृष्टिगत रखकर दिया है, देश समाज की बात मैं नहीं कर रहा हूं (थोड़ी देर

के लिए मैं यह मान लेता हूं कि मैं देश की गरीबी, देश की समस्याओं को दूर नहीं कर सकता 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता'। यह मेरा अपना तर्क है; निःसंदेह आपके भी अपने तर्क होंगे। मैं बाबूजी की इस बात से सहमत हूं कि इस पर काफी विचार-विमर्श की जरूरत है। इस विचार-विमर्श से जो विवेकपूर्ण रास्ता हो, वह निकाला जा सकता है। मैं कोई मनमानी करने नहीं जा रहा हूं, जैसा कि मम्मी ने आशंका प्रगट की है। यदि आप मुझे सहमत कर सकें, यदि आपके तर्क सही हुए तो मैं आपके बताए रास्ते पर चलूंगा।

4) एमए की पढ़ाई कुछ ऐसी है कि केवल तभी समय मिल पाता है, जब छुट्टियां हों। चूंकि बंगलौर सम्मेलन इस बार छुट्टियों में हो रहा है और नए संगठन की स्थापना का सम्मेलन होने से यह काफी महत्वपूर्ण है, इसलिए इसमें भाग लेने की मेरी इच्छा थी। लेकिन इसका मतलब यह तो कतई नहीं है कि मैं घर नहीं आ रहा था या मैंने घर से नाता तोड़ लिया है। बंगलौर सम्मेलन की तिथि अभी पूर्णतः निश्चित नहीं हुई है। यदि जून में होगा तो परीक्षाएं खतम होने के बाद, कुछ काम निपटा के मैं घर आ रहा हूं। यदि मई में हुआ तो बंगलौर से लौटकर घर आने की मेरी योजना थी। फिर आप जैसा कहें। यदि आप चाहें तो मैं बंगलौर जाना स्थगित कर सकता हूं।

5) मम्मी की बहुत सी नाराजगी, जो काफी समय से इकट्ठा हो रही है, मेरे स्वास्थ्य व 'शरीर को कष्ट देने' की मेरी 'सनकी आदतों' के बारे में है। मम्मी के अनुसार मैंने 'अपने शरीर का सर्वनाश कर दिया है।' इस बारे में मुझे कहना है - मैं पिछले कई महीनों से गंदे पर सो रहा हूं। - मैं पिछले कई माह से आधा किलो दूध पी रहा हूं (कभी देर हो जाने पर नहीं मिल पाता, वह अलग बात है), जितना रामपुरा में कभी नहीं पीता था।

- फल, पिछले 2 माह से रोजाना 1 संतरा या 1 केला खरीदकर खा रहा हूं (मेस में जो मिलते हैं उसके अतिरिक्त)।

- ठंड में पर्याप्त कपड़े न पहनने या ओढ़ने की शिकायत भी गलत है। पिछले एक वर्ष से मुझे ज्यादा जुकाम हुआ हो, यह भी मुझे याद नहीं पड़ता, बुखार की बात तो छोड़ ही दें।

रामपुरा में मेरा जो स्वास्थ्य था, उसकी तुलना में मेरा काफी अच्छा स्वास्थ्य यहां है। आपकी देखरेख में जब मेरा शरीर था, उससे अच्छा शरीर अब है जब मैं अपने ढंग

से उसकी देखभाल कर रहा हूँ। मुझे कभी सिरदर्द नहीं होता। मैं अन्य लड़कों की अपेक्षा ज्यादा पैदल चल सकता हूँ। मैं फरवरी में ठंडे पानी से नहा सकता हूँ (जनवरी में नहीं)।

फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरा स्वास्थ्य पूर्ण संतोषजनक नहीं है। लेकिन यदि कोई आदमी दिन भर पढाई का काम करता रहे, शारीरिक काम बिल्कुल न करे तो उसका शरीर कैसे सबल होगा ? इसलिए यदि शैक्षणिक जगत से हटकर गांव में राजनीति, संगठन के कार्यक्षेत्र में जाने की अनुमति आप मुझे देते हैं, तो मेरा शरीर अधिक स्वस्थ, सशक्त बन सकेगा। लेकिन यह बात मन से निकाल दीजिए कि मैं अपने शरीर को कष्ट दे रहा हूँ। मेरे स्वास्थ्य के बारे में चिंतित होने जैसी कोई बात नहीं है।

6) मैं जानता हूँ कि मम्मी अक्सर आश्चर्य करती है, अपनी किस्मत को कोसती है कि क्यों मुझमें 'पागलपन' के इतने लक्षण हैं? क्यों मैं एक सामान्य आदमी नहीं बन सका ? क्यों मैं औरों जैसा नहीं बन सका ? यदि यही मम्मी की सबसे बड़ी आकांक्षा है कि मैं एक सामान्य औसत बेटा बनकर औसत जिंदगी जिऊं तो मैं इसके लिए अपनी आकांक्षाओं का त्याग करने के लिए तैयार हूँ। लेकिन एक सामान्य आदमी की जिंदगी सीमित व संकीर्ण उद्देश्यों के लिए होती है। प्रतिस्पर्धा, चिंता, द्वेष, कलह, झगड़ों व दुखों से भरपूर होती है, पूरी जिंदगी बीमारियों व अस्पतालों के चक्कर में बीतती है- यदि ऐसी सामान्य जिंदगी से अलग बनने की मेरी आकांक्षा है तो उसमें गलत क्या है ?

मैं उस दिन का इंतजार कर रहा हूँ जब मेरे मम्मी-बाबूजी को इस बात का फक्र होगा कि उनका बेटा अपनी जिंदगी की राह अलग बनाना चाहता है, एक स्वतंत्र राह पर चलना चाहता है, बनी-बनाई लीक पर नहीं।

7) मैं फिर से इस बात को जोर देकर कहना चाहता हूँ कि मैंने अभी कोई निर्णय नहीं लिया है (और न लेना चाहता हूँ आपकी असहमति के बगैर)। मैं विभिन्न विकल्पों के बारे में सोच रहा हूँ और विभिन्न लोगों की सलाह ले रहा हूँ-

सतीश जैन- चूँकि मुझे अभी गांव में काम करने का अनुभव नहीं है इसलिए पीएचडी तो करना ही चाहिए और इस दौरान साथ-साथ अनुभव अर्जित करना चाहिए।

चेंगल रेड्डी और जसबीर सिंह- वही।

संतोष भारती- मुझे पीएचडी करना चाहिए।

कृष्णमूर्ति (35 वर्षीय युवक जिसने अपना समृद्ध निर्यात व्यापार छोड़कर जीवनदान दे दिया और जो अब बिहार के भोजपुर जिले में बरसी गांव में जाकर संगठनात्मक

व रचनात्मक काम कर रहा है।

-यदि मैं समझता हूँ कि मैं गांव में जाकर कुछ सार्थक काम कर सकता हूँ तो मुझे उसमें लग जाना चाहिए। अनुभव करने से ही आता है तथा हर आदमी अपनी लीक स्वयं बनाता है।

विजयप्रताप (दिल्ली के एक वरिष्ठ कार्यकर्ता)- मैं चाहूँ तो दिल्ली के गांवों में काम कर सकता हूँ या राजस्थान में। इसके लिए मैं कोई नौकरी कर सकता हूँ, प्रोजेक्ट पर काम कर सकता हूँ या पीएचडी का विषय ऐसा चुन सकता हूँ जिसमें गांवों में फील्डवर्क हो।

कृष्णास्वामी (गांधी शांति प्रतिष्ठान)- यदि मैं चाहूँ तो कुछ वित्तीय मदद वे दे सकते हैं।

बहरहाल, मैंने अभी अपने सब विकल्प खुले रखे हैं। मैं कृष्णमूर्ति भी बन सकता हूँ, विजयप्रताप भी बन सकता हूँ, और डा. राधाकृष्ण या डा. मिनोचा भी बन सकता हूँ (मुझे आशा है डा. विष्णुदत्त नागर बनने के लिए आप मुझे नहीं कहेंगे)।

मेरी एंड-सेमेस्टर परीक्षाएं 29 अप्रैल से प्रारंभ होकर 9 मई को खतम हो रही हैं। आजकल मैं अपना पूरा समय पढाई में लगा रहा हूँ।

परीक्षाओं के बाद यहां मुझे कुछ लोगों से मिलना है। राजघाट के पास गांधी संग्राहलय के बगल में गंदी हरिजन बस्ती की एक रिपोर्टिंग करके 'मठी गांधीवाद के विरोधाभास' पर एक लेख लिखने और स्वामी सदाचारी नामक 'सब समस्याओं के हल' का दावा करनेवाले एक स्वामी की पोल खोलनेवाली रिपोर्टिंग दिनमान के लिए करनी की योजना है।

दिनमान के स्लेट-पेंसिल उद्योग वाले लेख का पारिश्रमिक (250 रु. लेख + 120 रु. फोटो) आ गया है। इसलिए पैसों की और जरूरत नहीं पड़ेगी। अभी संवाद प्रतियोगिता का पुरस्कार एवं अन्य रिपोर्टिंग का पारिश्रमिक आना शेष है।

सोमू भाई के स्कूल फिर से चालू होने की खबर सुनकर तरस आया। तनिक भी छुटकारा नहीं मिला उसे पढाई से। मेरी सहानुभूति है उसके साथ।

शेष ठीक। अनिल आईआईटी की प्रवेश परीक्षा में बैठ रहा है। आपका पहले एक पत्र स्कॉलरशिप की सूचना के साथ मिल गया था।

आपका

सुनील

(वही जो पहले हुआ करता था)

सबसे प्रतिभाशाली प्रतिबद्ध समाजवादी

सच्चिदानंद सिन्हा

आंदोलनों में विचारों को व्यक्तियों से अलग कर नहीं परखा जा सकता। अगर ऐसा होता तो एक ही विचार मार्क्सवाद से फूटे दरजनों समूहों की विविधता के उत्स को समझना असंभव हो जाता। आज भारत की अत्यंत छोटी, लेकिन सबसे प्रखर समाजवादी धारा, समाजवादी जन परिषद को दिशा देने और हाल के चौतरफा आघात के बीच जीवित रखने में अगर किसी एक व्यक्ति की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रही है तो वह व्यक्ति पार्टी के महामंत्री सुनील थे। इस चुनौतीपूर्ण दौर में पार्टी के महामंत्री पद के साथ-साथ 'सामयिक वार्ता' के संपादक का बोझ भी उन पर था। पिछले कुछ दिनों से अपने दायित्व की चिंता उन पर पागलपन की तरह सवार थी। इस काल में वे लगातार देश के एक भाग से दूसरे भाग तक यात्राएं करते रहे, इस हद तक कि उनको फोन करने पर वे प्रायः किसी स्टेशन या चलती गाड़ी में यात्रा करते पाए जाते।

भेड़चाल सुविधाजनक होती है। उसमें दिल और दिमाग पर बोझ नहीं पड़ता। लेकिन सुनील ने सुविधा की राह छोड़ स्वयं ही अपनी राह बनाने का संकल्प छात्र-जीवन से ही ले रखा था। प्रचलित फैशन के प्रति उनकी लापरवाही का नमूना मुझे तब देखने को मिला जब, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जनेवि) में समाजवादी छात्रों की किसी बैठक में मेरा जाना हुआ था। मुझे हॉस्टल के एक छात्र के कमरे में बैठाया गया। सामने कमरे की दीवार पर हाथ से साफ अक्षरों में लिखा एक पोस्टर सटा था 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय, ढाई आखर आंगल का पढ़े सो पंडित होय,' यह कटाक्ष था जनेवि के उस समय के भाषाई माहौल पर।

उस समय जनेवि में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के विद्यार्थी संगठन एसएफआई का बोलबाला था और वहां के छात्र संघ पर उन्हीं का कब्जा था। अक्सर मजाक में चर्चा होती थी कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) का देश के चार राज्यों में शासन है - त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल, केरल और जनेवि में। अंगरेजी का दबदबा तो वहां था ही दूसरी जगहों की तरह वहां भी लिबास में प्रायः

शर्ट-पैंट का प्रचलन था। लेकिन सुनील न सिर्फ भाषा के मामले में स्वदेशी के आग्रही थे बल्कि भूषा में भी स्वदेशी खादी के कुरते-पायजामे में ही रहते थे।

यह जानना दिलचस्प है कि सुनील और उनके सहयोगी समाजवादी छात्र जसबीर सिंह, चेंगल रेड्डी, नलिनी रंजन मोहंती, लक्ष्मण होता आदि के प्रयास से छात्र संघ के अगले निर्वाचन में माकपा का वर्चस्व इस चौथे राज्य से खतम हुआ और समता युवजन सभा के नलिनी रंजन मोहंती छात्र संघ के अध्यक्ष चुने गए। वैसे इस घटना का विशेष महत्व नहीं है, लेकिन यह सुनील और उनके समाजवादी सहयोगियों का विपरीत माहौल में अपने सिद्धांतों को लेकर सक्रिय रहने का अच्छा नमूना है। 1980 में समता संगठन बनाने की प्रक्रिया में सुनील, जसबीर सिंह, चेंगल रेड्डी आदि का महत्वपूर्ण योगदान था। उनकी सक्रियता का दायरा विश्वविद्यालय के परिसर से बाहर दिल्ली के दूसरे भागों में फैल गया। दिल्ली में 1982 में 'एशियाई खेलों' के आयोजन पर भारी खर्च होने लगा तो उसके खिलाफ प्रदर्शन आयोजित करने में सुनील की महत्वपूर्ण भागीदारी रही। इस आयोजन में भविष्य में होनेवाले राष्ट्रमंडलीय खेलों की फिजूलखर्ची और भ्रष्टाचार का पूर्वाभास देखा जा सकता था। इन्हीं दिनों सुनील, जसबीर सिंह और चेंगल रेड्डी के प्रयास से एक अंगरेजी मासिक पत्रिका 'समता एरा' का प्रकाशन शुरू हुआ, जिसके संपादक चेंगल रेड्डी थे। इन्हीं तीनों के प्रयास से 1984 में एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'फिफ्टी इयर्स ऑफ सोशलिस्ट मूवमेंट' प्रकाशित हुई। चेंगल का ही नाम पुस्तक से संपादक के रूप में दिया गया, हालांकि काम पूरी टीम का था। इसमें इन्हें नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी के रिसर्च एवं प्रकाशन के प्रधान डॉ. हरिदेव शर्मा का पूरा सहयोग मिला। यह छोटी सी पुस्तक भारत के समाजवादी आंदोलन के पूरे परिप्रेक्ष्य को समझने के खयाल से शायद अद्वितीय है।

1980 में समता संगठन के बनने के बाद से एक लड़की उसमें सदा सक्रिय रही। वह लड़की थी स्मिता।

मुंबई के एक उच्च मध्यमवर्गीय परिवार की अंगरेजी माध्यम से पढ़ी यह लड़की, पत्रकारिता करने के लिए दिल्ली आई थी और विज्ञान व पर्यावरण की एक पत्रिका से जुड़ी थी। लेकिन वह लगभग पूरा समय समता संगठन की गतिविधियों में देने लगी। वह पिता की सबसे बड़ी संतान थी। चिंतित हो पिता ने लिखा- 'तुम्हारी प्राथमिकता तुम्हारा केरियर होना चाहिए।' लड़की का जवाब था- 'मैंने अपनी प्राथमिकता तय कर ली है। मेरी प्राथमिकता समता संगठन है।' 'फिफ्टी इयर्स ऑफ सोशलिस्ट मूवमेंट' के लिए 'समता एरा' टीम ने मधु लिमये का जो इंटरव्यू लिया था उसे लिपिबद्ध स्मिता ने ही किया था। 1984 के सिख विरोधी दंगों के खिलाफ अभियान के क्रम में जब सुनील, जसबीर आदि ने दिल्ली से अमृतसर की पदयात्रा का आयोजन किया तो उस पदयात्रा में यह लड़की भी शामिल हुई। इन बातों का उल्लेख जरूरी लगता है क्योंकि स्मिता बाद में सुनील की पत्नी बनी और होशंगाबाद के आदिवासियों के बीच काम करने के संकल्प में वह पूरी तरह सुनील के साथ थी। और उसने बिना किसी शिकवा-शिकायत के आदिवासियों का सादगी भरा और कठिन जीवन अपना लिया था। प्रायः सुनील की गैरहाजिरी में संगठन के काम को सहेजने की जिम्मेदारी भी वह उठाती थी।

सुनील उस साइकिल यात्रा में भी शामिल थे, जो असम के छात्र आंदोलन के समर्थन में निकाली गई थी और जिसका नेतृत्व जसबीर कर रहे थे। ये लोग साइकिल से दिल्ली से चलकर असम की सीमा तक गए, जहां से आगे बढ़ने पर रोक लगा दी गई। साइकिल यात्रा में उत्तर बंगाल में इनका संपर्क उत्तर बंग तपसीली और जन जातीय संगठन 'उत्साह' के नेता जुगल किशोर रायबीर से हुआ, जो बाद में समाजवादी जन परिषद के स्थापना सम्मलेन में पार्टी के प्रथम अध्यक्ष बने।

सुनील के राजनीतिक जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय तब शुरू हुआ जब वह इटारसी के साथी राजनारायण के सुझाव पर होशंगाबाद जिले के केसला में आदिवासियों के बीच काम करने लगे। उस समय सुनील और साथियों ने

केसला से लगभग पांच मील दूर घने जंगल के बीच सहेली गांव में काम करना शुरू किया। हरियाणा के एक डॉक्टर ने, जो वहां जंगल के एक बड़े इलाके के मालिक थे, सुनील और उनके साथियों को लगभग 5 एकड़ जमीन दी। इसमें एक कुआं था और खेती लायक जमीन थी। यहां सामुदायिक जीवन का प्रयोग शुरू हुआ। इसमें सुनील, स्मिता, दिल्ली के एक साथी सुरेन्द्र झा और उनकी पत्नी तथा राजनारायण के परिवार के एक-दो सदस्य शामिल हुए। खेती के अलावा रहने के लिए ईंटें जोड़कर आवास बनाने का काम भी इन लोगों ने खुद करना शुरू किया। लेकिन जमीन की मिल्कियत को सहयोगी संस्था के नाम करने का मुद्दा देर तक लटका रह गया और अंततः विवाद के कारण सुनील ने सहेली छोड़ केसला में आकर वहीं से काम करने का फैसला किया। इसी काल में किसान आदिवासी संगठन

खड़ा किया गया। धीरे-धीरे पास पड़ोस के आदिवासी इस संगठन से जुड़ने लगे।

इसके बाद का काल सुनील की सबसे महत्वपूर्ण सांगठनिक उपलब्धियों का है। सुनील के सामने तवा नदी पर बांध बनने से विस्थापित हुए आदिवासियों के पुनर्वास और आजीविका की लड़ाई का नेतृत्व करने की चुनौती आ गई। सुनील और उनके साथियों ने यह मांग उठाई कि तवा पर बांध बनने से

विस्थापित आदिवासियों को तवा जलाशय में, जिसमें उनके गांव और खेत डूब गए थे, मछली मारने का अधिकार प्राप्त हो, जिससे वे अपनी आजीविका चला सकें। यह मांग जितनी न्यायपूर्ण थी, प्रशासन का जनविरोधी दृष्टिकोण उतना ही हठी था। अंततः आदिवासियों ने सुनील और उनके समाजवादी साथियों के नेतृत्व में संघर्ष का रास्ता अपनाया। लंबे संघर्ष के बाद, जिसमें सुनील और साथियों को चोटें आईं और जेल भी जाना पड़ा, प्रशासन ने विस्थापित आदिवासियों को जलाशय में मत्स्य पालन और डूब क्षेत्र में खेती करने की अनुमति दे दी।

जलाशय के किनारे के लगभग दो दर्जन गांवों में विस्थापित आदिवासियों की मत्स्य पालन सहकारी समितियां बनाई गईं और इन सोसाइटियों का एक संघ 'तवा विस्थापित

सुनील के सोच पर समकालीनों में सबसे ज्यादा प्रभाव शंकर गुहा नियोगी का था- उनके संघर्ष और रचना को जोड़ कर चलने के आग्रह का। इसको सुनील लोहिया के 'वोट, फावड़ा जेल' के सूत्र से जोड़ते थे और इन सबकी पार्श्वभूमि में था गांधी के विचारों का प्रभाव, जिसकी गहरी छाप सुनील के व्यक्तित्व पर थी।

आदिवासी मत्स्य संघ बनाया गया।' मत्स्य पालन आदिवासियों का परंपरागत पेशा नहीं था। वे तो मूलतः कृषि और पशुपालन की परंपरा से परिचित थे लेकिन उन्हें न सिर्फ मत्स्य पालन और मछली पकड़ने की ट्रेनिंग दी गई बल्कि नौका खेने, नौकाओं में डीजल इंजन लगाने की ट्रेनिंग भी दी गई। साथ ही बरफ डालकर पैकेजिंग कर मछलियों को 20 किलोमीटर दूर इटारसी से ट्रेन द्वारा देश के विभिन्न विक्रय केंद्रों तक एक समय सीमा के भीतर पहुंचाने की क्षमता का भी विकास किया गया। इसमें आदिवासी महिलाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी, विशेषकर पैकेजिंग में। सब कुछ इतना व्यवस्थित था कि मैनेजमेंट गुरुओं को भी विस्मय में डाल दे। जाहिर है यह सब अपने आप नहीं हुआ। सुनील ने देश के कुछ प्रसिद्ध लोगों का सहयोग इसके लिए लिया। उनके सलाहकारों में गजानन खातू (जो 'अपना बाजार' मुंबई के महा प्रबंधक रह चुके थे) और वयोवृद्ध समाजवादी बगाराम तुलपुले (जिनको मुंबई के वस्त्र उद्योग को पुनर्जीवित करने के प्रयासों का अनुभव था) जैसे लोग थे। तवा मत्स्य संघ की आय सवा करोड़ रुपए सालाना तक पार कर गई थीं। मध्यप्रदेश मत्स्य महासंघ को भी भारी रॉयल्टी का भुगतान किया जाता रहा। सबसे बढ़कर, आदिवासियों की राजनीतिक चेतना का एक नया केंद्र उभर रहा था। यह स्थापित राजनीति के लिए एक बड़ी चुनौती की बात थी। अतः

इसे खतम करने का एक नया बहाना खोज निकाला गया। कहा गया कि तवा जलाशय सतपुड़ा टाइगर अभ्यारण्य का हिस्सा है और मत्स्य पालन एवं डूब क्षेत्र की खेती से वन्य प्राणियों के जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। यही बहाना बनाकर तवा जलाशय के इर्द गिर्द आदिवासी जीवन को संवारने के इस अद्भुत प्रयोग को प्रतिबंधित कर दिया गया। लगभग महीने भर अलग-अलग गावों के आदिवासी होशंगाबाद में वन विभाग के कार्यालय पर धरना देते रहे। लेकिन सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा। दरअसल सरकार का फैसला जन चेतना के इस उभरते केंद्र को नष्ट करने की

एक सोची-समझी रणनीति का हिस्सा था।

सुनील की आदिवासियों के बीच सक्रियता जारी रही। सुनील की सोच पर समकालीनों में सबसे ज्यादा प्रभाव शंकर गुहा नियोगी का था- उनके संघर्ष और रचना को जोड़ कर चलने के आग्रह का। इसको सुनील लोहिया के 'वोट, फावड़ा जेल' के सूत्र से जोड़ते थे। इन सबकी पार्श्वभूमि में था गांधी के विचारों का प्रभाव, जिसकी गहरी छाप सुनील के व्यक्तित्व पर थी। साथ ही सुनील की प्रखर बौद्धिकता जो सदा विचारों को एक छोटे सूत्र से बाहर ला संसार के बदलते परिदृश्य से जोड़ती थी। सुनील लगातार वैश्विक पूंजीवाद की नीतियों और तैवरों के आलोचक बने रहे। अर्थशास्त्र की गहरी पकड़ ने

वैश्वीकरण और पूंजीवाद पर लिखे गए उनके लेखों को विलक्षण पैनापन दिया।

ईश्वरी प्रसाद के संपादन में 1993 में एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'भारत का किसान आन्दोलन' प्रकाशित हुई। यह पुस्तक उस समय वाम पंथ और दक्षिण पंथ दोनों में प्रचलित इस मिथक को तोड़ने का एक प्रयास थी कि किसानों को जरूरत से ज्यादा रियायतें दे संपन्न किसानों का एक समूह तैयार किया जा रहा है; यह भी कि किसानों को अनुदान देना देश की अर्थव्यवस्था पर बड़ा बोझ है। इस पुस्तक में दो लेख सुनील के थे, अनुदान का व्यापक परिप्रेक्ष्य और कर्ज माफी की असलियत। इन दो लेखों में

*सुनील ने लिखा- 'वैश्वीकरण-
निजीकरण-बाजारीकरण-
कंपनीकरण-उदारीकरण की नीतियों
ने पिछले दो दशकों में भ्रष्टाचार की
समस्या को विकराल रूप दे दिया है।
नीति में खोट और नीयत में खोट का
एक नया मेल बना है जो भारत के
ऊपर कहर ढा रहा है। यह कहा जा
सकता है कि भ्रष्टाचार आधुनिक
विकास पद्धति में निहित है... यदि
भ्रष्टाचार की बीमारी इतनी गहरी है तो
महज कानून बनाने से काम नहीं
चलेगा... नीति परिवर्तन और
व्यवस्था परिवर्तन के अभाव में अच्छे
कानून भी बेकार हो जाते हैं... ।'*

उन बुनियादी सवालों को उठाया गया था जो विश्व व्यापार संगठन के दबाव में अब खुलकर सामने आने लगे हैं। उनके लेखों से उन स्थितियों की स्पष्ट समझ बनती है जिसके कारण आज बड़ी संख्या में किसान आत्महत्या कर रहे हैं। इस गहरी समझ के पीछे एक अर्थशास्त्री के व्यापक ज्ञान के साथ किसान आदिवासी संगठन से जुड़े रहने का दैनन्दिन अनुभव भी था।

सुनील के सबसे महत्वपूर्ण लेख विदेशी कर्ज के परिणामों और तथाकथित उदारीकरण की नीतियों पर केंद्रित हैं। अरविंद मोहन के संपादन में 1992 में प्रकाशित पुस्तक

‘गुलामी का खतरा’ में सुनील का एक लेख ‘कर्ज का फंदा और तीसरी दुनिया’ प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक का प्रकाशन उस समय प्रचलित मान्यता के विपरीत पड़ता था और सुनील का लेख विदेशी सहायता के लिए लालायित लोगों के लिए आंखें खोलने वाला था। इस लेख में फिलिपीन्स, युगोस्लाविया, ब्राजील, चिली और भारत के उदाहरणों से यह स्पष्ट किया गया था कि कैसे विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की नीतियों और उपनीतियों से इन देशों की अर्थव्यवस्था परावलंबी और अर्ध गुलामी की बन जाएगी।

इसके बाद सुनील ने 2001 और 2003 में अपनी पुस्तिकाएं- ‘उदारीकरण का असली चेहरा’ और ‘विश्व व्यापार संगठन’ में इस विषय को और विस्तृत आयाम दिया। इस बीच समान शिक्षा नीति के समर्थन में सुनील शिक्षाशास्त्री अनिल सद्गोपाल की मुहिम से जुड़े। हमारे देश में उपदेशक

कर भ्रष्टाचार की बुनियाद को समझाने का प्रयास किया गया था। सुनील ने लिखा- ‘वैश्वीकरण-निजीकरण-बाजारीकरण-कंपनीकरण-उदारीकरण की नीतियों ने पिछले दो दशकों में भ्रष्टाचार की समस्या को विकराल रूप दे दिया है। नीति में खोट और नीयत में खोट का एक नया मेल बना है जो भारत के ऊपर कहर ढा रहा है। यह कहा जा सकता है कि भ्रष्टाचार आधुनिक विकास पद्धति में निहित है ... यदि भ्रष्टाचार की बीमारी इतनी गहरी है तो महज कानून बनाने से काम नहीं चलेगा ... नीति परिवर्तन और व्यवस्था परिवर्तन के अभाव में अच्छे कानून भी बेकार हो जाते हैं ...’।

जब इस तरह की समझ के अभाव में समाजवादी जन परिषद के वरिष्ठ साथी, सिर्फ भ्रष्टाचार को मुद्दा बनाकर चलनेवाली ‘आम आदमी पार्टी’ में शामिल होने लगे तो सुनील को गहरा धक्का लगा। समाजवादी जन परिषद के महामंत्री होने के नाते, यह उनकी विशेष जवाबदेही बनती



बड़ी गंभीरता से उपदेश तो देते हैं लेकिन खुद को उनके पालन से मुक्त रखते हैं; दूसरों को उपदेश देकर ही वे अपने कर्तव्य का निर्वाह कर लेते हैं। लेकिन सुनील के साथ समान शिक्षा की बात एक गहरी प्रतिबद्धता का प्रतिफल थी। उनके अपने बच्चे उन्हीं प्राथमिक शालाओं में पढ़े जहां आदिवासी बच्चे पढ़ते थे। आदर्शों के प्रति यह लगाव ही शायद अंत में उनकी मृत्यु का कारण भी था।

अन्ना हजारे आन्दोलन के संदर्भ में जब भ्रष्टाचार ही सबसे अधिक चर्चा का विषय बन गया था तब सुनील ने भ्रष्टाचार की व्यवस्थित मीमांसा करते हुए एक पुस्तक लिखी ‘भ्रष्टाचार को कैसे समझें’। इसमें वैचारिक धुंध से निकल

थी कि बौद्धिक लापरवाही या जल्दी सत्ता में पहुंचने के लोभ से पैदा ‘आप’ की तरफ होनेवाले पलायन को रोकें। स्वार्थ का अपना तर्क और विवेक होता है, उसके सामने प्रायः सैद्धांतिक प्रतिबद्धता बौनी साबित होती है। इससे पैदा हुए पलायन को रोकने के लिए सुनील देश के एक छोर से दूसरे छोर तक दौरा करते रहे। इस दबाव के अलावा सामयिक वार्ता के संपादन की जवाबदेही, इस तरह स्थिति का बोझ असह्य होता गया। इन्हीं दबावों में हमारे समय का सबसे प्रतिभाशाली और प्रतिबद्ध समाजसेवी हमसे विदा हो गया। मृत्यु के समय सुनील की उम्र महज 54 वर्ष थी।

एक समर्पित कार्यकर्ता-नेता

जोशी जेकब

विचार और कर्म, दोनों में सुनीलजी समाजवादी जन परिषद के सबसे अधिक ऊर्जावान और कर्मठ नेता थे। पार्टी के आदर्शों और मूल्यों को उन्होंने अपने जीवन में इस तरह घुला-मिला लिया था कि हम यह कह सकें कि समाजवादी जन परिषद के आदर्शों और मूल्यों का प्रतिफलन उनके व्यक्तिगत जीवन में देखा जा सकता था। हमारी पार्टी में उनके जैसी तपस्या किसी और ने नहीं की। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जनेवि) में अर्थशास्त्र में पीएचडी (शोध) करने का विचार अधर में छोड़कर 1985 में युवा समाजवादी नेता राजनारायण के साथ मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में किसानों और आदिवासियों को संगठित करने और वैकल्पिक राजनीति के निर्माण के काम में सुनीलजी जुटे तो मृत्युपर्यंत जुटे रहे। 1990 में एक सड़क दुर्घटना में राजनारायण की मृत्यु हो गई। राजनारायण कोई ऐसे-वैसे साथी नहीं थे, ऐसे साथी थे, जिनके साथ सुनीलजी ने किसान-आदिवासियों के आंदोलन के दौरान पुलिस की लाठियों झेली थीं और साथ-साथ जेल काटी थी।

यह सुनीलजी का सौभाग्य था कि उन्हें स्मिताजी जैसी जीवन-संगिनी मिली, जिन्होंने एक प्रतिबद्ध राजनीतिक कर्मी के कष्टमय जीवन का वरण किया। 1995 में 'कृषि और किसान आंदोलन' पर आयोजित समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय शिविर में भाग लेने में सुनीलजी की कर्मभूमि केसला गया था तो मैंने सुनीलजी और स्मिताजी को अपनी दो संतानों शिउली वनजा और इकबाल अभिमन्यु के साथ मामूली सुविधाओं से भी असंपृक्त कष्टमय जीवन जीते हुए देखा। शिउली और इकबाल आदिवासी गांव में जनमे और वहीं बड़े हुए। दो वर्ष बाद अपने विवाह के कुछ दिनों पश्चात मैं अपनी पत्नी के साथ फिर केसला गया। समाजवादी जन परिषद के कार्यालय 'राजनारायण स्मृति भवन' से कुछ दूर सुनील के घर में मेरी पत्नी रही और मैं कार्यालय में रहा। मेरी पत्नी सुनीलजी और स्मिताजी के सरल और सादगी भरे जीवन से बहुत प्रभावित हुई थी और अक्सर केसला में बिताए दिनों की याद करती है।

सुनीलजी हर क्षण आदिवासियों के जीवन और उनकी

जीवनशैली से अपना तादात्म्य स्थापित करने की कोशिश करते रहते थे। उनमें उन सुख-सुविधाओं के प्रति, जो उन्हें अपनी प्रचंड मेधा और अकादमिक योग्यता के कारण सहज ही उपलब्ध हो सकती थीं, तनिक भी मोह और आकर्षण नहीं था। बहुत से ऐतिहासिक महापुरुषों की तरह उन्होंने समाज परिवर्तन के लिए कांटों भरी और पथरीली राह चुनी, जिसमें जेल यात्रा और निरंतर रेल यात्रा से छुटकारा न था। आज की धन लोलुप, पद लोलुप और प्रचार लोलुप राजनीति के वातावरण से प्रभावित हुए बिना हमारे देश में कोई सच्ची और वास्तविक राजनीति करना चाहेगा तो उसके आदर्श सुनीलजी जैसे व्यक्ति ही होंगे।

दो साल पहले की बात है। बिहार के एक कार्यक्रम के बाद मुझे और सुनीलजी को कलकत्ता जाना था। 1988 में एक छात्र के रूप में मुझे कई बार केरल के बाहर यात्राएं करनी पड़ी थीं। आरक्षण न मिलने के बावजूद की गई इन यात्राओं का मुझे अनुभव था और इसके चलते बिना आरक्षण के सफर से मैं बहुत घबराता हूं। लेकिन सुनीलजी ने कहा, हमें कलकत्ता पहुंचना है सो हम बिना आरक्षण के भी चलेंगे। रात के साढ़े दस बजे थे। हम एक स्लीपर कोच में घुसे। हम थककर चूर थे, लेटने की इच्छा प्रबल थी। दो बर्थों के बीच कहीं भी जगह खाली नहीं थी। कोच के फाटक के पास संकरी सी जगह पर सुनीलजी लेट गए और उन्होंने मुझे भी साथ लेट जाने को कहा। लेट तो मैं गया पर सहयात्रियों के जूतों और चप्पलों से शरीर को रौंदे जाने पर उठ बैठा और लेटने का विचार त्याग दिया। लेकिन सुनीलजी अविचल लेटे रहे। वह इस तरह की यात्राओं के अभ्यस्त थे। समाजवादी जन परिषद के एक राष्ट्रीय शिविर में किशन पटनायक ने एक बार कहा भी था कि सुनील अपने स्वास्थ्य का बिलकुल ध्यान न रखकर बहुत ज्यादा मेहनत और रेल-यात्राएं करता है।

सुनीलजी का सक्रिय राजनीतिक जीवन 1980 में समता संगठन से जुड़ने के साथ शुरू हुआ। जनेवि में समता संगठन की छात्र-युवा इकाई समता युवजन सभा की उनके नेतृत्व में सक्रियता और छात्र संघ चुनाव में शानदार सफलता के बारे में

मैं यहाँ नहीं लिख रहा। जनेवि में पढ़ने के दौरान सुनीलजी का सच्चिदानंद सिन्हा और किशन पटनायक से घनिष्ठ संबंध बना और इन दो समाजवादी चिंतकों के विचारों को उन्होंने किसी प्रकार की अंधभक्ति के बिना अपने विवेक से आत्मसात किया।

समता संगठन का उद्देश्य जनांदोलनों के माध्यम और समन्वय से वैकल्पिक राजनीति का विकास करना था। सुनीलजी यह मानने लगे थे कि देश की सभी स्थापित राजनीतिक पार्टियाँ निरर्थक (अप्रासंगिक) होती गई हैं और ऐसे में वैकल्पिक राजनीति के बिना आजादी के बाद जो राजनीति पनपी है वह निरंतर और अधिक जन विरोधी होती जाएगी। समता संगठन ने अपने 1980 से 1995 के जीवन में देश के प्रायः सभी जनांदोलनों किसान आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, गंध मार्दन आंदोलन, नियमगिरि आंदोलन आदि में शिरकत की या उनका समर्थन किया ताकि उनसे वैकल्पिक राजनीति का निर्माण हो सके। ओड़िशा में 1985 में गंध मार्दन पर्वत में बाक्साइट खनन के खिलाफ जो आंदोलन हुआ, उसमें समता संगठन की प्रमुख भूमिका थी। देश के प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा करने और आधुनिक औद्योगीकरण के चलते आदिवासियों के विस्थापन को रोकने के प्रश्नों को वैकल्पिक राजनीति से जोड़ने की दिशा में गंध मार्दन आंदोलन शायद पहला कदम था। लगभग इसी वक्त (1985) मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के केसला क्षेत्र में युवा समाजवादी राजनारायण के नेतृत्व में आदिवासियों का पानी आंदोलन शुरू हुआ। लोगों ने इस आंदोलन में मटके फोड़कर पानी के अभाव पर अपना रोष प्रकट किया था। सुनीलजी के मन में शायद सच्चिदानंद सिन्हा की पुस्तक 'इंटरनल कॉलोनी' (आंतरिक उपनिवेश) पढ़ने के दौरान यह खयाल आया हो कि वह किसी पिछड़े आदिवासी क्षेत्र में जाकर ही पूर्णकालिक सामाजिक राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में काम करेंगे। बहरहाल वह जनेवि में पीएचडी को अधूरी छोड़ केसला चले आए और मृत्युपर्यंत वहीं रहे 29 साल की इस दीर्घ अवधि में सुनीलजी के आंदोलनात्मक और रचनात्मक कार्यों का विवरण देना हो तो दो किताबें लिखनी होंगी। एक तवा बांध से विस्थापित आदिवासियों के आंदोलन और बांध के निर्माण से अस्तित्व में आए जलाशय में आदिवासियों के मछली पालने, पकड़ने और उन्हें देश के विभिन्न स्थानों पर रेल से भेजकर बेचने के अभिनव प्रयोग पर। दूसरी- जनांदोलनों में पुलिस की मार खाने, जेल जाने, आधी रात को किसी स्टेशन से ट्रेन पकड़ने, समता संगठन

व समाजवादी जन परिषद के सांगठनिक कार्यों और सहमना संगठनों से संपर्क करने को लेकर देश भर में एक जगह से दूसरी जगह जाने, अखबारों में तात्कालिक मुद्दों पर लेख भेजने, बीसियों पुस्तिकाएं, परचे लिखने आदि के कभी न खत्म होनेवाले कामों पर। इधर डेढ़ वर्ष से तो सामयिक वार्ता के संपादन का भार भी उन्होंने ले लिया था, जो अपने आप में एक पूर्णकालिक काम था। इतना सब एक आदमी के वश का काम नहीं था पर सुनीलजी इस वास्तविकता को स्वीकार करना नहीं चाहते थे।

समता संगठन ने अन्य सहमना संगठनों के साथ मिलकर जनांदोलनों में भाग लिया। इसमें उसे कड़वे और मीठे दोनों प्रकार के अनुभव हुए। जनांदोलन स्थानीय दायरे से बाहर निकलकर वैकल्पिक राजनीति की दिशा में कोई खास प्रगति नहीं कर पा रहे थे। उधर नरसिम्हा राव की सरकार और उनके वित्त मंत्री मनमोहन सिंह नई आर्थिक नीतियों के नाम पर देश को वैश्वीकरण के जाल में फंसा रहे थे। विश्व स्तर पर एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था- सोवियत यूनियन विघटित हो गया था, दुनिया में पूंजीवाद की जय-जयकार हो रही थी। ऐसे में समता संगठन एक वैकल्पिक राजनीतिक दल का गठन करना बहुत जरूरी मान रहा था। उसकी पहल पर जनांदोलनों की एक समन्वय समिति गठित की गई। समिति में दो प्रक्रियाएं साथ-साथ चल रही थीं- एक, समतावादी मूल्यों और वैकल्पिक विकास की पक्षधर, एक नई राजनीतिक पार्टी बनाई जाए; दो, पार्टी का गठन न कर जनांदोलनों के समन्वय को और व्यापक बनाया जाए। समिति में एक छोटा समूह भी था जो अपनी निर्दलीय पहचान बनाए रखना चाहता था। बहरहाल विचार-विमर्श और संवाद की लंबी प्रक्रिया चलने के बाद 1 जनवरी, 1995 को सावित्री बाई फुले नगर, ठाणे (महाराष्ट्र) में समाजवादी जन परिषद के नाम से एक नई पार्टी की स्थापना हुई।

पार्टी की स्थापना के पहले पार्टी का नीति-व्यक्तव्य तैयार करने के लिए एक पांच दिवसीय चिंतन शिविर का आयोजन किया गया। सुनीलजी ने शिविर में नई पार्टी में शामिल होनेवाले कुछ लोगों के विकास के मॉडल और किसान आंदोलन संबंधी विचारों के बारे में संदेह प्रकट किया था कि उनकी विचारधारा में स्पष्टता का अभाव है। स्पष्टता, सुनीलजी के लिए हमेशा एक बहुत बड़ी कसौटी थी, उनके लेखों में कहीं भी रंच मात्र अस्पष्टता नहीं रहती थी, उनके निर्णय हमेशा स्पष्ट होते थे, जिनके अर्थ का कोई

अपने मन-मुताबिक अनर्थ नहीं कर सकता था। सुनीलजी के संदेह की आगे जाकर पुष्टि ही हुई, जब डॉ. मुगेकर सजप से अलग होकर मनमोहन सिंह की सरकार के योजना आयोग के सदस्य बन गए।

समाजवादी जन परिषद में किसी मुद्दे पर मतभेद जाहिर होता तो मैंने अपने को अक्सर सुनीलजी की राय से सहमत होते पाया है। परिषद में कुछ लोग खासकर चुनावी राजनीति के बारे में सुनीलजी के दृष्टिकोण से असहमत थे। सुनीलजी का कहना था कि समाजवादी जन परिषद का गठन सिर्फ चुनाव लड़ने के लिए नहीं किया गया है; परिषद अपनी राजनीति एक चुनावी राजनीति में सीमित नहीं कर सकती। मौजूदा परिस्थितियों में वैसे भी हमारा चुनाव में जीत पाना असंभव है। सजप की राजनीति के तीन आयाम तय थे—आंदोलन (शांतिपूर्ण आंदोलन में जेल), रचना (फावड़ा), लोकतांत्रिक राजनीति (वोट), इन तीनों जेल, फावड़ा और वोट को डॉ. लोहिया ने प्रतिपादन किया था। कोर्टयम (केरल) में सजप की राष्ट्रीय परिषद में सुनीलजी अपने परचे में और दो नए आयाम विचारधारा और संगठन जोड़े।

पिछले दो वर्षों में सजप के भीतर कुछ अलग किस्म की चीजें पनपीं। एक प्रकार की संवादहीनता भी दिखाई दी। सजप के कुछ साथियों ने एक नई पार्टी—

आम आदमी पार्टी की स्थापना में एक अहम भूमिका निभाई। ऐसी स्थिति में जलपाईगुड़ी में सजप की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने अपनी बैठक में इस बात पर विचार किया कि आम आदमी पार्टी के बारे में सजप का क्या दृष्टिकोण हो। बैठक में योगेंद्र यादव ने सजप को आम आदमी पार्टी में विलीन कर देने की आवश्यकता बताई। कार्यकारिणी के अधिकतर सदस्यों ने और खासकर सुनीलजी ने बिना किसी वैचारिक और सैद्धांतिक आधार के सजप का आम आदमी पार्टी में

विलय करने के विचार का विरोध करते हुए कहा कि यह तो सजप के आदर्शों और मूल्यों के एकदम प्रतिकूल होगा। इस बैठक के बाद योगेंद्रजी और उनके कुछ साथी सजप से अलग होकर आम आदमी पार्टी में शामिल हो गए।

समाजवादी आंदोलन का इतिहास टूट और विलय का इतिहास रहा है। 1977 के बाद 1995 तक भारतीय

सुनीलजी के आंदोलनात्मक और रचनात्मक कार्यों का विवरण देना हो तो दो किताबें लिखनी होंगी। एक तवा बांध से विस्थापित आदिवासियों के आंदोलन और बांध के निर्माण से अस्तित्व में आए जलाशय में आदिवासियों के मछली पालने, पकड़ने और उन्हें देश के विभिन्न स्थानों पर रेल से भेज कर बेचने के अभिनव प्रयोग पर। दूसरी—जनांदोलनों में पुलिस की मार खाने, जेल जाने, आधी रात को किसी स्टेशन से ट्रेन पकड़ने, समता संगठन व समाजवादी जन परिषद के सांगठनिक कार्यों और सहमना संगठनों से संपर्क करने को लेकर देश भर में एक जगह से दूसरी जगह जाने, अखबारों में तात्कालिक मुद्दों पर लेख भेजने, बीसियों पुस्तिकाएं, परचे लिखने आदि के कभी न खत्म होनेवाले कामों पर।

राजनीति में समाजवादी नाम वाली कोई भी पार्टी नहीं रही। संसोपा और प्रसोपा लुप्त हो गई थीं। 1995 में समाजवादी जन परिषद की स्थापना से एक बहुत छोटे पैमाने पर ही सही एक समाजवादी पार्टी अस्तित्व में आई, जिसके अपने आदर्श व मूल्य थे और जिसकी प्रतिबद्धता वैकल्पिक राजनीति और वैकल्पिक विकास से थी। आम आदमी पार्टी से सुनीलजी की कोई व्यक्तिगत चिढ़ नहीं थी। वह तो जनांदोलनों के राजनीतिकरण के प्रबल पक्षधर थे, लेकिन विचारहीन राजनीतिकरण के नहीं। वह यह मानते थे कि देश में जनांदोलनों के माध्यम और समन्वय से ही एक वैकल्पिक राजनीति और शक्ति उभरेगी। वैश्वीकरण के मायाजाल को देखकर वह विकास के एक ऐसे मॉडल की आवश्यकता पहले से भी बहुत ज्यादा महसूस करने लगे थे, जिसमें प्राकृतिक संसाधनों व प्रकृति की रक्षा करने, आर्थिक

गैरबराबरी, क्षेत्रीय वैषम्य और विस्थापन को किंचित भी न पनपने देने, सत्ता को एकदम निचले स्तर तक विकेंद्रित करने, समान शिक्षा व्यवस्था उपलब्ध करने, चिकित्सा को सर्वसुलभ करने का प्रबल आग्रह हो। अर्थशास्त्र में अपनी गहरी पैठ के चलते वह हमारे देश के भ्रष्टाचार के स्वभाव को जानते थे कि वह तो महज एक ऊपरी लक्षण है आर्थिक नीतियों की भयंकर बीमारियों का। इसीलिए आम आदमी पार्टी के भ्रष्टाचार विरोध के एकमात्र मुद्दे में उनकी कोई

दिलचस्पी नहीं थी। आम आदमी पार्टी की व्यावहारिकता की नीति से भी सुनीलजी को घोर आपत्ति थी क्योंकि व्यावहारिकता को अवसरवादिता बनने में एक पल भी देर नहीं लगती और व्यावहारिकता के बहाने से हर तरह के समझौते किए जा सकते हैं। किसी राजनीतिक दल की विचारहीनता और आदर्शहीनता का मतलब यह भी होता है कि दल के सदस्यों के बीच मतभेदों का कारण गुटबाजी या व्यक्तिगत राग-द्वेष होता है, कोई आदर्शों के प्रति प्रतिबद्धता नहीं। आज सारे स्थापित राजनीतिक दल इसीलिए गुटबाजी, व्यक्तिगत राग-द्वेष और चापलूसी में आकंठ डूबे हुए हैं।

सुनीलजी के बारे में मुझे कई बार यह सुनने को मिला है कि उनकी जैसी असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति एक सुदूर गांव में एक छोटे संगठन में अपने को सीमित कर अपनी प्रतिभा को नष्ट कर रहा है। इस प्रकार के कथन का आशय यह होता है कि सुनीलजी को तो किसी बड़े संगठन में होना चाहिए ताकि अखबारों में उनका नाम अक्सर छपे। इस तरह की बात मेरे खयाल में सुनीलजी का अपमान करने जैसी है। वास्तव में सुनीलजी के मन में ऐसी किसी दुविधा ने जन्म भी नहीं लिया होगा कि वह अपनी प्रतिभा को नष्ट कर रहे हैं। एक सजग और संवेदनशील व्यक्ति के रूप में उन्हें निश्चय ही अपने काम के बारे में कभी-कभी शंका जरूर हुई होगी लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि केसला में रहने और समाजवादी जन परिषद जैसी एक छोटी राजनीतिक पार्टी के काम में अपने झोंकने को उन्होंने निरर्थक और अपनी प्रतिभा को नष्ट करना माना होगा।

सुनीलजी की राजनीति में शिक्षा-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन का आग्रह प्रबल था। भारत शिक्षित कैसे बनें, यह उनकी चिंता का एक बड़ा सबब था। उनकी मान्यता थी कि शिक्षा की जो व्यवस्था चल रही है उसने देश में लोकतंत्र की जड़ों को मजबूत करने के बजाय कमजोर ही किया है। शिक्षा के लोकतंत्रीकरण की दिशा में पहले कदम के रूप में

समान स्कूल प्रणाली को लागू करने की बात वह हर मंच से कहते थे- प्रत्येक स्कूल का एक क्षेत्र हो; क्षेत्र में रहनेवाले सभी बच्चे (अमीर-गरीब, लड़का-लड़की, किसी भी जाति या धर्म के) उसी स्कूल (क्षेत्र के) में पढ़ें। डॉ. अनिल सदगोपाल के नेतृत्व में चलनेवाले संगठन 'शिक्षा अधिकार मंच' के अध्यक्ष मंडल में सुनीलजी सजप का प्रतिनिधित्व करते थे। 'भारत शिक्षित कैसे बने? सवाल आपके जवाब हमारे' शीर्षक से छपी अपनी पुस्तिका में सुनीलजी ने शिक्षा को एक व्यावसायिक उद्योग बनाए जाने पर चिंता प्रकट करते हुए कहा है कि प्रतियोगिता वाली परीक्षाओं के लिए कोचिंग संस्थान अखबारों में पूरे-पूरे पृष्ठों का विज्ञापन देते हैं। कोचिंग देश के सबसे ज्यादा मुनाफा कमानेवाला और सबसे तेजी से बढ़नेवाले उद्योगों में से एक हो गया है।

सुनीलजी अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही मध्य प्रदेश के एक गांव में शराब के ठेकों के खिलाफ स्थानीय लोगों के 24 घंटे के 'दिन-रात सत्याग्रह' के दौरान गिरफ्तार हुए थे। इस तरह की गिरफ्तारियों की संख्या उन्हें शायद याद भी नहीं होंगी। राष्ट्रीय और स्थानीय समस्याओं के बीच फरक करना वह नहीं जानते थे। जमीनी कार्यकर्ता नेता जिसे कहते हैं, सुनीलजी वह थे।

सुनीलजी पर लिखते हुए अनायास ही भगत सिंह की याद आ गई। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि याद आने के भी कारण होते हैं सो कारण जरूर होगा। भगत सिंह कोई आतंकवादी नहीं थे। जब उन्होंने असेंबली में बम फेंका था तो उनका संगठन बहुत छोटा था और उनकी शहादत के बाद भी छोटा रहा। लेकिन उनकी शहादत ने आजादी के आंदोलन को आगे बढ़ाया। सुनीलजी का जीवन व्यर्थ नहीं गया, भले ही समाजवादी जन परिषद एक छोटा संगठन हो। उनका जीवन हमें एक वैकल्पिक राजनीति की दिशा में आगे बढ़ने और देश की तकदीर बदलने को प्रेरित करता रहेगा, इतनी आशा तो हम कर ही सकते हैं।

वार्ता के लिए लिखें

सामयिक वार्ता के लिए लेख, अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण लेखों के अनुवाद, साक्षात्कार, रपट, गतिविधियों के समाचार और टिप्पणियां आमंत्रित हैं। लेख और रपट वार्ता के मिजाज के अनुकूल हों तो बेहतर होगा।

वार्ता में प्रकाशित सामग्री पर आपकी प्रतिक्रिया, टिप्पणियों और पत्रों का भी हमें इंतजार रहेगा। भाषा, टायपिंग और पूफ की गलतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करें तो हमें मदद मिलेगी।

लोकशक्ति जगानेवाला

नारायण देसाई

सुनील के जाने से न सिर्फ उसके परिवार जनों, मित्र मंडली को बल्कि पूरे देश को क्षति पहुंची है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गुमराह देश को मानवीय मूल्यों की ओर ले जाने की जी-जान से कोशिश करनेवाले इन गिने-चुने लोगों में से एक सुनील था। वो ऐसे समय चला गया है, जब उसकी निहायत जरूरत थी।

15 अगस्त 1947 तक देश के पास एक उद्देश्य था। गांधीजी को 1942 में गिरफ्तार करने के लिए आए अधिकारी भी मुंह लटकाए यह कहते थे कि 'क्या करें पेट की खातिर चाकरी कर रहे हैं, जबकि सहानुभूति तो हमारी आपके साथ ही है।' तब तक देश के पास एक मात्र उद्देश्य-गुलामी से मुक्ति का था। सरकारी नौकर भी मन ही मन इसी उद्देश्य की ओर ताक रहे थे।

स्वराज के बाद देश में एक बड़ा शून्य था-उद्देश्यहीनता का रिक्त स्थान। इसलिए हरेक व्यक्ति अपने हित की कोशिश में लगा। अलबत्ता हमारे संविधान ने अपने मार्गदर्शक सिद्धांतों के द्वारा एक दिशा-दर्शन दिया। देश के समूचे सयानेपन का निचोड़, स्वतंत्रता, समानता, बंधुता और न्याय का। किंतु यह सयानापन संविधान की पोथी ही में ही धरा रहा। स्वतंत्रता कुछ नेताओं और पांच साल में एक बार होनेवाले चुनावों तक सीमित रही। अंतिम जन ने इसका अनुभव नहीं किया। बार-बार होनेवाले दंगों ने बंधुता को कभी ठोस रूप में दिखने नहीं दिया। न्याय व्यवस्था में अंगरेजी तंत्र के अनुकरण ने उसे गरीबों के जीवन तक पहुंचने ही नहीं दिया। रही बात समानता की तो उससे ठीक उलटी राह हमारे अर्थतंत्र ने ली। स्वातंत्रोत्तर काल में पैदा हुए सुनील ने गांधी, लोहिया, जयप्रकाश से प्रेरणा पाकर समाजवाद का रास्ता लिया, जो इन चारों मार्गदर्शक सिद्धांतों का पोषक है एवं विशेषतः समानता का द्योतक है।

स्वतंत्रता के अहिंसक संग्राम में प्रमुख मूल्य त्याग-बलिदान का था। स्वतंत्रता के बाद त्याग के बदले भोग ही जीवन का प्रधान मूल्य बन गया। अपनी मां की अंगुली पकड़कर मंदिर जानेवाले बच्चे की आंखें ज्यों मंदिर में चढ़नेवाले नैवेद्य की ओर नहीं प्रसाद की ओर लगी रहती

हैं, उसी प्रकार छोटे-बड़े हर भारतवासी की नजर स्वतंत्रता के फल की ओर लगी थी। कर्तव्य का विचार गौण और अधिकार की मांग प्रबल बनी। इस बहाव में उलटे तैरकर त्याग की ओर अग्रसर होनेवाले बहुत ही कम लोगों में सुनील एक था। पूरे मध्य प्रदेश में बोर्ड की परीक्षा में अग्रस्थानों में एक स्थान रखनेवाला अपना पीएचडी का अध्ययन छोड़कर गांवों की ओर मुंह करता है। अपनी माता को यह आश्वासन दिलाता है कि वह संन्यासी बनने नहीं जा रहा, लेकिन उसका गृहस्थाश्रम गांवों में होगा। उसकी दृष्टि पीएचडी के बाद की नौकरी पर नहीं, उन लोगों पर रहेगी, जिन्हें दो जून भर पेट खाना भी नहीं मिलता। सुनील ने वह मार्ग लिया जो गांधी ने उसके जन्म से पहले देश को दिखाया था; जिसके सहारे देश ने आजादी पाई थी। आजाद भारत के नौजवान के लिए यह ऐसी राह थी जो भेड़िया-धसान प्रवाह से उलटी थी। गांधी ने भारत को अपने सात लाख गांवों में पाया था। आज देश के कुछ नए नेता देश के नगरीकरण पर गर्व कर रहे हैं। उसी समय हर माने में होनहार तरुण सुनील ने गांधी के रास्ते चलने का निश्चय किया, माता-पिता को समझाया और परिवार को गांव में बसाया। अपने कर्तव्यों को अदा करने देश भर के ग्रामों की तरह नगरों में भी घूमा, लेकिन निवास तो गांव में ही किया। बल्कि दिशा उसकी गांव से भी अधिक जंगल की ओर रही।

गांधी ने अपने आंदोलन द्वारा देश का ध्यान गांवों और ग्रामजनों के प्रति आकर्षित किया था। स्वराज के बाद के नेतृत्व ने लोगों से अधिक प्रतिनिधियों की ओर ध्यान दिया। नेतृत्व क्रमशः लोक विमुख होने लगा था। युवा सुनील लोगों के बीच जाकर बैठ, उसने लोगों के बीच काम किया और उससे भी अधिक लोगों को काम के लिए तैयार किया। लोकशक्ति जगानेवाले गांधी मार्ग को सुनील के अपने समाजवाद ने चरितार्थ किया। किसानों का संगठन, मछुवारों का संगठन, वनवासियों का संगठन सही मायने में स्वराजोत्तर रचना कार्य था। रचनात्मक कार्यक्रम की गांधी की परिभाषा ही यह थी कि वह कार्यक्रम लोगों की अहिंसक शक्ति जगाएगा। अनेक अवरोधों के बावजूद अहिंसक सुनील

ने अहिंसक मार्ग से लोगों की मांग पूरी की ।

सुनील ने राजधानी में अर्थशास्त्र सीखा था, जिससे उसे अंतरराष्ट्रीय अर्थनीति का भी वास्तविक परिचय कराया था । किंतु सुनील के अर्थशास्त्र की नींव गांवों में लगी हुई थी । उसने अपने साथियों को तथा आम जनता को इस बात से वाकिफ कराया कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद और खास तौर पर सोवियत संघ के टूट जाने के बाद, अंतरराष्ट्रीय शोषण का माध्यम एक शासन या साम्राज्य उतना नहीं जितना खुला बाजार होगा ।

सुनील ने केंद्रित-नियोजन का खोजलापन सिद्ध कर विकेंद्रित नियोजन को लोगों के द्वारा व्यवहार में अधिक सफल होते सिद्ध किया और एक हद तक उसे लोक-विमुख शासन से भी स्वीकार करवाया । लोक-भागीदारी वाला नियोजन कितना ठोस हो सकता है वह सुनील ने तवा बांध के विस्थापितों तथा सतपुड़ा के वनवासियों के पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध किया ।

किंतु वैश्विक स्थापित हितों का स्वार्थ लोकशक्ति बनाने में नहीं, चंद लोगों की संपत्ति बढ़ाने में था । इस विषय में राजनीति में सक्रिय दोनों प्रमुख पक्ष प्रायः एक राय के थे । इसलिए मध्य प्रदेश में एक सरकार के खिलाफ जीतने पर भी दूसरी सरकार से पुनः लड़ने का प्रसंग आता है । संघर्ष और निर्माण को समान महत्व देनेवाले सुनील के लिए एक बार फिर मोर्चा संभालना कोई नई बात नहीं थी । उसकी लड़ाई जारी रही ।

लोक-नियोजन केंद्रित स्वार्थ-प्रेरित नियोजन से अधिक ठोस है, यह बात सुनील ने विशेषज्ञों की जांच द्वारा भी सिद्ध की । किंतु राजनैतिक खींचातानी, अंतरराष्ट्रीय

आर्थिक शोषण-नीति ने इसे अनसुना किया और नौकरशाही तो हमेशा शासकों के साथ रहने में अपना कल्याण देखती है, इसलिए सुनील को अपना मोरचा स्थानीय नौकरशाही से लेकर अंतरराष्ट्रीय पूंजीवाद के खिलाफ तक खड़ा करना पड़ा । आधुनिक जगत में एक नई लड़ाई छिड़ी है पर्यावरण के विषय में । जहां एक ओर संसार भर में पर्यावरण के विषय में एक नई जागरूकता पैदा हुई है, वहीं उदारीकरण, खुले बाजार आदि शब्दों का प्रयोग अपने स्वार्थों के लिए करनेवाले नव-पूंजीवादी-साम्राज्यवादियों ने विश्व के पर्यावरण पर ऐसा धावा बोला है जैसा इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ । सुनील इस संघर्ष में पहले पक्ष के साथ था क्योंकि एक ओर

वह अंतिम जन का हित देखता था दूसरी ओर जगत की भावी पीढ़ियों को महाविनाश से बचाना चाहता था । इस समय मालूम यह हो रहा है कि उस महाभारत युद्ध में संकुचित स्वार्थी पक्ष ही जीत रहा है । किंतु सुनील 'सत्यमेव जयते' की श्रद्धा साथ लिए अपनी लड़ाई लड़ रहा था ।

1952 से पहले प्रायः आधी शताब्दी तक हमारे देश ने राष्ट्रीय नेतृत्व पैदा किया था । स्वराज के बाद राष्ट्रीय नेतृत्व प्रायः लुप्त-सा हो गया है । जगह-

जगह प्रांतीय, सांप्रदायिक या जातिगत नेतृत्व है । यद्यपि सुनील के नेतृत्व को राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता, फिर भी उसमें वे सारे गुण थे जो राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए अनिवार्य थे । स्वराज के बाद की छः-सात दशकियों में चंद लोगों में ही अपने प्रांत, भाषा, जाति, धर्म से ऊपर उठकर राष्ट्र के हित के लिए जीवन समर्पित करने का दुर्लभ साहस दिखता है ।

गांधी ने अपने आंदोलन द्वारा देश का ध्यान गांवों और ग्रामजनों के प्रति आकर्षित किया था । स्वराज के बाद के नेतृत्व ने लोगों से अधिक प्रतिनिधियों की ओर ध्यान दिया । नेतृत्व क्रमशः लोक विमुख होने लगा था । युवा सुनील लोगों के बीच जाकर बैठा, उसने लोगों के बीच काम किया और उससे भी अधिक लोगों को काम के लिए तैयार किया । लोकशक्ति जगानेवाले गांधी मार्ग को सुनील के अपने समाजवाद ने चरितार्थ किया ।

“बहुत से लोग यह मानते हैं कि विचारधारा की बात बकवास है, विचारधारा की कोई जरूरत नहीं है, जो मुद्दा सामने आएगा उस पर हम मिल-जुलकर तय करेंगे । यह सोच दिशाहीनता की ओर ले जाती है । विचारधारा का मतलब यह नहीं है कि अंधानुकरण हो, लेकिन दुनिया को समझने और समझकर दुनिया बदलने का एक ढांचा तो बनाना पड़ेगा । उसी को आप विचारधारा कह सकते हैं । वह समाजवादी विचारधारा हो, सर्वोदयी विचारधारा हो, मार्क्सवादी विचारधारा हो या कोई और विचारधारा हो । विचारधारा का शून्य बहुत खतरनाक होता है और अंततः वह यथास्थिति को मजबूत करने वाला होता है ।” - सुनील

‘योग’ दान

मेधा पाटकर

सुनील भाई ऐसे बेवक्त चले गए कि क्या कहें! जिस आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का उन्होंने सालों से विश्लेषण किया, हम सबको उसे नकारने की प्रेरणा दी, उन तमाम हकीकतों को पीछे छोड़कर वे चले गए, बस एक ‘योगी’ की तरह। सुनील भाई की जीवनी लिखना मुश्किल है और उनका ‘योग’ दान नापना नामुमकिन। उन्होंने स्वयं तो कभी उनके समाज के साथ रिश्तों का, कार्य का हिसाब-किताब रखा नहीं, किंतु उनके इर्द-गिर्द किसी को भी रखने नहीं दिया। वे बस बने रहे, डटे रहे, चलते भी रहे मंजिल की ओर।

सुनील भाई एक विशेष युवा थे, श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के बीच का। देश और दुनिया की आर्थिक नीतियों पर जहां उनका भाषण सटीक और जानकारी से भरपूर होता था, वहीं उनका जीवन धरातल से गहराई से जुड़ा हुआ था। उन्होंने वैश्वीकरण-उदारीकरण ही नहीं मूलतः पूंजीवाद और बाजारवाद की संपूर्णतः पोल खोली। इतना ही नहीं स्वदेशी-स्वराज-स्वावलंबन की आराधना की। स्वयं मेहनतकशों के साथ जीवन जीने आए सुनील भाई की राजनीति, अर्थनीति के वैकल्पिक आयाम और समता तथा न्याय जैसे बुनियादी मूल्यों से बदलाव लाने की प्रक्रिया थी। छोटे और जमीनी स्तर के विविध प्रश्नों को लेकर राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर की परिस्थितियों से जोड़ना, उनके सुलझाव तक उसे समाज के प्रबोधन में रखना, सुनील भाई की विशेषता थी। सुनील भाई अपना विचार भंडार तो पीछे छोड़कर गए हैं लेकिन एक बहुत बड़ी खाई भी।

समाजवादी विचारधारा की चिंता रखते हुए भी एक दुर्दम्य विश्वास और ‘विकल्पहीन नहीं है दुनिया’ का किशन पटनायक के आशावाद के सुनील भाई दूसरे रूप थे। समाजवादी युवजनों से समाजवादी जन परिषद के साथियों तक विविध मंचों, मोर्चों पर वे सक्रिय रहे। वे निश्चित ही आज की दुनिया में समाजवाद के आदर्शों के रखवाले थे और उन्हें अपनाएवाले भी। उनकी अपनी सोच जितनी स्पष्ट थी, उतनी जीवन प्रणाली भी साफ सुथरी थी। उन्होंने कभी भी कहीं भी बाजार और पूंजी आधारित लालच नहीं दिखाया।

पूंजी की ताकत से डर या दबाव के तहत कभी झुकाव भी नहीं दिखाया। सुनील भाई का केसला का डेरा, तवा-गोलाबारूद कारखाना और बोरी अभयारण्य से विस्थापितों के साथ के कार्य का केंद्र तो था ही पर संघर्ष और निर्माण का प्रतीक भी था। उनकी लिखी हुई किताबों से अधिक या उतनी ही प्रेरक उनकी कार्यशैली थी। सुनील भाई देशभर घूमकर सुव्यवस्थित समाजवादी संगठन बनाने की तमन्ना रखते थे। लेकिन यह निश्चित कि हर कार्य में वे संतुष्ट थे और व्यापक स्तर पर उतने ही चिंतित।

आज की राजनीति में जब जात-धर्म या पैसा व शराब ही सर्वाधिक रंग लाता हुआ साफ नजर आता है तब सुनील भाई जैसे साथी अपने दिल के बहुत पास नजर आते हैं जिसने एक निश्चित, कटिबद्ध व विचारशील राजनीति का सपना संभालकर रखा हुआ था। जहां-जहां छोटे या बड़े समूह के बीच या संगोष्ठी में सुनील भाई की उपस्थिति होती, वहां अपने सादगी भरे आचार के साथ गहरे विचारों की छाप वे जरूर छोड़कर जाते। सतत वैचारिक आदान-प्रदान के अलावा कभी कोई मनोरंजन की ओर मुड़ते सुनील भाई को देखा नहीं, अपने साथ चलते रहते, कार्यकर्ताओं के साथ संवाद तोड़ते हुए भी कभी नहीं पाया। अपने विचारों की ऊंचाई को झुकाकर दलितों-पीड़ितों के पैरों में लाकर रखनेवाले थोड़े लोगों में एक विशेष स्थान है सुनील भाई का। बड़ों में बड़े और छोटों में छोटे सुनील भाई की यही बुनियादी विशेषता थी।

होशंगाबाद के चक्का जाम के दौरान जेल में जाकर जमानत नकारनेवाले सत्याग्रही थे सुनील भाई। उनके साथ के कार्यकर्ता, गुड्डूभाई याने फागराम हो या गुलियाबाई, मंजिल तक पहुंचाने की जिद के कारण ही सुनील भाई के भक्त रहे। इटारसी शहर में ही नहीं, कई राज्यों में, कई संगठनों के बीच, समर्थकों का और प्रशंसकों का मानो मेला ही लगा रहता था। यह मेला क्या बिखर जाएगा? आज की महंगाई हो या ‘विदेशी’ का हाहाकार-सुनील भाई इन समस्याओं के निदान के साथ उपचार बतानेवाले के रूप में समाज के लिए कार्यरत थे। साथ

ही अपनी साथी स्मिता, बेटा और बेटी बालू और शिउली सभी को अपने बड़े परिवार संगठन के साथ जोड़कर चलनेवाले सुनील भाई थे। वे निश्चित ही नए राजनीतिक परिदृश्य से बेहद चिंतित थे। फासला नापने के लिए था उनका ऐलान। सेवाग्राम में हुई आंदोलनकर्ताओं की बैठक में फिर भी कुछ समझौतों के साथ बढ़ने की आशा उन्होंने मान ली थी। पर चुनाव के बाद ही हम नापेंगे, तौलेंगे, इस चेतावनी के साथ। इसके लिए वे रहे नहीं, वे चुपचाप चले गए। दुख इस बात का नहीं है कि एक वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता चला गया, बल्कि इस बात का भी कि एक वैचारिक नेता, भविष्यकाल में दुनिया को जिसकी जरूरत अपरिहार्य होगी, ऐसा भविष्यवेत्ता चला गया। इन्सानियत का मूलधार कहां खोजें, कैसे संवारे, इस चिंता में लगे रहे साथियों का सहज-सुंदर, हर प्रकार से समृद्ध, फिर भी फकीर साथी चला गया।

सुनील भाई का कार्य और उनकी सामाजिक राजनीतिक परंपरा उनके जैसी ही हो इसलिए 5 मई को केसला में हम इकट्ठे हुए। साथी अनिल सद्गोपाल से अनुराधा शंकरजी तक, बाबा मायाराम से चिन्मय मिश्रा तक, देवराम भाई से लेकर आराधना भार्गव और अफलातून तक, सारे के सारे संकल्पबद्ध थे। उसे आगे ले जाने के लिए उत्सुक और प्रेम बंधन से झूमते दिखाई दिए। लेकिन सभी के सभी उनकी कमी महसूस कर रहे थे। अपनी-अपनी यादों में खोए रहना चाहते थे। पर क्या यह संभव है? यही कर्तव्य होगा हमारा।

सुनील भाई की हर चिंता को बांटने का काम हम उस वक्त भी नहीं कर पाए जब वे जिंदा थे। श्रद्धांजलि के लिए नहीं, कार्याजलि देने के लिए खुद के अंदर झांकना होगा और परिवर्तनकारी कार्यों में खुद को झोंकना होगा। और क्या कहें?

‘महान’ के साथियों का सलाम

अविनाश चंचल

सुनील भाई के नहीं रहने पर स्तब्ध है हम सब, हमारी पूरी टीम और महान संघर्ष समिति के कार्यकर्ता। ‘महान’ की लड़ाई को सिंगरौली से लेकर भोपाल तक पहुंचाने में अहम भूमिका अदा की थी सुनील भाई ने। महान संघर्ष समिति को लेकर उनकी चिंताओं, उनके सुझावों की जरूरत हमें आज भी उतनी ही है।

उनके निधन की खबर मिलने पर उसी समय मन आसूओं से भीग गया। कुछेक लोगों को खबर करके बैठा तो बहुत कुछ सोचने लगा। सुनील भाई जैसे लोग क्या सच में इस दुनिया से चले जाते हैं? क्या उनके शरीर के जाने भर से वो प्रेरणा चली जाएगी जो उनके केसला में संघर्ष से पैदा हुई है? या फिर वो ऊर्जा खत्म हो जाएगी जिससे उन्होंने जेएनयू जैसे संभ्रांत विश्वविद्यालय से पढ़ाई करने के बाद भी किसी सरकारी नौकरी में जाने के बजाय केसला में आदिवासियों को लड़ाई के लिए प्रेरित किया? सुनील भाई जैसे लोग सिर्फ एक शरीर नहीं हैं कि जिसके चले जाने से सुनील भाई का अस्तित्व भी चला जाएगा। आज अगर सिंगरौली से लेकर केसला तक, भोपाल से लेकर दिल्ली तक आदिवासियों

और हाशिए पर खड़े लोगों की आंखों में आंसू हैं तो सुनील भाई उन्हीं आंसूओं में कहीं जरूर बैठे हैं।

सुनील भाई से पहली मुलाकात पिछले साल ही अगस्त में हुई। सिंगरौली में महान संघर्ष समिति की तरफ से आयोजित वनाधिकार सम्मेलन में वे आए हुए थे। दो दिन तक उनका साथ रहा। कई मुद्दों पर बातें हुईं। अभी फरवरी के महीने में सामायिक वार्ता में एक लेख के लिए काफी देर तक उनसे बात हुई थी। उन्होंने मुझे बहुत समझाया था कि कैसे करना है, क्या करना है, किस दिशा में आगे बढ़ा जाए आदि। उनसे सीखने का सिलसिला अभी ठीक से शुरू भी नहीं हुआ था कि बीच में ही टूट गया। उनकी आवाज की सौम्यता, समझाने का सहज तरीका, जीने का सादा ढंग, कितना कुछ है उनका जो प्रभावित करता है। सुनील भाई चले गए हैं लेकिन इसके बावजूद उनका जीवन, संघर्ष, सौम्यता, सहजता, सपने, ऊर्जा हमारे बीच रह गए हैं। लगता है अभी सुनील भाई अपनी गर्दन पर लटकते चश्मे को आंख में लगाएंगे और चश्मे के भीतर से झांकते हुए कहेंगे- बचा कर रखना, कुछ सपने, असीम ऊर्जा, संघर्ष का साहस। साथी जिंदाबाद।

दिशा-बोध देती अदृश्य उपस्थिति

योगेंद्र यादव

अगर सुनीलजी से न मिला होता तो मैं राजनीति में न आता। अगर सुनीलजी का संग न मिला होता तो देश को अंतिम व्यक्ति की आंख से न देख पाता। अगर सुनीलजी को न देखा होता तो शायद गांधीजी को समझ न पाता। अगर...

यह फेहरिस्त लंबी हो सकती है। सिर्फ मेरे लिए नहीं, मेरे और मेरे बाद की पीढ़ी के जिस-जिस जीवन को सुनीलजी ने एक भी बार छुआ था वहां-वहां ऐसी कोई फेहरिस्त होगी। अपने से बड़ों से और देश काल में दूरस्थ लोगों से प्रेरणा ग्रहण करना आसान होता है। इस दूरी का फायदा उठाकर हम उन जैसा बनने की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाते हैं। उनकी महानता का बोझ हमें नहीं उठाना पड़ता। लेकिन अपने साथ के किसी व्यक्ति की महानता को स्वीकार करना जितना कठिन होता है उतना ही कठिन होता है फिर उसके उत्तरदायित्व के बोझ से मुक्त होना। 'इसकी जगह तो मैं हो सकता था' यह विचार इन्सान में सच्चा दुःख, गहरा डर और अद्भुत सम्मोहन से भर देता है। कुछ ऐसा ही सुनीलजी को देखने- मिलनेवाले हर व्यक्ति के मन में यही भाव पैदा होता था। अगर ये शख्स ऐसा कुछ कर सकता है, तो मैं कुछ तो कर पाऊंगा। यह भाव मेरे जैसे न जाने कितने साथियों के मन में रह-रह कर उभरता रहा है।

यह यकीन अपने से दो सूत बेहतर बनने का आमंत्रण देता रहा है। सुनीलजी का यह आमंत्रण पिछले तीस बरस से चाहे-अनचाहे हमेशा मेरा पीछा करता रहा। जब-जब जीवन में आलस ने घेरा, जब-जब निज की सुविधा के मोह ने जकड़ा, जब-जब सामाजिक सरोकार नजर से ओझल होने लगते हैं तब-तब सुनीलजी सामने आकर खड़े हो गए। विश्वविद्यालय के दिनों में एक आंदोलन से मुंह चुराकर लाईब्रेरी से लौटा तो कमरे के दरवाजे पर कुंडी में फंसा एक संदेश इंतजार कर रहा था- जो तटस्थ है समय लिखेगा उनका भी अपराध। सालों बाद जब एक फेलोशिप के सिलसिले में विदेश जाने की योजना बनी तो सुनीलजी का पोस्ट कार्ड हाजिर था, 'अगर मध्यमवर्गीय जीवन ही जीना है तो वह भी सादगी से जीया जा सकता है... बुद्धिजीवियों को विदेश भ्रमण की आदत से बचना चाहिए।' लेकिन

अक्सर सुनीलजी की उपस्थिति अदृश्य होती थी। कोई भी निर्णय लेने से पहले हमेशा सोचता रहा कि पिताजी को कैसा लगेगा, किशनजी क्या सोचेंगे, सुनीलजी क्या कहेंगे। कई बार मैं इस अदृश्य परछाई से तंग आ जाता था लेकिन इससे मुक्त होने का विचार अपराध-बोध पैदा करता था। कुछ अच्छा करता था तो सोचता था कि सुनीलजी को उसके बारे में पता लगे। तारीफ की उम्मीद फिर अदृश्य उपस्थिति के दायरे में जकड़ देती थी।

औरंगाबाद से दिल्ली वापस आते हुए कई बार याद करने की कोशिश की लेकिन ठीक-ठीक याद नहीं आया कि सुनीलजी से पहली मुलाकात कैसी थी। पिछले चार-पांच दिन से अंदेशा तो था ही लेकिन खबर आधी रात को मिली। बस एक एसएमएस था। सुनील भाई ने अंतिम सांस रात 11:30 पर ली। विचित्र संयोग था सुनीलजी से बहुत दूर लेकिन उनकी स्मृति से घिरा हुआ था। खबर सुभाष लोमटे के घर मिली जो समाजवादी जन परिषद के अठारह साल के सफर में सुनीलजी और मेरे सहयोगी रहे। अगले दिन सुबह मेधा ताई (पाटकर) के चुनाव प्रचार में जाना था। कार्यक्रम का आयोजन भाई संजय मंगला गोपाल करवा रहे थे। हर सूत्र कहीं न कहीं सुनीलजी से जुड़ता था। सुनीलजी के निधन के खबर मिलते ही तुरंत फैसला हुआ कि ये सब कार्यक्रम रद्द कर अंत्येष्टि के लिए दिल्ली जाऊं।

पहली मुलाकात जरूर 1981 के जुलाई-अगस्त में हुई होगी। मैंने एमए के लिए जनेवि (जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय) में दाखिला लिया था। और उस कैम्पस की राजनैतिक फिजा का रसास्वादन शुरू किया था- कुछ चकित, कुछ सम्मोहित, कुछ आतंकित और कुछ बेपरवाह। एक तरफ क्रांतिकारिता और आदर्शवाद की राजनीति का आकर्षण था। तो दूसरी तरफ उसके अंग्रेजीदां संस्कारों से चिढ़ थी। जहां वामपंथी विचारों के प्रभुत्व एक तरह का सकून देता था, वहां यह भी दिखता था कि प्रभुत्व तो प्रभुत्व ही होता है चाहे किसी नाम से हो। छोटे शहर के संस्कार और हिंदी मीडियम की पढ़ाई में रचा बसा मेरा मन शायद कहीं कुछ घुटन भी महसूस करता था। चाय, कॉफी, सिगरेट, शराब,

गर्लफ्रेंड, जींस, झोला, फिदेल कास्त्रो और हो-ची-मिन्ह, वी शैल विन के बीच घिरा कहीं कसमसाहट भी महसूस कर रहा था। जनेवि के उन्हीं आरंभिक दिनों में कभी सुनीलजी से मुलाकात हुई थी। जींस कुर्ता और कोल्हापुरी की जनेवि यूनिफार्म से अलग खादी का कुर्ता, चौड़ी मोहरीवाला सादा पजामा और टायर की चप्पल। सर्दी में शॉल की जगह बेट कवरवाली शोलापुरी चद्दर। झब्बेदार घुंघराले बाल (उनके असमय ही उग आई गंज के चलते स्मृति का यह अंश धुंधला पड़ गया) और मोटा चश्मा। तभी से उनके इर्द-गिर्द एक आभा मंडल था और प्रशंसकों का एक दायरा। जल्द ही मैं भी उनमें शामिल हो गया। समता युवजन सभा की इस मंडली में सुनीलजी सबसे वरिष्ठ नहीं थे। दिग्विजय सिंह (दादा), चेंगल रेड्डी और जसवीर सिंह सबसे वरिष्ठ थे। लेकिन

नैतिक और राजनैतिक नेतृत्व सुनीलजी के हाथ में था। जनेवि की वामपंथी संस्कृति में यह प्रतिसंस्कृति का एक टापू था- यहाँ चाय और नशे-पत्ती का परहेज था (हालाँकि जसवीर भाई चाय के शौकीन थे और कुछ साथी पान के) मार्क्स के बदले गांधी-लोहिया-जयप्रकाश का चलन था, अंग्रेजी की हाय हेलो की जगह भाई या जी का संबोधन था। जनेवि की छात्र राजनीति में यह समूह माकपा के छात्र संगठन एसएफआई के खिलाफ खड़ा था।

राष्ट्रीय स्तर पर यह समूह समता संगठन से जुड़ा था। किशन पटनायक, सच्चिदानंद सिन्हा और राकेश सिन्हा हमें वैचारिक दिशा दिखाते थे।

जनेवि के भीतर समता युवजन सभा का मुकाबला एसएफआई और एआईएसएफ के वामपंथी धड़े से था। उन दिनों इस गठबंधन का वर्चस्व कुछ वैसा ही था जैसा पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे का था। विद्यार्थियों की यूनियन हो, अध्यापकों की या कर्मचारियों की, सब पर वाम मोर्चा का कब्जा था। भाषा व्यवस्था के क्रांतिकारी विरोध की थी लेकिन वामपक्ष जनेवि के सत्ता प्रतिष्ठान का अभिन्न अंग था। उनके विपक्ष को संगठित करने के लिए सयुस ने डीएसएफ नामक वाम मोर्चे से टूटे धड़े और प्री-थिंकर नामक एक उदारवादी अंग्रेजीदां समूह से गठबंधन कर लिया था। सुनीलजी उन

दिनों कैंपस की इस राजनीति में बहुत शिद्दत से लगे थे। मैं इसमें उतनी रुचि नहीं ले पाता था। सुनीलजी इस सबके साथ-साथ कैंपस में बसी एक मजदूर बस्ती में बच्चों को पढ़ाते थे। साथ ही जसवीर, चेंगल और सुनीलजी मिलकर समता इरा नामक अंग्रेजी की मासिक पत्रिका भी निकालते थे। ये मेरे मन का काम था। जनेवि के हास्टल में समता-इरा के प्रूफ पढ़ना, उसके बंडल बनाना, डाक से भेजने के लिए पते लिखना, यह सब काम सुनीलजी के साथ मिलकर करते थे। सुनीलजी के लिए कोई काम छोटा नहीं था। जनेवि के दिनों से लेकर बाद तक जो काम हाथ से संभव था, सुनीलजी स्वयं करते थे - चिट्ठी लिखना, मिन्ट्स बनाना, दरी बिछाना, कपड़े धोना आदि। यूं भी किशन पटनायक के आभा मंडल में सामान्य नेता जैसे लटके-झटके की

तवा मत्स्य संघ का दौर सुनील जी के जीवन का सबसे सुन्दर अध्याय था। उन दिनों उनके चेहरे पर एक खास चमक और संतुष्टि दिखाई देती थी. शायद वह प्रयोग 'संघर्ष और निर्माण' की उनकी परिकल्पना का प्रतिरूप था। उसमे विकल्प-विचार का एक अनूठा प्रयोग था. इस प्रयोग में अंतिम व्यक्ति को केंद्र में रखकर राजनीतिक संगठन बनाने की आकांक्षा को शुरूआती सफलता मिली।

कोई गुंजाइश नहीं थी। उन्हीं दिनों 1982 के छात्र संघ चुनाव में सयुस-गठबंधन ने वाममोर्चे को शिकस्त दी। हमारे उम्मीदवार नलिनी रंजन मोहन्ती (बाद में देश के वरिष्ठ पत्रकार बने) छात्र संघ के अध्यक्ष चुने गए। सुनीलजी ने महासचिव के लिए चुनाव लड़ा पर वे चुने नहीं गए। उस अनुभव की समीक्षा करते हुए मैंने पहली बार सुनीलजी को व्यथित देखा। संगठन के भीतर तिकड़म से वे आहत थे, और मैं भी। लेकिन, इससे संगठन के प्रति उनकी निष्ठा

में रत्तीभर कमी नहीं आई। तब से लेकर हाल तक सुनीलजी के साथ अलग-अलग संगठनों में काम करने का मौका मिला, उन्होंने कभी अपने आप को संगठन से बड़ा नहीं माना- उन संगठनों में भी नहीं जिनकी स्थापना उन्होंने स्वयं की थी। एक-दो बार मैंने संगठन के निर्णय से असहमत होने पर उन्हें अनुपस्थित रहते तो देखा, लेकिन संगठन का विरोध करते नहीं। संगठन की बैठकों में सुनीलजी अपनी बात बहुत साफगोई से कहते; कभी-कभी तीखेपन के साथ भी, लेकिन संगठन के बाहर उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया।

1983 में असम आन्दोलन का समर्थन करने के लिए दिल्ली से गोहाटी तक की सायकिल यात्रा का विचार सुनीलजी का ही था। इस यात्रा के अलग-अलग पड़ाव से

सुनीलजी के पोस्टकार्ड आते। उनमें से एक पोस्टकार्ड अब भी याद है। पूर्णिया जिले से भेजे पोस्टकार्ड में सुनीलजी ने रेणु का मैला आंचल का हवाला देकर वहां की प्रकृति का वर्णन किया था। वैसे वे साहित्य के बहुत रसिक नहीं थे और मुझे साहित्य और संस्कृति को उसकी राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से देखने वालों के अंदाज से शिकायत रहती थी। पत्राचार में वे हमेशा बहुत नियमित रहे। ई-मेल और एसएमएस का जमाना आने से पहले सुनीलजी के पोस्टकार्ड नियमित रूप से आते रहते थे। कई अन्य बातों की तरह मैंने इसमें भी सुनीलजी का अनुकरण करने की कोशिश की। लेकिन अन्य बातों की तरह इसमें भी मैं असफल हो गया।

उन बातों में सबसे बड़ी बात थी पूर्णकालिक राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में जीवन जीने का उनका फैसला। इस फैसले से किसी को हैरानी नहीं हुई। सुनील लीक से हटकर कुछ काम करेंगे, इसकी सबको आदत पड़ गई थी। फिर भी होशंगाबाद के आदिवासी अंचल में जाकर बसने का उनका संकल्प कई लोगों को अव्यावहारिक लगा था। उन्हें कम जाननेवाले कुछ दोस्तों ने तो कहा था कि यह प्रयोग साल-छः महीने से ज्यादा नहीं चलेगा। शुरू में तो सहेली गांव में बहुत रमणीक जगह जाकर बसने का मौका मिला। लेकिन बाद में वे पड़ोस के गांवे केसला में आ गए। उन दिनों होशंगाबाद जाने से स्वप्नों की प्रयोगशाला-सा आभास होता था। आर्थिक अभाव से जूझते सुनील और स्मिता (तब तक शिउली - उनकी बिटिया भी आ चुकी थी) संघर्ष के उनके साथी राजनारायण, प्यारे और झक्की आलोकजी और सपरिवार आ बसे सुरेंद्रजी झा के घर के पास की छोटी-सी नदी में नहाने का सुख ही कुछ और था। कुछ ही दूर सेना का प्रूफ-रेंज था, जहां लड़कों के साथ प्रूफ रेंज में घुस कर उन्हें गोला-बारूद के बीच फटे हुए (या जिन्दा) गोलों के शेल को बीनते हुए देखने का खौफ और रोमांच, आज भी मुझे याद है। सुनीलजी की जगह और कोई होता तो बोरिया-बिस्तर समेट कर वापिस एक मध्यमवर्गीय जीवन में लौट आता। लेकिन सुनीलजी ने मुश्किलों से हार नहीं मानी। सुनीलजी, स्मिताजी, शिउली और बालू पड़ोस के गांव केसला में रहने लगे। आदिवासी समाज के बीच उन्हीं की तरह रहते हुए उन्होंने तीस साल गुजार दिए। दूर से स्नेह-प्रशंसा या रोमांस करने की बजाय, साथ रहकर एक साथ काम, संगठन और झिंक-झिंक का कठिन रास्ता सुनीलजी को पसंद था।

तवा मत्स्य संघ का दौर सुनीलजी के जीवन का सबसे सुन्दर अध्याय था। उन दिनों उनके चेहरे पर एक खास चमक और संतुष्टि दिखाई देती थी। शायद वह प्रयोग 'संघर्ष और निर्माण' की उनकी परिकल्पना का प्रतिरूप था। उसमें विकल्प-विचार का एक अनूठा प्रयोग था। इस प्रयोग में अंतिम व्यक्ति को केंद्र में रखकर राजनीतिक संगठन बनाने की आकांक्षा को शुरुआती सफलता मिली। इस प्रक्रिया में कई नए साथी जुड़े और इसने हम सब का आत्मविश्वास बढ़ाया। उन दिनों कई बार मुझे केसला जाने का मौका मिला। जब दिग्विजय सिंह की सरकार उस प्रयोग को बंद करने पर तुली थी, तब एक स्वतंत्र जांच दल की ओर से जन सुनवाई करने भी मैं वहां गया था। उस जांच दल में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर रथ, ज्या ट्रेंज, मिहिर शाह, और राजेंद्र सिंह शामिल थे। इनके साथ घूमते हुए मैं समझ पाया कि सुनीलजी ने किस बारीकी और गहराई से इस प्रयोग को खड़ा किया था। प्रोफेसर रथ ने समझाया कि कैसे यह प्रयोग देश भर में सहकारिता के लिए एक नमूना बन सकता है। इसी दौर में मैंने सुनीलजी की अनासक्ति और साहस का नमूना देखा। अगर वे चाहते तो अन्य कई एनजीओ या जनसंगठनों की तरह दिग्विजय सिंह से समझौता कर अपने प्रिय प्रयोग को बचा सकते थे। लेकिन यह राजनीतिक समझौता उन्हें मंजूर न था। कांग्रेस के खिलाफ समाजवादी जन परिषद ने चुनाव लड़े और शायद उसके दंडस्वरूप दिग्विजय सिंह ने तवा मत्स्य संघ का लाइसेंस रद्द कर दिया। अपने बच्चे से भी ज्यादा प्रिय इस प्रयोग के खतम होने का दंश सुनीलजी को था।

सफलता-असफलता से सुनीलजी के निर्विकार रिश्ते के बारे में अक्सर सोचता रहा। जाहिर है उन्होंने सफलता को कभी नहीं पूजा, असफलता के डर से कभी कोई समझौता नहीं किया। लेकिन तवा मत्स्य संघ के प्रयोग में मिली सफलता के परिणाम को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। मुझे महसूस हुआ था कि उस सफलता से उनका व्यक्तित्व बड़ा हुआ था, दृष्टि में उदारता आई थी और राजनीति धारदार बनी थी। चाहे उन्होंने कभी कहा नहीं लेकिन बाद की असफलताओं ने उन पर कहीं-न-कहीं असर डाला। चाहे तवा मत्स्य संघ का बंद होना हो या फिर चुनावी राजनीति में समाजवादी जन परिषद् और स्वयं उनकी विफलता या फिर देश की राजनीति में जन आंदोलनों का सीमित या सिकुड़ती भूमिका। इन सबका सुनीलजी पर असर दिखता था। आखिरी दौर में उनके आशावादी

व्यक्तव्य के पीछे एक थकान की परछाई दिखाई देती थी। समय की धार के खिलाफ खड़े रहने के उनके साहस में कहीं इतिहास से शिकायत का भाव सुनाई देता था। अपनी पीढ़ी के साथियों-सहयोगियों के प्रति शालीनता और उदारता के बावजूद उनमें मन की सिकुड़न का आभास होता था। सफलता के लिए तनिक भी समझौता न करने के उनके साहस के प्रति श्रद्धाभाव के साथ-साथ कहीं यह विचार भी कौंधता था कि कहीं वो असफलता को धर्म तो नहीं बना रहे। अगले ही क्षण लगता था कि मैं अपनी कमजोरियों को ढांपने की कोशिश कर रहा हूँ।

सुनीलजी के प्रति आकर्षित होने का पहला कारण उनकी वैचारिक प्रतिभा थी (पिछले तीन दशक में हमारे अनेक मतभेद हुए, जिनका जिक्र मैं बाद में करूँगा। लेकिन उनके वैचारिक ओजस्विता के प्रति श्रद्धा में कभी कमी नहीं आई। चाहे जो मुद्दा हो, उस पर सुनीलजी का विचार जानने की उत्सुकता बनी रहती थी। उनकी विशेषता थी बहुत जटिल से जटिल मुद्दों की सारी बारीकियों को समझ कर उसे सरल तरीके से और राजनैतिक दृष्टि से समझाना। डंकल प्रस्ताव (जो बाद में विश्व व्यापार संगठन का आधार बना) पर उनकी पुस्तिका इसका उत्कृष्ट नमूना थी। उस पुस्तिका ने देश भर में हजारों कार्यकर्ताओं को वैश्वीकरण के बारे में एक स्पष्ट सोच दी। हर बजट पर सुनीलजी की टिप्पणी वो बहुत कुछ सिखाती थी जो कि अर्थशास्त्रियों और आर्थिक पत्रकारों की नुकाचीनी में गुम हो जाता था।

सुनीलजी का लेखन तार्किक और सुव्यवस्थित प्रस्तुति का उत्कृष्ट नमूना था। सामायिक वार्ता का संपादन करते समय मैंने अनेक सहयोगियों के लेखन पर लाल पेन से काटापीटी करने की धृष्टता की थी। लेकिन सुनीलजी का लेख इतना नपा-तुला होता था कि उसमें एक पंक्ति हिलाने की भी गुंजाइश नहीं होती थी। मुझे अक्सर लगता था कि विश्वविद्यालयों में पढ़ने-पढ़ाने वाले लोग तार्किक सोच और प्रस्तुति में सुनीलजी से सीख सकते हैं। भाषा में रस और अलंकार की कमी कभी-कभार खटकती थी लेकिन इसके

पीछे कमजोरी नहीं अनुशासन था। भाषा के प्रवाह और शब्दों के लालच में विचार न बह जाएं इसका आग्रह था। यही अनुशासन उनके बोलने में भी था, न लफ्फाजी, न चालाकी, न किसी तरह की अतिशयोक्ति। सुनीलजी को सुनने-पढ़ने से यह भरोसा जगता था कि विचार भाषा को साध सकता है।

विचार की इस सहज साधना के चलते सुनीलजी राजनैतिक कार्यकर्ताओं की दो बीमारियों से एकदम मुक्त थे। पहली बीमारी है विचारहीनता की। अक्सर जमीनी राजनीति करने वाले कार्यकर्ता पढ़-लिख न पाने की अपनी अक्षमता या मजबूरी को एक उपलब्धि की तरह पेश करते हैं। अच्छे-खासे डिग्रीधारी कार्यकर्ता भी अक्सर राजनीति करते वक्त सोच-विचार के झंझट से बचते हैं। व्यावहारिक राजनीति की दुहाई देकर या फिर जमीनी अनुभव का हवाला

*सुनील जी हमारी पीढ़ी के विकल्प-
विचार के अग्रिम चिंतक थे। विकास
की वैकल्पिक अवधारण और उसे
हासिल करने के लिए वैकल्पिक
राजनीति सुनील जी के लेखन- चिंतन
का प्रमुख विषय था। बड़ी पूंजी पर
आधारित औद्योगीकरण, बड़ी मशीन,
बड़े बाँध, केन्द्रीयकृत राजसत्ता और
बड़े मीडिया तंत्र - इन सबका
विकल्प ढूँढना उनका प्रमुख विषय
था।*

दे कर गहरी सोच-विचार से कन्नी काट लेते हैं। सुनीलजी को विचार साधना का न तो अवकाश था, न ही उसके साधन उपलब्ध थे। लाइब्रेरी, किताबें, पत्रिकाएं, और कई बार अखबार भी उन्हें नियमित रूप से नहीं मिल पाते थे। फिर भी जहां तक संभव होता था वे लिखने से पहले तथ्यों की जांच करते थे, हिंदी-अंग्रेजी में उपलब्ध प्रासंगिक सामग्री को पढ़ते थे और देश-दुनिया के बड़े बदलाव से हर घटनाक्रम को जोड़ कर देखते थे। बाद में कभी सुनीलजी के सैकड़ों

लेखों को पढ़नेवाले को शायद यकीन न हो कि यह लेख एक राजनैतिक कार्यकर्ता ने लिखे थे। और वह भी केसला जैसी जगह में रहते हुए।

दूसरी बीमारी से बचाना इससे भी बड़ी उपलब्धि थी। वैचारिक राजनीति करने वाले कार्यकर्ता अक्सर वैचारिक कठमुल्लावाद का शिकार होते हैं। कदम-कदम पर कोई मार्क्स का हवाला देता है, कोई गांधी का, तो कोई अंबेडकर या लोहिया का। वैचारिक कार्य का एक ही उद्देश्य माना जाता है अपने विचार का प्रचार-प्रसार। वैचारिक बहसों को वैचारिक ईष्ट देवता के उद्धरण से निपटा दिया जाता है। मार्क्सवादी दायरों में तो वैचारिकता अक्सर अकादमिक किस्म के बुद्धि विलास का रूप ले लेती है। यूरोपीय इतिहास

के नजीर देकर और नाना किस्म की शाब्दिक बहसों के जरिए राजनैतिक बहस होती है। सुनीलजी इस कठमुल्लावाद और बुद्धि विलास से दूर रहकर विचार साधना की एक मिसाल थे। गांधी, लोहिया व जयप्रकाश की परंपरा के वारिस होने के बावजूद सुनीलजी कभी-कभार ही इनका हवाला देते थे। किशनजी के शिष्य थे, लेकिन उनसे असहमति व्यक्त करने में कोई हिचक नहीं थी। कहीं कोई आग्रह नहीं था कि हर नए सवाल का जवाब पुराने ग्रंथों में ढूंढा जाए।

सुनीलजी हमारी पीढ़ी के विकल्प-विचार के अग्रिम चिंतक थे। विकास की वैकल्पिक अवधारणा और उसे हासिल करने के लिए वैकल्पिक राजनीति सुनीलजी के लेखन-चिंतन का प्रमुख विषय था। बड़ी पूंजी पर आधारित औद्योगीकरण, बड़ी मशीन, बड़े बांध, केंद्रीकृत राजसत्ता और बड़े मीडिया तंत्र- इन सबका विकल्प ढूंढना उनका प्रमुख विषय था। लेकिन समता का आग्रह उन्हें अन्य विकल्पवादियों की तरह रूमानी होने से रोकता था। 21वीं सदी के समाजवाद के बारे में उनका लेखन सोवियत संघ के विघटन के बाद समतामूलक विचार को नए संदर्भ में पुनर्परिभाषित करने की एक मानीखेज कोशिश थी। इसी तरह वैकल्पिक राजनीति के बारे में उनकी 'पंचमुखी राजनीति' की अवधारणा लोहिया के जेल-वोट-फावड़ा के फार्मूले से आगे बढ़ कर सोचने की कोशिश की थी। वैकल्पिक राजनीति कुछ बुनियादी मायने में वैकल्पिक बनी रहे, इस पर सुनीलजी कोई समझौता करने को तैयार नहीं थे। राजनीति में व्यावहारिकता के नाम पर कोई समझौता करने के लिए तैयार नहीं रहे। चाहे इसकी कीमत हाशिए पर रहकर चुकानी पड़े।

जीवन के तीन दशक वैचारिक जगत में गुजारने के बाद मैं कुछ चंद ही लोगों से मिला हूँ जो विचार के बारे में इतनी सम्यक दृष्टि रखता हो जितनी सुनीलजी रखते थे। ना विराग-ना अनुराग, ना तिरस्कार-ना मोह। सोचना-बोलना और लिखना सुनीलजी के लिए जीवन जीने का एक सहज हिस्सा था। कर्म और बुद्धि का ऐसा संतुलन बिरले ही मिलता है। इतना सब होने के बावजूद सुनीलजी को आत्मश्लाघा छू तक नहीं गई थी। जनेवि में उनकी प्रतिभा और उनके ग्रेड के कई किस्से प्रचलित थे। लेकिन मैंने सुनीलजी को कोई ऐसा किस्सा सुनाते या उसका रसास्वादन करते कभी नहीं सुना। उन्होंने हर भौतिक सुख-सुविधा को छोड़ा लेकिन मजाल कि कोई उनकी उपस्थिति में उनके त्याग का जिक्र भी कर

दे। एक बार मैंने ये धृष्टता की थी। 2009 के लोकसभा चुनाव में उनके समर्थन में एक जनसभा को संबोधित करते हुए मुझे लालच हुआ कि मैं श्रोता और वोटों को बता दूँ कि सुनीलजी क्या कुछ बन सकते थे और क्या कुछ झेलकर इस इलाके में संघर्ष करते रहे हैं। मैंने अपने पुराने संबंध का हवाला देकर उनके त्याग और बलिदान की गवाही दी। त्याग और बलिदान का ढिंढोरा पीटने के इस युग में कोई भी नेता इस गवाही का सम्मान करता या फिर झूठी विनम्रता दिखाते हुए अपनी महानता का रेखांकित करता। सुनीलजी ने सभा में तो कुछ नहीं कहा लेकिन सभा के बाद अलग ले जाकर कहा कि आइंदा मैं ऐसी बातें न बोलूँ तो अच्छा रहेगा। खुदी को इस हद तक मिटानेवाले विरले ही मिलते हैं। और राजनीति में शायद बिलकुल नहीं मिलते।

पिछले दस-बारह बरस में सुनीलजी से एक दूरी भी बनी जिसका जिक्र किए बिना यह संस्मरण अधूरा रह जाएगा। समाजवादी जन परिषद् बनने के पहले कुछ साल में सुनीलजी के साथ काम करने और उनसे सीखने के कई मौके मिले। मेरा मन जन परिषद् की राजनीति और सीएसडीएस के अकादमिक जीवन के बीच बंटा रहता था। सुनीलजी अपने तरीके से मुझे राजनीति में पूरी तरह आने को प्रेरित करते रहते। उनका न्यौता स्वीकार न कर पाने का अपराध बोध मुझे सताता था। सुनीलजी को मेरा टीवी पर चुनाव विश्लेषण करना कतई पसंद नहीं था। क्योंकि उनकी निगाह में यह एक गंभीर काम से भटकाव था। मुझे यह बुरा नहीं लगा चूंकि मन की बात साफ-साफ कहना उनका स्वभाव था। कुछ समय बाद एक प्रसंग में मुझे लगा कि वे निर्मोही ही नहीं निर्मम भी हो सकते हैं। मैंने कभी सोचा न था कि अपनी पूरी नैतिक ताकत के साथ आरोप लगाती सुनीलजी की उंगली एक दिन मेरी तरफ उठेगी। मैं अंदर तक हिल गया। शायद सुनीलजी को स्वयं अहसास नहीं था कि उनकी अस्वीकृति का बोझ मेरे लिए कितना भारी हो सकता था। उस वक्त किशनजी ने बीच बचाव कर दिया था। और बात टल गई थी। लेकिन उसके बाद से हम पूरी तरह सहज नहीं हो सके।

किशनजी के जाने के बाद यह दूरी धीरे-धीरे बढ़ती गई। समाजवादी जन परिषद् ढीली पड़ती जा रही थी। साथी बिखरते जा रहे थे। किशनजी के राजनैतिक उत्तराधिकारी होने के नाते संगठन को दिशा और नेतृत्व

देने की जिम्मेदारी सुनीलजी के कंधों पर आन पड़ी। उन्होंने अपनी तरफ से पूरी कोशिश भी की लेकिन परिस्थितियाँ अनुकूल न थी। मुझे यह भी लगता था कि जन-आंदोलनों की ऊर्जा को राजनीतिक दल में बदलने के लिए जिस समझ और योजना की जरूरत थी वह जन परिषद में नहीं थी। जन परिषद चुनावी राजनीति का हिस्सा तो बनी रही लेकिन उसकी बुनियादी जरूरत वो नजरअंदाज कर रही थी। चुनावी राजनीति में प्रभावी दखल के लिए जरूरी था कि चुनाव बड़े पैमाने पर लड़ा जाए, सभी तत्वों को जोड़ा जाए, अधिकांश लोगों की चिंताओं और मुद्दों का समावेश हो और सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा हो। सजप इन जरूरतों की ओर पीठ मोड़कर खड़ी थी। लेकिन संगठन में इस बात को मैं प्रभावी रूप से नहीं रख पाया। ऐसा लगता था कि अगर मैं पूर्णकालिक तौर पर नहीं कर सकता तो मुझे सीख देने का अधिकार नहीं है। किशनजी के बाद वार्ता के संपादन का काम मुझे सौंपा गया था। लेकिन मैं इस जिम्मेदारी के साथ न्याय नहीं कर पा रहा था। सुनीलजी इससे काफी परेशान होते थे। ऐसे में उन्हें संगठन के बारे में सीख देने का मेरा अधिकार नहीं बनता था। चुनावी राजनीति में प्रभावी दखल की अपनी समझ पर जोर देने का मतलब होता सुनीलजी के खिलाफ खड़ा होना। मेरे लिए यह संभव नहीं था। नतीजतन मैं जन परिषद में लगभग निष्क्रिय सा हो गया। 2009 में लोक राजनीतिक मंच के प्रयोग के समय फिर कुछ सक्रिय हुआ लेकिन ऐसा लगा कि बड़ी राजनीति के लिए जो बड़ी समझ और बड़ा मन चाहिए वह हममें से किसी के पास नहीं था।

सुनीलजी से अंतिम और लंबा संवाद आम आदमी पार्टी की स्थापना के समय हुआ। सुनीलजी पहले दिन से अन्ना आंदोलन के आलोचक थे। जन लोकपाल आंदोलन के कुछ सकारात्मक पक्षों को स्वीकार करते हुए उन्होंने इस आंदोलन की कमजोरियों और खतरों को रेखांकित किया। मेरे सहित कुछ अन्य साथियों का मूल्यांकन बिलकुल विपरीत था। हमने इसकी कमजोरियों और खतरों को स्वीकार करते हुए इस आंदोलन का खुलकर स्वागत और समर्थन किया। यह असहमति एक साल तक चली लेकिन जब अगस्त 2012 में नई पार्टी बनाने का फैसला हुआ तो एक निर्णय करना अनिवार्य हो गया। अजित झा, सोमनाथ त्रिपाठी, शिवपूजन सिंह और मुझ जैसे कई साथी चाहते थे कि इस नए प्रयोग से जुड़ा जाए। हम साथियों का मानना था कि वैकल्पिक राजनीति के जितने भी प्रयोग हुए हैं उसमें इस

प्रयोग के असरदार होने की सबसे ज्यादा संभावना है। इस प्रयोग में जोखिम है लेकिन इस जोखिम को उठाए बिना कोई रास्ता नहीं। इसका सबसे मुखर विरोध सुनीलजी ने किया। उनका मानना था कि इस नई पार्टी की वैचारिक दिशा स्पष्ट नहीं है। कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर इसकी दिशा का कोई ठिकाना नहीं है और इसकी निर्णय लेने की प्रक्रिया का भरोसा नहीं है।

यह बहस उत्तर बंगाल में जुगलदा द्वारा स्थापित समता केंद्र में सितंबर 2012 में आधी रात के बाद तक चली। इस बहस में दोनों पक्ष एक दूसरे को समझाने में असमर्थ रहे। दोनों तरफ के तर्क मजबूत और तीखे थे लेकिन अशालीन नहीं थे। ऐसा कुछ नहीं हुआ कि संवाद का सूत्र टूट जाए। अंततः बहुमत से फैसला करने की बजाय हम कुछ साथियों ने जन परिषद छोड़ने का फैसला किया।

पार्टी छोड़ने के बाद भी सुनीलजी से संवाद बना रहा। आम आदमी पार्टी के बारे में सुनीलजी की आलोचना में भी मर्यादा बनी रही। अहम या ईर्ष्यावश अनर्गल आरोप लगाने से उन्होंने हमेशा परहेज किया। दिल्ली विधानसभा चुनाव के समय सुनीलजी आम आदमी पार्टी की चुनावी सभाएं देखने आए। पार्टी के हनुमान रोडवाले दफ्तर में आकर उन्होंने जायजा लिया और पार्टी के दस्तावेज भी ले गए। उस आखरी राजनीतिक संवाद में उन्होंने माना कि यह पार्टी दिल्ली के गरीब तबके में अपना पैठ बना पाई है। लेकिन इतना भर उनके लिए पर्याप्त नहीं था। पार्टी की वैचारिक दिशा को लेकर उनके संदेह बरकरार थे। 'हो सकता है तुम लोग सफल हो जाओ लेकिन इस सफलता से हासिल क्या होगा' उन्होंने पूछा। इस सवाल का जवाब आज भी मेरे पास नहीं है। इस संवाद में कौन सही था और कौन गलत इसका फैसला आज से बीस- तीस बरस बाद हो सकेगा।

किसी बड़े शख्स के बारे में उसे पढ़ते-सुनते और उसे नजदीक से अपनी आंखों से देखने में एक बुनियादी फर्क है। पढ़-सुन कर ग्रहण की गई महानता भारी लेकिन सुपाच्य होती है। देश और काल का फासला उस शख्स को एक इन्सान से मूर्ति में बदल देता है- कमजोरियां ओझल हो जाती हैं। और गुण तमाम अलंकार धारण कर किंवदंती और मिथक में बदल जाते हैं। लेकिन सुनी-पढ़ी महानता हमें डराती नहीं, हमारी अपूर्णता का अहसास नहीं कराती, पलटकर हम पर उंगली नहीं उठती। आंखों देखी महानता ज्यादा दिक्कत पेश करती है लेकिन ज्यादा गहरा

छूती भी है। एक हाड-मांस के इन्सान को साधारण तरीके से मिलना उसकी असाधारणता को नजरों से ओझल कर सकता है। या फिर अपनी समझ पर यह एहसास हावी हो जाता है कि वह शख्स मेरे बारे में क्या सोचता है। लेकिन यही नजदीकी हमारे व्यक्तित्व पर ज्यादा गहरी छाप छोड़ती है। ऊंचे कद का हमउम्र हमें एकाएक छोटा या बड़ा कर सकता है।

सुनीलजी का हमसफर होना कुछ ऐसा ही अनुभव था। उन्हें देखना अपने आप ऊंचाइयों की तरफ ले जाता था। पलटकर अपनी ओर देखना कई बार कमतरी के एहसास को जगाता था। लेकिन अपनी आंख के सामने अपने समवयस्क इस अद्भुत व्यक्तित्व को चलते-फिरते

देखना अपनी कमियों से बाहर आने का रास्ता भी दिखता था। सुनीलजी वो थे जो वो होना चाहते थे, जो मेरे जैसे कई लोग होना चाहते थे, लेकिन हो नहीं पाए। जो उन्हें एक बार भी मिल लेता था उस पर कहीं न कहीं सुनीलजी की छाप अंकित हो जाती थी। यह छाप रोमांचित भी करती थी, तंग भी करती थी। शायद आंखों देखी महानता की यही दुविधा होती थी जो उनके नजदीक जाने को लालायित करती थी, मगर बीच-बीच में दूरी की जरूरत भी पैदा करती थी। यह दूरी उनकी छाप को हल्का नहीं, और गहरा करती थी। हर दूरी एक बार फिर नजदीकी की चाह पैदा करती थी।

लेकिन इस बार की दूरी एक अलग किस्म की है। सुनीलजी की अदृश्य उपस्थिति की छाप गहराती जा रही है।

सुनील भाई

डॉ. रणजीत

मुझे खेद है कि सुनीलजी मुझे अपने से अधिक अंतरंग परिचय का अवसर दिए बिना ही चले बसे। उनसे कुल तीन-चार बार ही भेंट हुई। 1984 में पहली बार 'समता संगठन' के रांची सम्मेलन में संभवतः उनसे मिलना हुआ था, जब किशनजी ने वार्ता में मेरा एक लेख 'मार्क्सवाद, लेनिनवाद और स्वाधीनता' पढ़कर मुझे सम्मेलन में आमंत्रित किया था। बाद में दो बार मैंने तवा बांध विस्थापितों की सहकारी समिति के काम को निकट से देखने के लिए केसला आने का उपक्रम किया। पर आ न सका।

लेकिन मैं उनके लिखे हुए लेख बराबर पढ़ता रहा और पसंद करता रहा। वे जनपक्ष के एक सुलझे हुए अर्थशास्त्री तो थे ही, जनाधिकारों के लिए लड़ने वाले एक जुझारू आंदोलनकारी भी थे। वास्तव में वे एक सच्चे क्रांतिकारी थे, भगतसिंह की परंपरा के एक अहिंसक क्रांतिकारी। ज्यादातर निरर्थक या स्वार्थ का जीवन जीने वाले हम जैसे बुद्धिजीवी संस्कृतिकर्मियों से अलग, उन्होंने एक सार्थक, सक्रिय और भरापूरा जीवन जीया। मैं उनकी स्मृति को सलाम करता हूँ।

सश्रद्ध नमन

सीताराम सिंह

सुनीलजी के निधन से समाजवादी विचारधारा की गहरी क्षति हुई है। जिसकी निकट भविष्य में पूर्ति होने की संभावना नहीं है। सुनीलजी अग्रगामी सोच दूरदृष्टि रखने वाले प्रखर विद्वान थे। जिन्होंने जेएनयू का रिकार्ड तोड़ा था। आने वाली पीढ़ी उनको याद करते हुए उनसे प्रेरणा लेगी।

किशन पटनायक की राजनीति को आगे बढ़ाने वालों में सुनील आखिरी व्यक्ति रह गए थे, जिनकी कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। सामयिक वार्ता का संपादन भी अत्यंत कुशलता से सुनील कर रहे थे। वैश्वीकरण के खतरों से लगातार सावधान करते हुए उन्होंने विकास का वैकल्पिक मॉडल भी सामने रखा था। सुनील को सश्रद्ध याद करते हुए मैं उनको नमन करता हूँ।

संस्कारों की महक

कश्मीर उप्पल

सुनील का नाम मैंने पहली बार इंदौर के लोकप्रिय अखबार 'नई दुनिया' में पढ़ा था। इस अखबार के स्तंभ 'पत्र संपादक के नाम' में सुनील का एक पत्र 1980 में छपा था। यह पत्र केसला के आदिवासियों के विस्थापन से जुड़े प्रश्नों को उठानेवाला था। अतः हमें लगा कि सतलुज हॉस्टल, दिल्ली का यह सुनील कौन है जो हमारे क्षेत्र की समस्याओं पर लिख रहा है।

इन्हीं दिनों आपातकाल के बाद केंद्र में जनता सरकार बन गई थी। 1977-78 में इटारसी में समाजवादी विचारक इकट्ठे हुए थे, उनमें किशन पटनायक और सच्चिदानंद सिन्हा प्रमुख थे। हमें पता चला कि केसला के पास सहेली गांव में लोहिया-अकादमी बन गई है। इस हेतु जमीन भी उपलब्ध हो गई है। इस अकादमी में इटारसी के साथी राजनारायण रहने लगे थे।

राजनारायण मेरे पास आता रहता था। वह पढ़ने के लिए पुस्तकें ले जाता था। राजनारायण ने कुछ ही समय में केसला में आदिवासी भाई-बहनों को संगठित कर लिया था। विस्थापन का दौर चल रहा था। पुलिस और वन विभाग से आदिवासियों को कई शिकायतें रहती थीं। राजनारायण केसला के बाजार में धरना प्रदर्शन करता था।

मेरे परिवार ने 1980 में इटारसी से एक साप्ताहिक अखबार शुरू किया था। इसमें राजनारायण के आंदोलन की खबरें विस्तारपूर्वक प्रकाशित होती रहती थीं। 1981 में राजनारायण एक दुबले-पतले छात्र से दिखनेवाले युवक को साथ लेकर आया। कमीज फुलपेंट में यह सुनील ही था। शुरू-शुरू में लगता रहा दिल्ली का यह छात्र आदिवासियों के विषय में शोध अध्ययन को पूरा कर वापस दिल्ली चला जाएगा।

सुनील के आने के बाद केसला में धरना प्रदर्शन बढ़ने लगे। केसला में होनेवाला आंदोलकारियों का धरना प्रदर्शन अब इटारसी और होशंगाबाद तक होने लगा। यहां बड़े अधिकारी रहते थे। अधिकारियों ने आंदोलनकारियों से बातचीत करना शुरू कर दिया था। समाचार पत्रों में केसला के समाचार प्रमुखता से छपते। प्रेस के लोग भी केसला

पहुंचने लगे थे।

एक दिन केसला से सैंकड़ों आदिवासी पैदल मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल के लिए चल पड़े। राजधानी में इतनी बड़ी संख्या में आदिवासियों को देख तत्कालीन मुख्यमंत्री मोतीलाल बोरा ने उनकी समस्याएं सुनी और सभी आदिवासियों को सरकारी बसों द्वारा केसला तक पहुंचाया गया। अब केसला की आवाज पूरा देश सुन रहा था।

राजनारायण ने आदिवासियों को हाथ उठा जिंदाबाद कहना सिखाया था तो सुनील ने अपने अधिकारों के लिए लड़ना सिखाया। राजनीति का मतलब केवल सत्ता प्राप्त करना नहीं बल्कि सत्ता से अपने अधिकार प्राप्त करना भी बन गया था। अधिकांश लोग तो यह समझ ही नहीं पाते थे कौन सुनील है और कौन राजनारायण। खादी के कुरते पायजामे, टायर की चप्पल और लगभग एक सी दाढ़ीवाले इन दुबले-पतले आंदोलनकारियों में समझना मुश्किल होता था कौन क्या है। दोनों के आभूषण थे धरना, प्रदर्शन और जेल। इनका संयुक्त नाम चलता था राजनारायण सुनील या सुनील राजनारायण।

आदिवासी क्षेत्र में पुलिस और वन विभाग की खाकी वरदी का आतंक लगभग समाप्त हो चला था। हर आतंक का जवाब धरना प्रदर्शन बन गया था। यह आदिवासियों का ऐसा स्वराज था जिसमें सरकारी कर्मचारी घूस में लिए ऐसे लौटाते थे। आदिवासियों के घर का जब्त किया सामान उन्हें वापस मिल रहा था। इस आंदोलन से भयमुक्त समाज की स्थापना लगभग हो गई थी। जब आंदोलन भूख-मुक्त समाज की ओर आगे बढ़ रहा था।

राजनारायण के आकस्मिक निधन से यह आंदोलन ठिठका जरूर पर फिर आगे बढ़ चला। सुनील के आंदोलन में कई साथी उभरकर सामने आने लगे। सुनील का बीजमंत्र था सवाल उठाना और उत्तर पाना।

तवा जलाशय में मत्स्य सहकारिता का प्रयोग सुनील का भूख के विरुद्ध लड़ाई का मॉडल था। इस सहकारिता ने करोड़ों रुपयों की मछली का उत्पादन किया था। यह सुनील



साथी राजनारायण के साथ गिरफ्तार

की संगठन और प्रबंध क्षमता का स्मारक है। किताबों में बंद सहकारिता और स्वावलंबन के सिद्धांतों की फसल केसला में लहलहा रही थी। सुनील ने जंगल में विकास की एक नई इबारत लिख दी थी। पूरे देश में लोग इसे देखने और समझने आते थे। सभी को आश्चर्य था कि कैसे जंगल के जलाशय से

मछलियां देश के महानगरों तक पहुंच रही हैं।

अपने आठ-नौ वर्षों में विकास का यह मॉडल पूरे देश का एक सपना बन रहा था। इन कुछ वर्षों में विकास का यह मॉडल सत्ता से जुड़े लोगों की किरकिरी बन बैठा था। अंततः एक लंबी लड़ाई के बाद पर्यावरण-संरक्षण के नाम से इस आंदोलन को कुचल दिया गया। सुनील के इस महान प्रयोग से हजारों आदिवासियों का जीवन बदल गया था। अपनी घर-गृहस्थी के साथ आदिवासी विकास का मंत्र सीख चुके थे। सुनील ने बेहतर जीवन जीने की कला सिखा दी थी।

आज केसला देश के बड़े-बड़े एनजीओ का केंद्र बन चुका है। कई गैर-सरकारी संगठन केसला के सामाजिक उत्थान के काम में लगे हैं। इन संगठनों को अपना काम करने के लिए जो समाज मिला है उसका आधारभूत ढांचा सुनील का ही बनाया हुआ है। आज इस क्षेत्र के ग्रामीण अंचल में कई स्कूल खुल गए हैं। स्कूली शिक्षा का वातावरण एक नई पीढ़ी को निर्मित कर रहा है। केसला के पास एक सरकारी कालेज भी खुल गया। केसला में कई सरकारी और निजी हॉस्टल हैं जिनमें दूर जंगल के गांव के बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

केसला के सामाजिक जीवन का सत्य यही है कि सुनील द्वारा सामाजिक जागरूकता की जो फसल बोई गई थी वही अब महक रही है। इस क्षेत्र में अब नई-नई समस्याएं हैं साथ ही अन्याय का प्रतिरोध करने का साहस भी है। सुनील की सामाजिक-राजनैतिक शिक्षा के बीज फिर अंकुरित हो रहे हैं।

किसान आदिवासी संगठन का आंदोलन गीत

लड़त जा रे..

वीरेंद्र

लड़त जा रे

लड़त जा रे

हमरे जंगल वारे वीर, लड़त जा रे..

काहे में कट रहे रूख पखेरू

काहे में कुट रहे गांव, लड़त जा रे..

थोक में कट रहे रूख पखेरू

फुटकर कुट रहे गांव। लड़त जा रे..

काहे में खुट गए फूल गंगेरू

काहे हुमस रहे ठांव, लड़त जा रे..

भूख में खुट गए फूल गंगेरू

प्यासे हुमस रहे ठांव। लड़त जा रे..

काहे बरस रहे डब-डब नैना

काहे तरस रहे पांव, लड़त जा रे..

हंसवे बरस रहे डब-डब नैना

बढ़वे तरस रहे पांव। लड़त जा रे..

बढ़त जा रहे.. लड़त जा रे..

हमरे जंगल वारे वीर, लड़त जा रे..

वह जो मेरा भाई था

डॉ. चंद्रशीला गुप्ता

सुनील के चले जाने के बाद से मेरा मन-मस्तिष्क बार-बार भूतकाल में चला जाता है। शायद अवचेतन मन कठोर यथार्थ से पैदा पीड़ा से दूर रहने के लिए पिछले कुछ दिनों के घटनाक्रम को स्मृति से मिटाकर पहले की सुखद स्थिति में रहना चाहता है।

सुनील के बारे में कुछ लिखना इतना आसान नहीं है क्योंकि यह तय करना मुश्किल है कि शुरुआत कहां से करूं क्या वहां से शुरू करूं। जब (1967-69 में) मैं और सुनील रतलाम में लगभग डेढ़-दो किलोमीटर दूर स्कूल रोजाना साथ-साथ जाया करते थे। उम्र में बड़ी होने के नाते उसे साथ लाने की जिम्मेदारी मुझ पर थी लेकिन सुनील लौटता हमेशा अपनी मर्जी से था, कई बार उसे अपने दोस्त के साथ दूसरे लंबे रास्ते से लौटना होता था।

मां 1961 में आगरा प्रवास का एक वाकया सुनाती रही है। जब आगरा में ताजमहल देखने जाने के लिए सब लोग तांगे में बैठने लगे तो दो वर्ष का सुनील तांगे में बैठने को तैयार नहीं था। वह तांगे के पीछे दौड़ते हुए आना चाहता था, कहता था 'मैं तो केला (अकेला) ही आऊंगा। बाद में भी वह कभी भी उंगली पकड़कर चलना पसंद नहीं करता था, उसकी 'केला' चलने की जिद बनी रहती थी। शायद जीवन में भी उसे अकेला ही चलना था, संगी-साथी इधर-उधर आते-उतरते रहे।

उन दिनों फिल्म देखना बहुत अच्छा नहीं समझा जाता था लेकिन हमारे बाबूजी ने हमें अनेक शिक्षाप्रद एवं देशभक्ति फिल्में यथा शहीद, भक्त-ध्रुव, संत ज्ञानेश्वर आदि दिखाई थीं। रतलाम छोड़ने (1969) के लगभग एक वर्ष पहले से सुनील की जिद होने लगी थी कि वह फिल्म देखने न जाकर उतने समय में क्रिकेट खेलेगा। जाते समय उसे रतलाम के पोलो ग्राउंड में छोड़ दिया जाता व लौटते समय वह साथ लौट आता। जबकि उन दिनों फिल्म देखने का मौका दुर्लभ होता था, अगले कई दिनों तक हम अपने साथियों को फिल्म की स्टोरी सुनाने का गौरव प्राप्त करते थे। वैसे सुनील को फिल्म देखना पसंद था, रामपुरा में घर पर यदि फिल्म चल

रही होती तो वह अवश्य देखता था। हां, वह फिल्मों में से सामाजिक-आर्थिक मुद्दे जरूर निकाल लेता था।

1974 में रामपुरा में जब वह हाई स्कूल की परीक्षा दे रहा था तब न तो घर में किसी को भी, न ही उसे स्वयं को कोई अंदाजा था कि वह मध्य प्रदेश की प्रावीण्य सूची में प्रथम स्थान प्राप्त करेगा। वह तो बस हर काम की तरह पढ़ाई भी पूरी लगन से किया करता था। उन दिनों टेलीफोन तो थे नहीं, कन्या उ.मा. विद्यालय, रामपुरा में पदस्थ प्राचार्य श्रीमती चौहान जो ग्रीष्मावकाश होने से अपने गृह-नगर ग्वालियर में थीं, ने जब प्रावीण्य सूची में सुनील का नाम प्रथम स्थान पर देखा तो बधाई का एक तार किया। तब हम सब को पता चला, अचंभे से भरा लेकिन गौरवान्वित पल था पूरे परिवार के लिए। या यूं कहें उसकी विलक्षण शैक्षणिक प्रतिभा का यह पहला मील का पत्थर था।

ग्यारहवीं के बाद जब बाबूजी ने उसे भारतीय सांख्यिकीय संस्थान, कलकत्ता में दाखिले के लिए फार्म भरवाया तो लिखित परीक्षा का नजदीकतम केंद्र था इलाहाबाद। साढ़े पंद्रह वर्ष के सुनील को बाबूजी ने अकेले नीमच-भोपाल बस में बिठा दिया जो सुबह से चलकर रात के 8-9 बजे भोपाल पहुंचती थी वहां से उसे जबलपुर की ट्रेन में बैठना था जहां बड़े मामाजी रहते थे। जबलपुर से मामाजी ने उसे इलाहाबाद के लिए रवाना कर दिया। इलाहाबाद आने-जाने के उसके इस अभियान को अकेले पूरा करते देख मैं बेहद अर्चभित थी।

बाद में लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर बाबूजी उसे साक्षात्कार के लिए कलकत्ता ले गए थे। उसका वहां चयन हो जाने पर पूरे परिवार में खलबली मच गई। बाबूजी एक तरफ मां, दादी, काका वगैरह दूसरी तरफ, इस कम उम्र में इतनी दूर कलकत्ता भेजने को कोई राजी नहीं। अंत में बाबूजी को बात माननी पड़ी और सुनील ने रामपुरा महाविद्यालय में बीए में प्रवेश ले लिया। मैं इसे नियति की तयशुदा घटना मानती हूं अन्यथा बाबूजी भी इतनी आसानी से अपने होनहार बेटे का आईएसआई कलकत्ता में प्रवेश छोड़ते नहीं। नियति ने तो उसके लिए जवाहरलाल नेहरू

विश्वविद्यालय नई दिल्ली नियत कर रखा था जहां उसकी समाजवादी सोच का प्रस्फुटन होना था (यह सोच उसके जीन्स में अपने पिता व दादा से मिला हुआ तो था ही)।

जेएनयू में एमए. मे स्वर्ण पदक प्राप्त करने के बाद उसने शोधवृत्ति लेकर शोध शुरू की, साथ में चलती रही सायकल पर दिल्ली से गुहावटी तक की यात्रा, बाद में दिल्ली अमृतसर यात्रा जैसी सामाजिक सरोकारों वाली गतिविधियां। एमए प्रथम सेमेस्टर में ही एक अंतरराष्ट्रीय शोध-पत्र जिसके खाते में डल चुका हो उसका अकादमिक केरियर कितना शानदार हो सकता है, कम से कम शोध से जुड़े मेरे प्राध्यापक पिता तो समझते ही थे। लेकिन उन्होंने कभी भी उसकी गैर अकादमिक गतिविधियों पर भृकुटि नहीं तानी, दरअसल उन्हें अपने पुत्र के हर कार्य पर अद्भुत भरोसा था।

1983 में जब वह दिल्ली से केसला आकर राजनारायण से मिला वहां से उसे रामपुरा आना था। भोपाल से रामपुरा आते वक्त मात्र एक घंटे के लिए ब्यावरा (राजगढ़) रुका, उस वक्त मैं वहां शासकीय महाविद्यालय में पदस्थ थी। उसने अपने केसला जाने का उद्देश्य बताया, वहां के आदिवासियों का तीन बार विस्थापन होने से उनके लिए काम करने हेतु वहीं रहने की योजना की चर्चा भी की, जो मेरे लिए बहुत सुखद तो नहीं थी। हम घर में आदर्शवादिता के साथ पले-बढ़े थे अतः यह तर्क सामने था कि सेवा के लिए हमारा भाई क्यों नहीं? सो विरोध का कोई तर्क भी नहीं था।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रवेश लेनेवाले छात्रों के भविष्य में या तो संघ लोक सेवा आयोग से चयनित हो जाना होता है या सीधे अमेरिका-यूरोप की राह होती है। एक बार फिर एमए में स्वर्ण पदक पाने से हमें भी सुनील में ऐसा ही कुछ नजर आने लगा था। बाबूजी कहते थे कि आईएएस में जाने से तो सुनील अर्थशास्त्र में शोध को ही अपना कैरियर बनाए तो उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल होगा। मुझे भी अपने भाई में (मैं भी 1978 से 1982 तक शोध से जुड़ी हुई थी) भविष्य का अमेरिका का अर्थशास्त्री या जेएनयू का अर्थशास्त्र का प्राध्यापक तो

नजर आने ही लगा था।

मुझे तो याद है कि उसके केसला में आदिवासियों के बीच कार्य करने के निर्णय से घर में अपेक्षित भूकंप नहीं आया था, हां सारे परिचितों, मित्रों, रिश्तेदारों ने खूब हंगामा मचाया। बेहद आलोचनाएं हुईं, हम परिजनों को भी काफी कुछ सुनना पड़ा, मेरे मन में तो कड़ियों के प्रति कड़वाहट भी हुई। लेकिन सुनील उनसे हमेशा साफ एवं निश्चल मन से मिलता रहा। 1987 में उसके अंतरजातीय विवाह के वक्त दोबारा यह सब दोहराया गया। हमारे घोर शाकाहारी परिवार में बंगाली स्मिता की स्वीकार्यता देखकर मैं स्वयं अपने माता-पिता, खासतौर पर मां पर हैरान थी पर सुनील के किसी कदम का घर में विरोध नहीं था।

एक बेहद महत्वपूर्ण बात जो पिछले तीस वर्षों से उसके निधन तक होती रही, वह थी भद्रजनों से भिन्न उसका

जब आगरा में ताजमहल देखने जाने के लिए सब लोग तांगे में बैठने लगे तो दो वर्ष का सुनील तांगे में बैठने को तैयार नहीं था। वह तांगे के पीछे दौड़ते हुए आना चाहता था, कहता था 'मैं तो केला (अकेला) ही आऊंगा। बाद में भी वह कभी भी उंगली पकड़कर चलना पसंद नहीं करता था, उसकी 'केला' चलने की जिद बनी रहती थी।

रहन-सहन, वंचितों के लिए काम करना आदि। सारे ईश्ट-मित्र, रिश्तेदार पूछते रहते थे, वह घर भी आता-जाता है या नहीं। शायद लोग यहां जरा भी गलत नहीं हैं। हमारे समाज में कोई भी लीक से हटकर बिना अर्थोपार्जन के कोई निरर्थक (जिससे स्वयं को कोई लाभ न पहुंच रहा हो) कार्य करता है तो परिजनों से उसके मतभेद अपरिहार्य माने जाते हैं और यही वजह इस प्रश्न के बार-बार उठने की रही है।

सुनील ने अपने कार्य में

कभी किसी तरह का अनुदान लेना स्वीकार नहीं किया, मेरी एकाध बार उससे इस बारे में चर्चा भी हुई। उसका तर्क था कि अनुदान लेने पर कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं रह पाएगी। मेरा यह आग्रह इसलिए हुआ था कि मुझे उसके अर्थोपार्जन न करने से जुड़ी तमाम आलोचनाओं से वास्ता पड़ता रहता था और अपने ऐसे भाई जिस पर मुझे कितना गर्व था (बताने के लिए समुचित शब्द नहीं हैं मेरे पास) की कोई भी आलोचना मुझे गहराई तक व्यथित करती थी।

हम सभी भौतिक सुख-सुविधाओं से लैस जीवन गुजार रहे थे उसे व उसके परिवार को अति साधारण जीवन व्यतीत करते देख मन व्यथित रहता था खासकर जब शिउली-बालू नन्हे थे। पहले जब उनका अपना घर नहीं था तब किराए की झोपड़ी आसपास से अत्यंत गंदगी से भरपूर

थी जैसी कि होती है। शिउली तो बड़ी कमजोर जन्मी थी सो अक्सर बीमार रहा करती थी। साफ-सफाई विहिन माहौल को हम सब उसकी स्वास्थ्य समस्याओं की जड़ मानते थे। मैं और मां बच्चों के लालन-पालन को लेकर काफी चिंता किया करते थे, लेकिन कभी सुनील से उसके सिद्धांतों को बदलने की बात नहीं की।

सुनील ने हमेशा खुद के बजाए कार्य को महत्व दिया। एक बार आउटलुक पत्रिका के कवर पेज पर उसका फोटो था व अंदर मत्स्य सहकारिता के उसके कार्य के बारे में लेख था। जब मैंने फोन पर सुनील से बात की तो वह बड़ा नाराज दिखा और बोला कि मैंने पहले ही बता दिया था कि हमारे सहकारिता कार्य की ज्यादा चर्चा होनी चाहिए न कि मेरी अपनी। पर दरअसल संवाददाता की भी अपनी मजबूरी होगी, संपादक व पाठक कार्य को कम जानना चाहते हैं। हमारे देश में व्यक्ति पूजा बड़ी पसंद की जाती है। यहां सुनील की सोच बिल्कुल सही थी कि कार्य और सिद्धांत ही महत्वपूर्ण है, व्यक्ति की तो एक निश्चित आयु होती है। गांधीजी के मामले में हम यही देखते हैं, गांधी पर श्रद्धा आज भी मिल जाएगी। लेकिन गांधी दर्शन का अनुयायी कोई नहीं।

घर-परिवार की तमाम जिम्मेदारियां उसने अपने व्यस्ततम कार्यों के साथ निभाईं। मैं हैरान रहती थी कि दिन तो उसका भी 24 घंटे का है फिर वह इतना सब कैसे कर लेता था। मैं तो अगर पारिवारिक दायित्व को निभाने जाती हूं तो कार्यस्थल पर कुछ कमी हो जाती है या फिर इसके विपरीत होता है। दरअसल उसका समय नियोजन गजब का था एक-एक सेकेंड का वह पूरा उपयोग करता था। जब यहां घर आता तब भी तमाम तरह के कार्यों के बीच भी पढ़ना-लिखना जारी रखता। प्रातः उठने पर वह हमेशा लिखता हुआ मिलता था। उसके झोले में अनेक पत्रिकाएं, किताबें, कोरे कागज व पोस्टकार्ड रखे होते थे। बस-ट्रेन में भी अपने समय का पूरा इस्तेमाल करता था।

उसे इतना काम करना रहता था अतः अपने स्वास्थ्य के प्रति गंभीर रहता, आराम तो जरा भी नहीं लेकिन भोजन में पूर्ण नियंत्रण रखता। गैस की समस्या होने से वह यात्रा में भी बिना घी लगी रोटी ही ले जाता। दुबलेपन व मामूली सी

कब्ज के अलावा मेरी जानकारी में वह काफी स्वस्थ था। समयभाव के बावजूद उसने 10-15 मिनट का एक कार्यक्रम बना रखा था, जिसमें थोड़े से आसन व प्राणायाम आदि शामिल कर रखे थे। जब-जब जहां मौका मिलता वह इसे जरूर कर लेता था। हम सभी भाई-बहनों को कोई न कोई व्याधि (शायद अपनी जीवन शैली की वजह से) व्यापी हुई थी, हम चारों में उसे ही स्वस्थ माना जाता था। नियति ने हमारी ही नजर उसे लगा दी। वह बिना किसी ज्ञात वजह के ही चला गया।

वह मानसिक विकारों (यथा, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, क्रोध आदि) से मुक्त हो संत हो चला था, यही वजह थी कि उसका अपने मन-मस्तिष्क पर पूरा नियंत्रण था। वह लेटते ही एक-दो मिनट में गहरी नींद सो जाता था, उसकी गहरी बढ़िया नींद हम भाई-बहनों में ईर्ष्या का विषय भी थी। उसका अपनी जैविक घड़ी पर भी पूरा नियंत्रण था। वह जब चाहे जितनी देर के लिए सो सकता था। यदि एक घंटे का सफर कर रहा हो तो ठीक 50 मिनट बाद उसकी नींद खुल जाती थी। मैं उसकी इन सब बातों में उसके किसी महात्मा के होने जैसा महसूस करती थी। भले ही मैं उसकी सगी बहिन हूं लेकिन वह मुझसे कहीं बहुत ऊपर उठा हुआ मानवीय कमजोरियों से मुक्त एक इन्सान था।



एक अन्य बात का भी मैं जिक्र करना चाहूंगी। मैं उसे आदर्श पिता मानती थी और खुद की लानत-मलानत किया करती थी।

बच्चों की हर बात को ठीक तरह से समझना उसकी खूबी थी, उसने बच्चों को कभी डांटा नहीं। हमारा पूरा परिवार प्रथम श्रेणी वाला रहा है फिर भी बच्चों से स्कूली परीक्षाओं में अच्छे अंक लाने का उसका कभी कोई आग्रह नहीं रहा। बच्चों को विषय की सही समझ बने इस पर पूरा ध्यान केंद्रित रहता था। निश्चित ही यही वजह है कि आदिवासी इलाके के सरकारी स्कूल में पढ़े दोनों बच्चे शिउली व इकबाल अपने-अपने क्षेत्र में बहुत अच्छा कर रहे हैं।

मुझे शब्द सीमा मालूम है अन्यथा भाई की यादें तो पुस्तक में भी न समा पाए।

आंइस्टिन की गांधीजी के लिए कही गई पंक्तियां 'आने वाली पीढ़ी यह विश्वास नहीं करेगी की गांधीजी कभी सच में हाड़-मांस के पुतले रहे हैं', जेएनयू के गांधी सुनील के लिए भी सटीक बैठती नजर आती हैं।

सार्वभौमवाद के बरक्स स्थानीयता

प्रेम सिंह

सुनील की पहचान केसला के साथ जुड़ी थी। बल्कि कह सकते हैं केसला और सुनील अभिन्न हो गए थे। सुनील देश के कोने-कोने में जाते थे तो केसला उनके साथ जाता था और देश का कोना-कोना उनके साथ केसला चला आता था। केसला वह स्रोत है जहां से सुनील की विचारशीलता और कर्मशीलता फूटती और पल्लवित होती है तथा सार्वभौमवादी वर्चस्व को चुनौती देती है। सुनील के साथ केसला सार्वभौमवाद के खिलाफ स्थानीयता का दावा बन जाता है। हमारे दौर के गंभीर विचारक और सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता सुनील की भूमिका और उसका महत्व समझने के लिए सार्वभौमवाद के बरक्स स्थानीयता की दावेदारी की अवधारणा को समझना जरूरी है।

सुनील ने अस्सी के दशक में केसला को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और लगातार तीन दशकों तक वहीं रह कर आदिवासियों और किसानों के बीच काम करते रहे। सुनील ने बड़े शहरों की मारामारी से बचने के लिए केसला रहने का चुनाव नहीं किया था, जैसा कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से त्रस्त कुछ प्रकृति-प्रेमी करते हैं। न ही उन्हें आदिवासी जीवन के प्रति नॉस्टेलजिक लगाव था, जैसा कि कई विदेशियों से लेकर भारतीयों तक में देखने को मिलता है। आदिवासियों, किसानों को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाना भी उनका ध्येय नहीं था, जैसा कि कुछ एनजीओ, मिशनरी, आरएसएस आदि करते हैं। केसलावासियों के आर्थिक/प्रशासनिक सशक्तिकरण में भी वे नहीं जुटे थे, जैसा कि मौजूदा व्यवस्था के तहत बहुत से एनजीओ करते हैं। सुनील वहां सीधे राजनीति करने के उद्देश्य से भी नहीं गए थे, जैसा कि राजनीतिक विचारधारा के तहत संगठित कर उनका नेता बनने की मंशा से कुछ लोग करते हैं। सुनील ने सक्रिय राजनीतिक काम 1995 में समाजवादी जन परिषद की स्थापना होने के बाद करना शुरू किया, जो प्रचलित राजनीति से बिल्कुल अलग था।

उपनिवेशवादी दौर में दुनिया में सब जगह सब लोगों के लिए एक, यानी सार्वभौमिक दर्शन/विचारधारा का दावा किया गया और उसके तहत सब जगह सब लोगों के लिए

एक यानी सार्वभौमिक व्यवस्था कायम करने की मुहिम चलाई गई। यह सार्वभौमिक विचारधारा पूंजीवाद की थी, जिसे सामंतवाद के बाद पूरी मानवता के लिए एक अनिवार्य स्थिति बताते हुए आगे की समाजवादी व्यवस्था के लिए भी अनिवार्य बताया गया। तभी से समाजवाद के साथ पूंजीवाद का रोग उपनिवेशित देशों में भी लगा रहा है, जिसके चलते आज भी बड़े-बड़े विद्वान और नेता समाजवाद के पहले पूंजीवाद की वकालत करते हैं। जाहिर है, इससे पूंजीवाद मजबूती के साथ आगे बढ़ता रहा है। कई चरणों से गुजरते हुए वह विरोध और विकल्प के समस्त स्वरो व संघर्षों को परास्त कर वर्तमान दौर में कारपोरेट पूंजीवाद/वित्त पूंजीवाद के रूप में सामने है। पूंजीवादी सार्वभौमिकता के दावे की एक बार और पुष्टि करते हुए उसके नियामकों ने उसका नया नाम वैश्वीकरण दिया है। उनका कहना है कि वैश्वीकरण एक सार्वभौमिक व सार्वकालिक व्यवस्था है, जिसका कोई विकल्प नहीं है। अपने इतिहास, भूगोल, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, समाज, राजनीति, आर्थिक स्थिति सहित विभिन्न देश हों या देशों के अंतर्गत स्थानीयताएं, सभी वैश्वीकरण के मातहत हैं। दुनिया में भूख, भय, मानवीय गरिमा की अवमानना और हिंसा का तांडव मचा है, फिर भी उनका दावा है कि यह इतिहास का अंत है, और लिहाजा, समस्त नवीन उद्भावनाओं/विचारों का भी। पूंजीवादी सार्वभौमवाद का इस बार का आक्रमण इतना प्रबल है कि उपनिवेशवाद के खिलाफ लंबा संघर्ष करके जो स्वतंत्रता अनेक देशों ने हासिल की थी, उस पर इस कदर गहरा संकट आ गया है कि स्वतंत्रता का विचार ही त्याज्य होता जा रहा है।

पूंजीवादी सार्वभौमवाद में संसाधनों पर स्थानीय निवासियों की हकदारी तथा विकास संबंधी योजनाओं के निर्माण में भागीदारी को स्वीकार नहीं किया जाता है। सब कुछ शीर्ष पर शासक वर्ग द्वारा तय होता है। उपनिवेशवादी दौर से ही यह होने लगा था; यह 'सिद्ध' करते हुए कि स्थानीय लोग हकदारी और भागीदारी के अयोग्य होते हैं; उन पर शासन करना 'कर्तव्य का बोझ' है। पूरी तरह से केंद्रवादी-वर्चस्ववादी यह व्यवस्था स्थानीय लोगों की हकदारी व भागीदारी की दिशा में किए जाने

वाले चिंतन, प्रावधानों और प्रयासों को बारीकी से निरस्त कर देती है। उपनिवेशवाद से लंबे संघर्ष के बाद स्वतंत्र हुए देशों में भी ज्यादातर यही स्थिति है, जहां वैकल्पिक चिंतन की धाराएं विकसित हुईं। ऐसा नहीं है कि पूर्व-उपनिवेशित देशों में आजादी और लोकतांत्रिक प्रणाली के चलते कुछ लोग राजनीति और नौकरशाही में नीचे से ऊपर नहीं आते। लेकिन उन्हें इसी सांचे में ढल कर काम करना होता है। इस व्यवस्था में योग्यता की कसौटी पूंजीवादी व्यवस्था के योग्य होना निर्धारित कर दी गई है।

1991 में नई आर्थिक नीतियां लागू होने के बाद भारत की पहले से ही केंद्रवादी सत्ता के ऊपर कारपोरेट पूंजीवाद की नियामक - विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, विश्व आर्थिक मंच आदि - वैश्विक आर्थिक संस्थाओं का सुपर केंद्र स्थापित हो गया। तभी से वैश्वीकरण के नाम पर संसाधनों को तेजी से लूटा और विशाल आबादी का उच्छेद किया जा रहा है। मुख्यधारा राजनीति इन संस्थाओं के तहत कारपोरेट पूंजीवाद की वाहक बनी हुई है। केसला इस परिघटना के प्रतिरोध का न केवल सशक्त प्रतीक है, उसका विकल्प भी प्रस्तुत करता है। लोकतंत्र समेत भारतीय राजनीति का तंत्र पूंजीवादी-साम्राज्यवादी लक्ष्यों की पूर्ति का जरिया न बन कर स्वतंत्र, स्वावलंबी, समतामूलक व्यवस्था का माध्यम बने, वैकल्पिक राजनीति के निर्माण की इस चुनौती का आगाज केसला से होता है। यानी, जिनके संसाधन हैं और जिनके जीवन के फैसले लिए जा रहे हैं, वे लोग खुद इस पूंजीवादी-साम्राज्यवादी सार्वभौमवाद का मुकाबला और उसके विकल्प का निर्माण करें। इस अवधारणा के तहत सार्वभौमिकता केसला सरीखी स्थानीयताओं का समुच्चय होगी; वह नहीं जो स्थानीयताओं को अपना ग्रास बनाती है। केसला पूंजीवादी सार्वभौमिकता का सगुण विकल्प है, जिसमें इस दिशा में होने वाले दुनिया भर के अनुभवों को जोड़ा जा सकता है। वैकल्पिक दृष्टि से संभावनाशील पर्यावरण संबंधी आंदोलनों से लेकर लातीनी अमेरिका की साम्राज्यवाद विरोधी राजनीतिक घटनाओं तक केसला में बैठे सुनील की पैनी नजर रहती थी।

कहना न होगा कि सुनील की यह समझ और भूमिका केसला पहुंचने के पहले दिन से ही नहीं बन गई होगी। समता संगठन में किशन पटनायक, सच्चिदानंद सिन्हा और अन्य साथियों के साथ काम, गांधी, लोहिया, जेपी के चिंतन के साथ भारत और विश्व के समाजवादी आंदोलन का गहराई से अध्ययन और वैश्वीकरण का प्रतिरोध करने वाले

कई संगठनों के साथ सतत काम करते हुए उनकी समझ और भूमिका का निर्माण हुआ। सजप की स्थापना के पहले के उनके काम को रचनात्मक राजनीति की कोटि में रख सकते हैं, आधुनिक भारतीय राजनीति में जिसकी नींव गांधी ने डाली थी और जिसे 'फावड़ा' के प्रतीक व 'चौखंभा राज' की अवधारणा के साथ लोहिया ने तथा गैरदलीय राजनीतिक कर्म के विचार के साथ जेपी ने आगे बढ़ाया। रचनात्मक राजनीति का चिंतन सक्रिय राजनीति और उसके द्वारा सत्ता में भागीदारी से कटा हुआ नहीं रहा है। इस चिंतनधारा में स्थानीय निकायों के माध्यम से सत्ता सबसे पहले और सीधे लोगों के हाथों में सुनिश्चित करने की वकालत है। सुनील ने पूंजीवादी सार्वभौमिकता का विकल्प देने वाली इस पूरी परंपरा को आत्मसात किया था।

कहा जा सकता है कि मौजूदा भीमकाय वैश्वीकरण के सामने सुनील की स्थानीयता धर्मी भूमिका बहुत ही सीमित थी। लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि वह मूलभूत, अविभाजित और अडिग थी। सुनील अब से कुछ साल पहले हम लोगों के बीच से चले जाते, तब भी उनकी भूमिका यही होती। वे अगले बीस-तीस साल जीवित रहते, तब भी इसी भूमिका को निभाते। सुनील के निधन पर लिखी श्रद्धांजलि 'नवउदारवाद की बेदखली होगी सुनील को सच्ची श्रद्धांजलि' में हमने यह रेखांकित किया है कि सुनील को 'अप्रोप्रिएट' नहीं किया जा सकता था। यानी उन्हें केसला से नहीं डिगाया जा सकता था। अडिगता के साथ सुनील अपनी भूमिका में पूरी तरह सहज थे- प्रचलित क्रांतिकारी दिखावों से अलग। गांधी ने औद्योगिक पूंजीवादी सभ्यता के मुकाबले में कहा था - 'एक कदम काफी है'; बशर्ते वह कदम हो। वैश्वीकरण के प्रतिरोध में केसला भी एक कदम है।

दुनिया ध्वंसों और रचनाओं के समानांतर सिलसिले का नाम है। जिस तरह ध्वंस के कई रूप और प्रक्रियाएं होती हैं, उसी तरह रचना के बहुत-से रूप और प्रक्रियाएं चलती रहती हैं। सुनील ने रचना के पक्ष को मजबूत बनाया। कह सकते हैं उन्होंने रचना की तरह राजनीति की। नवसाम्राज्यवादी गुलामी में पगे ज्यादातर भारत में केसला एक ऐसा कोना है जहां फागराम, गुलियाबाई, मंगल सिंह, फूलवती, रामदीन, सुमरलाल, सदाराम, शेखलाल, राजेंद्र जैसे सैंकड़ों स्वतंत्र भारतीय रहते हैं। वैकल्पिक राजनीति और विकास के मॉडल पर ये लोग किसी भी विद्वान अथवा नेता से सार्थक बहस कर सकते हैं।

रचना की बात चली है तो सार्वभौमवाद के बरक्स

स्थानीयता का दावा पेश करने वाली भारतीय भाषाओं की कुछ साहित्यिक कृतियों का स्मरण आता है। हिंदी के मशहूर कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु की कालजयी कृति 'मैला आंचल'; 1954 उनमें से एक है। केसला और सुनील के संदर्भ में इस उपन्यास को पढ़ा जा सकता है। रेणु ने 'मैला आंचल' की भूमिका में लिखा है कि उन्होंने मेरीगंज; उपन्यास का गांवद्ध को देश के सात लाख पिछड़े गांवों का प्रतीक मान कर चित्रण किया है। केसला/ भुमकापुरा महज केसला/ भुमकापुरा नहीं है। वह होशंगाबाद, हरदा, बैतूल, खंडवा के गांवों-कस्बों समेत भारत के समस्त गांवों-कस्बों का प्रतीक है। 'मैला आंचल' में डॉ. प्रशांत एक प्रमुख पात्र है। वह पटना मेडिकल कॉलेज से डाक्टरी की पढ़ाई करने के बाद, विदेश जाने के लिए मिली स्कॉलरशिप छोड़ कर, काला आजार पर रिसर्च करने के लिए मेरीगंज आने का फैसला करता है। मेरीगंज उसे पूरी तरह अपनी गिरफ्त में ले लेता है। वह मेडिकल रिसर्च छोड़कर मेरीगंज के सामाजिक-आर्थिक यथार्थ पर रिसर्च करके रोग की जड़ को पकड़ता है। रोग के दो कीटाणुओं - 'गरीबी और जहालत' - की पहचान करके उनसे मुक्ति के लिए 'लाल' क्रांति की कल्पना करता है। मेरीगंज में रहते हुए वह वंचितों, खास कर संथाल आदिवासियों की सहायता करने लगता है। कम्युनिस्ट होने के आरोप में उसे जेल होती है, जो कि वह नहीं होता है। जेल से छूटने के बाद वह मेरीगंज में ही रहकर कुछ लोगों के चेहरे पर मुस्कराहट लाने का संकल्प लेता है।

डाक्टर प्रशांत की भूमिका राजनीतिक नहीं है। वह कई राजनेताओं के संपर्क में रहा होता है; मेरीगंज में राजनीतिक काम करने वाले बालदेव, कालीचरन, बावनदास, लक्ष्मी आदि से उसका संबंध बनता है; वह गांधीजी की 'अंतिम इच्छा' पर विचार करता है, लेकिन राजनीति नहीं करना चाहता। लिहाजा, मेरीगंज में उसकी भूमिका वंचित लोगों के प्रति सहानुभूति तक सीमित रहती है; राजनीतिक मानस/चेतना के निर्माण में वह कोई भूमिका नहीं निभा पाता। शायद राजनीति उसे बुरी चीज लगती है। वह स्मरण करता है कि पटना में रहने वाली उसकी मित्र

ममता ने राजनीति की तुलना डायन से की थी।

सुनील की भूमिका ठेठ से राजनीतिक है। सजप के गठन के पहले भी और बाद में भी। 'मैला आंचल' आजादी की उदय बेला में लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास की कथा का समय भी 1946 से 1948 तक है और उस पर 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की गहरी छाया पड़ी है। उपन्यास में स्वतंत्रता आंदोलन के आदर्शवाद और उसके समांतर निहित स्वार्थों के अवसरवाद की गहरी टकराहट चित्रित हुई है। उपन्यास का अंत आते-आते गांधीजी की हत्या हो जाती है। मेरीगंज में आजादी का काम करने आया बावनदास एक रात दुलारचंद कापरा, जो गांजा और नेपाली लड़कियों की तस्करी करता था और आजादी मिलते ही कांग्रेस का नेता बन गया, की ब्लैक के माल से लदी गाड़ियों के आगे अड़ कर खड़ा हो जाता है और कुचल कर मारा जाता है।;

हमने यह रेखांकित किया है कि सुनील को 'अप्रोप्रिएट' नहीं किया जा सकता था। यानी उन्हें केसला से नहीं डिगाया जा सकता था। अडिगता के साथ सुनील अपनी भूमिका में पूरी तरह सहज थे- प्रचलित क्रांतिकारी दिखावों से अलग। गांधी ने औद्योगिक पूंजीवादी सभ्यता के मुकाबले में कहा था - 'एक कदम काफी है'; बशर्ते वह कदम हो।

सोशलिस्ट पार्टी को प्रेमिका की तरह प्यार करने वाला कार्यकर्ता कालीचरन पार्टी सेक्रेटरी को अपनी बेगुनाही का सबूत देने के लिए जेल से फरार होता है और पुलिस की गोली से घायल होकर जंगल की तरफ चला जाता है। जातिवादी राजनीति की आंधी में तपे-तपाए कांग्रेसी कार्यकर्ता बालदेव के पैर उखड़ जाते हैं और वह अपनी कार्यस्थली मेरीगंज को छोड़कर अपने गांव चन्नपट्टी अपने जातिभाइयों के बीच चले जाने

का फैसला लेता है। अगर प्रशांत- भारत का बुद्धिजीवी/ सिविल सोयायटी एक्टिविस्ट- अपनी भूमिका को राजनीतिक बना लेता तो मेरीगंज उपनिवेशवादियों के कब्जे से छूट कर उनके वारिसों के कब्जे में इतनी आसानी से नहीं चला जाता। तब केसला पर भी वैश्वीकरण का हमला उस तरह नहीं होता। तब शायद नवसाम्राज्यवादी गुलामी भी इस कदर आयद नहीं होती, जैसी आज है। न ही केसला में सुनील अपने अंतिम दिनों में इतना अकेला पड़ता!

उपन्यास में यह जानकारी नहीं मिलती कि जंगल प्रयाण के बाद कालीचरन का क्या हुआ? वह चलित्तर कर्मकार से मिल पाया या नहीं, जो बयालीस का बागी था और आजादी मिलने पर जिसने सरकार के कहने के बावजूद

हथियार नहीं रखे थे। उसका मानना था कि संसदीय लोकतंत्र की राजनीति से गरीबों के हक में परिवर्तन नहीं होगा। उसने कालीचरन को कहा था कि जब वह निराश और असहाय हो जाए तो पार्टी और नेताओं को छोड़ कर उसके पास जंगल में चला आए। पार्टी ने चलित्तर कर्मकार से हथियार रखवाने के लिए कालीचरण को उसके साथ मेलजोल बढ़ाने के लिए कहा था। तभी से कालीचरण उसके संपर्क में था। चलित्तर कर्मकार द्वारा डाली गई डकैती में कालीचरण का नाम भी आ जाता है और उसे जेल हो जाती है। निर्दोष

कालीचरण जेल से फरार होता है ताकि सेक्रेटरी साहब को सच्चाई बता सके और पार्टी को बदनामी से बचा सके। लेकिन सेक्रेटरी दरवाजे पर आए घायल कालीचरण को दुत्कार कर भगा देता है।

हिंसक संघर्ष में विश्वास रखने वाले लोग कह सकते हैं कि जैसे सेक्रेटरी द्वारा दुत्कारे जाने पर कालीचरण 'जंगल' में चला गया, साथियों से चोट खाने पर सुनील को भी अपना रास्ता बदल लेना चाहिए था। सुनील ने रास्ता बदलने के लिए केसला का रास्ता नहीं चुना था।

सरल जीवन और गंभीर चिंतन

रणजीत राय

एकदम सीधे-सादे सरल जीवन और गंभीर चिंतन के प्रतीक-पुरुष सुनीलजी अब हमारे बीच नहीं हैं यह सोचना और उस पर विश्वास करना कठिन लगता है। 54 वर्ष की उमर में उनकी अकाल मृत्यु हमारे संगठन समाजवादी जन परिषद की ही नहीं, वैकल्पिक राजनीति और जनांदोलनों की भी अपूरणीय क्षति है।

सहज सरल सुनीलजी नीतियों और आदर्श की मामले में अविचल रहते थे, किसी भी प्रकार का विचलन उन्हें ग्राह्य नहीं होता था। विचार-विश्लेषण के माध्यम से तर्क संगत रूप में वह अपना मत ऐसी सरलता से व्यक्त करते कि उनकी बातें सब लोगों की समझ में आ जाती थीं। उनके भाषणों और लेखों में विचारों की स्पष्टता मुझे हमेशा आकर्षित करती रही है।

समाजवादी विचारों और मूल्यों के प्रति अपनी अडिग आस्था के चलते वह कई बार एकदम अकेले भी पड़ गए। एक वर्ष पहले अपने कुछ समवयस्क घनिष्ठ मित्रों के समाजवादी जन परिषद छोड़कर एक नए दल में चले जाने से वह बहुत मर्माहत हुए थे। गत 23 फरवरी को समाजवादी जन परिषद की पश्चिम बंगाल शाखा के चिंतन शिविर में मुख्य वक्ता के रूप में वह जलपाईगुड़ी आए थे। सुदूर इटारसी से बिना आरक्षण की रेल यात्रा कर वह ठीक समय पर चिंतन शिविर में हाजिर हुए। अपने व्याख्यान में उन्होंने वैश्वीकरण, सांप्रदायिकता, राजनीतिक दलों के चरित्र व कार्यप्रणाली और आम आदमी पार्टी की भूमिका के बारे में परिषद के कार्यकर्ताओं को अपनी सहज-

सरल शैली में समझाया और कहा कि कार्यकर्ता, कठिन से कठिन परिस्थिति में भी समाजवादी विचारधारा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता और निष्ठा में कोई कमी न आने दें। सुनीलजी ने अपने इस व्याख्यान में पूंजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए इस बात पर जोर दिया कि पूंजीवादी व्यवस्था को भ्रष्टाचार से मुक्त करने पर भी बहुसंख्यक गरीब आबादी, आदिवासियों और प्रकृति को पूंजीवादी शोषण और दोहन से मुक्त नहीं किया जा सकता; पूंजीवाद की प्रकृति (स्वभाव) ही प्रकृति के दोहन की है; पूंजीवाद का कोई मानवीय चेहरा नहीं हो सकता; उन्मुक्त बाजार व्यवस्था के माध्यम से शोषण, लूट और मुनाफा बढ़ाना ही पूंजीवाद का मूल लक्ष्य है। सुनील जी ने किशन जी और जुगल दा को याद करते हुए इस बात पर अपनी खुशी जाहिर की कि मौजूदा कठिन और जटिल राजनीतिक परिस्थितियों में पश्चिम बंगाल समाजवादी जन परिषद के लोग तृणमूल कांग्रेस या आम आदमी पार्टी में नहीं गए और उन्होंने समाजवादी विचारधारा के प्रति अपनी आस्था और निष्ठा पर कोई आंच न आने दी।

सुनील जी के बेटे बालू (इकबाल अभिमन्यु) बेटी शिउली वनजा और जीवन साथी स्मिताजी, सभी समाजवादी जन परिषद का काम कर रहे हैं। उनकी सक्रियता को देखकर यह लगा कि सुनीलजी हमारे बीच में हैं और उनकी अनुपस्थित उपस्थिति हमें सदा प्रेरित करते रहेंगे, कंटकाकीर्ण पथ पर चल कर समाजवाद की मंजिल पर पहुंचने की यात्रा में।

सुनील को अभी मत मापिए

अरविंद मोहन

सुनील की मौत की खबर के साथ ही मुझे वर्षों पहले हुई अपने दो साथियों शिवचंद्र और राजनारायण की मौत और राजनारायण की याद में पिपरिया-इटारसी-होशंगाबाद के साथियों द्वारा निकाली गई किताब 'लड़त जा रे' की याद आई। इस किताब के प्रकाशन में सुनील ही मुख्य भूमिका में थे। हम सबने इसकी काफी प्रतियां बेची थीं। यह किताब अद्भुत है। किसी संघर्षशील साथी की अचानक हुई मौत की याद को संघर्ष की प्रेरणा देनेवाली किताब में बदलना भी अद्भुत सोच का नतीजा था। राजनारायण और सुनील को आमने-सामने खड़ा करने का मन नहीं है तब भी लगता है कि सुनील की याद में अगर वार्ता का अंक निकल रहा है और भविष्य में कोई किताब निकले तो उसके लिए पहले वाली किताब को प्रेरणा बनाना होगा। पर यह भी है कि उसके लिए सुनील जैसा संपादक और विचारवान होना होगा, जो क्षमता हम में से किसी में है भी या नहीं, यह सोचने की बात है। सुनील ने काफी सारे लोगों को प्रेरित किया है सो निराश होने की सूरत नहीं है पर यह एक चुनौती तो रहेगी ही और देखना है हममें से कौन इस पर खरा उतरता है। इस किताब में सुनील और राजनारायण द्वारा एक निपट अनजान, लुटे-पिटे और दरिद्र इलाके में दो नौजवानों (जिसमें पहला खुद राजनारायण थे) के द्वारा अपनी सोच और इलाके की बुनियादी जरूरत के मुद्दों को उठाने और उसके लिए संघर्ष करने के निश्चय के साथ संगठन और आंदोलन की शुरुआत का विवरण था। काफी सारे मुद्दों को उठाने, काफी सारे स्थानीय लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करने के साथ ही अनेक बाहरी लोगों को भी आकर्षित करने की कहानी बताने वाली ऐसी किसी और किताब का स्मरण मुझे नहीं है। यह किताब इस बात को भी बताती है कि गांव के सरकारी स्कूल में तैनात शिक्षक पढ़ाने आए, यह भी संघर्ष और जेल जाने का कारण बनता है। गांधीवादी ढंग से आंदोलन करने वाली जमात को नक्सली और हिंसक बताने में किस तरह कांग्रेस, भाजपा, पुलिस, प्रशासन, जंगल विभाग और मीडिया सब एक हो जाते हैं, यह भी इसकी कहानी का हिस्सा है। हमने बाद में देखा कि किस तरह तवा जलाशय की मछली

पालनेवाले सफल सहकारी आंदोलन को इन सबने मिलकर मार डाला। सुनील इस मुहिम के असफल होने से दुखी हुए। यह एक ओर तो दुखी होने की चीज थी पर दूसरी ओर उनकी ईमानदारी, सच्चाई और लगन का सबसे बड़ा प्रमाण था क्योंकि इस व्यवस्था में सफल होने का मतलब कहीं न कहीं समझौतावादी हो जाना भी है। सुनील की अगुवाई वाले इस आंदोलन पर लिखने के अधिकारी फागराम जैसे लोग हैं जो इसी आंदोलन की पैदाइश हैं। केसला जाने के पहले सुनील में इतनी समझ बन गई थी, इतनी दिलेरी आ गई थी कि चमकदार निश्चित कैरियर छोड़कर संघर्ष का रास्ता चुना जाए और फिर कोई पछतावा न हो, फैसले बदलने की बात मन में न आए, न ही कभी जीवन में यह रास्ता चुनने की प्रेरणा देने वालों को कोसने की स्थिति आए। मैं इस बात के लिए खुद को खुशकिस्मत मानता हूं कि सुनील को पहले से जानता था और उनके यह फैसला लेने के पहलेवाले दौर का साथी था। उन्हें डराने या दूसरे लुभावने देने की कोशिश भी मैंने की। तब जनसत्ता से अपने पत्रकार जीवन की शुरुआत कर चुकने के चलते मैंने तनख्वाह आधी-आधी बांटने की पेशकश भी की थी। जब सुनील राजनारायण के साथ जंगल में रहने लगे और सांप-गोजर के साथ बनैले सूअरों के हमले का खतरा वहां रहने में वे बताते थे। तब उस जगह पड़ी ईंटों से घर बनाने के लिए मैंने टाइम्स चुनाव-पहेली से जीते आधे पैसे और कुछ-कुछ पैसे कुलदीप नैय्यर और मदनलाल हिन्दजी से लेकर उन्हें दिए थे। यह बात और है कि राजनारायण ने घर की जगह दुधारू पशु खरीदने और नियमित आय का तर्क देकर इस धन को दूसरी ओर मुड़वा दिया था।

शुरुआत सुनील या राजनारायण ने की तो स्मिता, सुरेन्द्र झा, गिनी झा, आलोक सागर जैसे लोग भी बाहर से वहां पहुंचे। कुछ लोग साथी बने, कुछ छोड़कर भी गए। पहले हम स्थानीय लोगों को जानते भी न थे। धीरे-धीरे युवा जनता और लोहिया विचार मंच के स्थानीय और आसपास के लोग आए। बाद में जब स्थानीय आदिवासियों और ग्रामीणों का जमावड़ा लगना शुरू हुआ तो भाजपा और कांग्रेस के लोग डरने लगे। शासन-पुलिस-जंगल विभाग के

लोग तो आपस में चंदा करके सुनील और साथियों के खिलाफ परचा-पोस्टर निकलवाने लगे। फिर क्या-क्या हुआ यह लंबी दास्तान है। सुनील के अचानक चले जाने के बाद भी यह जुटान वैसे ही रहे और मुद्दे न बदले यह कामना है। सुनील द्वारा अपनी तरह के लोगों की फौज छोड़ना मेरे हिसाब से उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। अब ये लोग और हम लोग उन सवालियों पर कितना सक्रिय रहते हैं यह हमारी भी परीक्षा है। मैं चौहत्तर आंदोलन और फिर किशन पटनायक के प्रभाव में आकर छात्र-युवा संघर्ष समिति और लोहिया विचार मंच के साथ जुड़ चुका था। मैं समता संगठन बनाने की मुहिम से भी जुड़ा था पर जब बंगलोर सम्मेलन हुआ तो बीमारी के चलते नहीं जा पाया। तभी दिल्ली एडमिशन के लिए आया तो यहां के वरिष्ठ साथी जसवीर सिंह से मैंने सम्मेलन के प्रस्ताव पढ़ने के लिए मांगे। जसवीर ने कहा कि दस्तावेज सुनील ले गए हैं। सुनील कौन हैं, पूछने पर जसवीर ने बताया कि बहुत ही अच्छा और प्रतिभाशाली (टापर) लड़का है जिसे हमने गांधी जयंती पर आयोजित लेख प्रतियोगिता के जरिए खोजा है। योगेंद्र यादव भी बाद की ऐसी प्रतियोगिता में जीते थे और हम उन्हें मिनी सुनील भी कहते थे। जल्दी ही सुनील, जसवीर भाई और चेंगल की कोर-टीम का सदस्य बन गए और इस तिकड़ी ने जनेवि में लालगढ़ को ध्वस्त करके सयुस का झंडा लहराने, असम आंदोलन के समर्थन में साइकिल यात्रा निकालने, पंजाब में सिखों पर हुए जुर्म का विरोध करने जैसी मुहिमों की अगुआई की, समता एरा नामक पत्रिका निकाली और वार्ता समेत ऐसी सारी पहलों को मदद दी। फिर जसवीर और चेंगल बंगलोर चले गए और किसान आंदोलन (रैयत संघ), समता संगठन और दलित संघर्ष समिति आंदोलन को एकजुट करने तथा एक जन पक्षीय अखबार निकालने की तैयारी में जुट गए। काफी समय, साधन और ऊर्जा लगाने पर भी उनकी मुहिम खास सफल नहीं हुई तो दोनों की सक्रियता कुछ कम हो गई। इससे उलट सुनील मध्य प्रदेश गए। हम सबको हैरान करते हुए लिंगराज प्रधान ने भी (जो तब सयुस में थे-छात्र संघ के पदाधिकारी हो गए थे पर तब इन तीनों जितने सक्रिय नहीं हुए थे) ओड़िशा जाने का फैसला किया।

हम पाते हैं कि इन दोनों ने धीरे-धीरे ज्यादा बड़ा काम किया। सुनील, जसवीर और चेंगल के दिल्ली से जाने के बाद हमारे लिए दिल्ली वीरान हो गई। जनेवि में सयुस के लोग बाद में भी रहे, चुनाव जीता और अपने साथ के लोगों की सोच-समझ भी बनाई। हमारे साथी जिस भी क्षेत्र में गए अच्छे काम करनेवाले ही साबित हुए, पर विश्वविद्यालय और कैरियर छोड़कर गांव-जंगल और संघर्ष की राह चुनने वाले और लोग नहीं आए। दिल्ली शहर में भी हरिमोहन, दीपक सिन्हा जैसे भरोसेमन्द साथियों के साथ हम लोगों ने भूमंडलीकरण विरोध और किसान आंदोलन वगैरह में भरपूर काम किया। वार्ता को मदद, संगठन में दिल्ली से बाहर के साथियों को हर तरह की मदद, चुनाव में चंदे से मदद भी हम लोग करते रहे। मुझे इस बात पर गर्व है कि सुनील के लगभग सारे प्रमुख कामों में जितना बन पड़ा मैंने मदद की- और कुछ नहीं तो ढंग से खबर छपवाने और

गांव के सरकारी स्कूल में तैनात शिक्षक पढ़ाने आए, यह भी संघर्ष और जेल जाने का कारण बनता है। गांधीवादी ढंग से आंदोलन करने वाली जमात को नक्सली और हिंसक बताने में किस तरह कांग्रेस, भाजपा, पुलिस, प्रशासन, जंगल विभाग और मीडिया सब एक हो जाते हैं, यह भी इसकी कहानी का हिस्सा है।

कानूनी मदद उपलब्ध करवाने में मैं आगे रहा। इस बीच रामभूषणजी दिल्ली आ गए तो हमें एक बल मिला। सच्चिदाजी भी दिल्ली रहे पर बाद में वे मनिका लौट गए। फिर जब योगेंद्र चंडीगढ़ से दिल्ली आए और विनोद भाई तथा प्रेम सिंह जैसे लोग जुड़े, तब दिल्ली में अलग तरह की सक्रियता बनी। योगेंद्र की वार्ता को दिल्ली लाने में मुख्य भूमिका थी। इसके साथ ही काम भी बढ़ा

और राजन-महेश जैसे साथी मिले।

सुनील ने क्या-क्या किया इसका लेखा-जोखा मेरे वश में नहीं है और शायद वक्त भी नहीं है। हम सबकी गिनती उनके टापर होने से शुरू होकर मछली सहकारी संघ पर खत्म होती है। यह गिनती गलत है क्योंकि ऐसी सफलताओं में तो जाने कितने लोग उसी एक जिले में उनसे आगे होंगे। हमें अपने पैमाने भी बदलने होंगे। हम सब लोग नौकरी और ठीक-ठाक कमाई के बाद भी अपने बच्चों को वैसा नहीं बना सके जैसा सुनील और स्मिता ने हमारी गिनती वाले अभाव की स्थिति में बनाया। इसलिए क्या पैमाने हो और सफलता-विफलता का क्या हिसाब हो यह सब जान-समझकर ही हम सुनील जैसों को माप सकते हैं। उन्हें अभी माप लेने और उनका दर्जा तय कर देने की जल्दी हमें नहीं करनी चाहिए।

तीर्थ-यात्रा

अशोक सेकसरिया

सुनील की मृत्यु हम सबमें, जो उसे जानते थे, गहरा अवसाद पैदा करती है। उसके असमय चले जाने से देश में समतामूलक वैकल्पिक व्यवस्था का निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील आंदोलन को कितनी भारी क्षति हुई है, इसका अनुमान लगाना इस अर्थ में मुश्किल है कि जिस आंदोलन की बात हमने ऊपर लिखी, वह अभी एकदम भ्रूण अवस्था में है। हम केवल यही कह सकते हैं कि इस आंदोलन का सबसे ज्यादा प्रखर और प्रमुख प्रवक्ता था सुनील। देश की राजनीति में आज उस जैसा कौन है, जो प्राइवेट मोटर कारों पर प्रतिबंध लगाने की बात कहता हो, आठ लाइनों वाले राज मार्गों को मुसीबत के मार्ग मानता हो, जिसे पानी को बोतल में बंद कर बेचा जाना पाप जान पड़ता हो और जिसे एक आदिवासी का बच्चा, धनी-मानी-विद्वान, अंबानी-अडानी, सोनिया-मेनका गांधी और अमर्त्य सेन और जगदीश भगवती के बच्चों से ज्यादा होनहार लगता हो ? कोई नहीं।

वह 'कोई' चला गया। अवसाद के और भी कई कारण हैं। जब वह 'कोई' था तो उसे देखने पर, उससे मिलने पर हम खुद को देखने पर मजबूर होने लगते थे। यह देखना हममें आत्म-ग्लानि पैदा करता था कि हममें उस जैसी प्रतिबद्धता का शतांश भी नहीं है, लेकिन ग्लानि का एक उज्ज्वल पक्ष भी था- हममें भले होने, धन और पद लोभी होने से बचने, अपने सकुंचित स्वार्थ से ऊपर उठकर दुनिया-जहान को देखने और उसे बेहतर बनाने तथा अपनी भाषा में बोलने का जज्बा कहीं न कहीं बलबलाने लगता था।

सुनील ने केसला में 29 वर्ष 'कष्टमय' जीवन नहीं बिताया। आधुनिक सुविधाओं के बिना जीना कष्टमय नहीं होता। आधुनिक सुविधाओं के बिना जीवन कष्टमय होता है, यह एक अफवाह है, जिसे हमने सच मान लिया है। केसला में बिताए दो महीनों में एक भी दिन ऐसा नहीं था, जिसमें मैंने कष्ट महसूस किया हो। बस, दो-तीन बार बुरा लगा था, जब सुनील ने मेरा बिस्तर ठीक किया था। मैं यह मानना चाहता हूँ कि मेरे अनजाने में किया होगा या वह जब ठीक कर रहा था, तब मेरी नजर पड़ी होगी; खुद को बेहया मानना

असंभव होता है। दो महीने अच्छे बीते और जब शिउली (वनजा) और बालू (इकबाल अभिमन्यु) कुछ दिन साथ रहने आए तो केसला का घर गुलजार हो उठा; वह वक्त अच्छा ही नहीं बहुत सुंदर बीता- एक ऐसे सभ्य और सुसंस्कृत परिवार के साथ रहना, जिसमें माता-पिता अपनी संतान के केरियर को लेकर चिंता में डूबे न हों और संतान इसलिए असंतुष्ट न हो कि माता-पिता ने उनके लिए वे सुविधाएं नहीं जुटाईं, जो माता-पिता जुटाते हैं, कितना शांतिदायक हो सकता है इसका कोई अनुमान मुझे नहीं था।

केसला में रहते पहली बार जब यह सुना कि फलां व्यक्ति खतम हो गया तो अर्थ समझ में नहीं आया, दो-तीन बार सुनने पर समझ में आया कि मध्य प्रदेश के होशंगाबाद अंचल में मरने को खतम हो जाना कहते हैं। कुछ इसी तरह शिउली के बाबा और मां कहने पर समझ में नहीं आया कि उसका आशय क्या है। कुछ क्षणों बाद सोचने पर खयाल आया कि बांग्ला में पिता को बाबा कहते हैं और स्मिता बंगाली है। मां से शिउली का आशय स्मिता से है, यह सोचकर हैरत सी हुई कि 'मम्मी' ने 'मां' को इतना अप्रचलित कर डाला है कि किसी के 'मां' कहने पर चौंकना पड़ता है।

केसला में सुबह फागराम अखबार पढ़ने आ जाते और दिन में मिलनेवाले। एक भी मिलनेवाला ऐसा नहीं था, जो सुनील से आक्रांत हो और हमारी तरह अपने से ज्यादा प्रतिष्ठित व्यक्ति के साथ घिनौनी विनम्रता से बात करता हो। सुनील के किसी को आक्रांत करने की बात तो सपने में भी सोची नहीं जा सकती थी, लेकिन मैं मिलनेवालों के बारे में उनकी वेशभूषा देखकर कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वे उस घिनौनी विनम्रता से पेश नहीं आएंगे, जिसके हम आदी हैं। मैं अपने मन में सुनील को पचास नंबर (कलकतिया हिंदी में 'अंक' का प्रयोग नहीं होता) और मिलनेवालों को पचास नंबर देता। पांच-सात दिन बाद मिलनेवालों की सहजता देखकर मन ने यह निष्कर्ष निकाला कि आदिवासी उत्पीड़न और विस्थापन का शिकार है पर वह हम शहरी खाते-पीते तथाकथित पढ़े-लिखों जैसा दीन नहीं है, जो किसी भी नामीगिरामी को देखने पर

हिनहिनाने लगते हैं। पचास नंबर देना गलत है। दोनों को पूरे सौ के सौ नंबर देने चाहिए।

मैं सुनील के साथ मिलकर किशन पटनायक के लेखों की किताब तैयार करने केसला गया था। लेखों के छोटे-मोटे स्तूप से कुछ ईंटें निकालने जैसा काम था। सुनील की घनघोर व्यस्तता के बीच हमारा काम चलता था। सुनील के साथ काम करने का आनंद निराला था; उमर में उससे 25 वर्ष बड़ा होने के बावजूद उससे सत्तर पार की उम्र में भी कुछ न कुछ सीखता था। दो आदमी साथ-साथ काम करते हैं तो उनमें हर बात पर मतैक्य नहीं होता; नहीं हो सकता, लेकिन उनमें यदि संवाद का संबंध हो तो कोई समस्या पैदा नहीं होती। हमारे बीच समस्या पैदा होने का एक भी अवसर नहीं आया। सुनील की प्रखर मेधा और उसके ज्ञान के आगे अपनी तुच्छता के एहसास के बावजूद मैंने कभी तुच्छ महसूस नहीं किया तो उसका पूरा श्रेय सुनील को है; वह किसी को भी तुच्छ नहीं मान सकता था। सुनील एक बड़ा आदमी था। यदि बड़प्पन की परिभाषा करनी हो तो कहना होगा- बड़ा वह, जो किसी को छोटा (तुच्छ) न माने और कोई उसके सामने पहुंचकर अपने को छोटा न समझे।

किशनजी के लेखों की एक नहीं दो किताबें बनीं और एक यानी तीसरी के लिए लेख छांट लिए गए पर उसे किताब का रूप नहीं दिया गया। जो दो किताबें बनीं, वे थीं- 'किसान आंदोलन दशा और दिशा' और 'भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि-गतिरोध, संभावना और चुनौतियां'। पहली किताब बनाने में मैंने रत्ती भर भी काम नहीं किया। दूसरी किताब हमने मिलकर बनाई। दूसरी किताब का काम पूरा हुआ तो सुनील ने मुझे भूमिका पढ़ने को दी तो मैंने देखा नीचे मेरा नाम पहले है और उसका बाद में। सुनील ने कब भूमिका लिख डाली, पता ही नहीं चला। वह कितना काम करता है, इसकी कोई थाह मैं दो महीने में नहीं पा सका; उसके 24 घंटे शायद हमारे जैसों के लिए 72 घंटे होते थे। उसने मुझसे भूमिका लिखने के बारे कहा भी नहीं और न ही उसमें मेरी कोई मदद ली। भूमिका लिखने का मतलब था किताब के लेखों में जो अंतदृष्टि (या) थीं उसकी ओर संकेत करना, लेखों में आए विचारों को विस्तार देना और भविष्य की राजनीति यानी वैकल्पिक राजनीति का क्या स्वरूप हो, हो सकता है, बताना। यह काम मेरे बूते का नहीं था, इसका सुनील को पता था सो उसने अकेले किया। भूमिका के नीचे अपना नाम देखकर एक पल कहने को मन हुआ कि कहां; इसका तो एक शब्द भी मैंने नहीं लिखा

तब मेरा नाम क्यों। दूसरे पल लगा जैसे ऐसा कहना कहीं शिकायत करना होगा जबकि मन में वैसा कोई भाव नहीं था और इस बात की प्रच्छन्न प्रसन्नता थी कि इतनी अच्छी भूमिका लिखी गई है। एक तरह से देखने पर बहुत मामूली सी दिखनेवाली बात को इतने विस्तार से लिखने के दो मकसद हैं। एक, यह है कि सुनील किसी अहंभाव और अहंकार के बिना अपनी और दूसरों की क्षमता को जानता-पहचानता था और दूसरा यह कि सच या सत्य भले ही अप्रिय हो व्यक्ति को उतना नहीं सालता जितना कि समझा जाता है क्योंकि वह सच या सत्य होता है। जो भी हो, सुनील जैसी वस्तुनिष्ठता विरल है।

सुनील की वस्तुनिष्ठता, विश्लेषण-क्षमता विचारों की स्पष्टता और अपने आदर्शों के प्रति निष्ठा या प्रतिबद्धता किस हद तक विकसित हो सकती थी, इसका कुछ अंदाजा होता है 19-20 की प्रायः वयसंधि की उमर में माता-पिता को लिखे गए उसके पत्र से (यह पत्र इस अंक में अन्यत्र छपा है)। मेरे खयाल में दुनिया में माता-पिता के नाम पुत्र द्वारा लिखे गए श्रेष्ठतम पत्रों में यह एक है। सपाट भाषा के बावजूद पत्र की मार्मिकता हमें स्तब्ध करने के साथ अचरज में डालती है कि 19-20 की उमर में कोई ऐसा वस्तुनिष्ठ पत्र माता-पिता को कैसे लिख सकता है? माता-पिता के साथ संतान का संबंध वस्तुनिष्ठ नहीं होता और उस अर्थ में यह पत्र भी वस्तुनिष्ठ नहीं है - 'आपका सुनील (वही जो पहले हुआ करता था)', आपका पुत्र सुनील नहीं, 'आपका सुनील(वही जो पहले हुआ करता था)।' सुनील को कोई जानना और समझना चाहे तो कुंजी है यह पत्र। इस पत्र के परिप्रेक्ष्य में सुनील की मृत्यु अवसाद को और बढ़ा देती है कि हमने ऐसी प्रतिभा को खोया है, जो बीस-पच्चीस वर्ष और जी जाती तो न जाने क्या कर गुजरती। यह सब अतिरंजना लगे तो कहना होगा कि घर का जोगी जोगड़ा भाव से हम मुक्त नहीं हो पाए हैं।

सुनील ने दसियों या बीसियों पुस्तिकाएं लिखीं। कोई मुद्दा उठता और उसे लगता कि मुद्दे पर लोगों को जानकारी देने, (पहले) समता संगठन और (बाद में) समाजवादी जन परिषद के दृष्टिकोण से लोगों को परिचित कराने और बहस चलाने की जरूरत है तो वह तुरंत कोई पुस्तिका तैयार कर डालता। किशन पटनायक की पुस्तक 'किसान आंदोलन दशा और दिशा' के अंत में उसने 'एक अनुरोध' लिखा था, ... 'इस पुस्तक को पढ़ने के बाद आपके मन में कुछ प्रश्न हों, विचार हों, कुछ करने की इच्छा हो, तो कृपया हमसे

संवाद जरूर करें' ...। इसके बाद संपर्क करने के लिए सजप के चार सदस्यों के पते दिए गए थे।

अन्ना हजारे के आंदोलन के दौरान भ्रष्टाचार का मुद्दा उठा तो सुनील ने तुरतातुरत 'भ्रष्टाचार को कैसे समझें' शीर्षक से प्रायः एक सौ पृष्ठ की किताब तैयार की और रोशनाई प्रकाशन को कहा कि किताब छपते ही उसकी 500 प्रतियां दिल्ली भेजें ताकि रामलीला मैदान में किताब बेची जा सके। रोशनाई प्रकाशन ने कूरियर से किताबें भेजीं। सजप के कार्यकर्ताओं ने एक दिन रामलीला मैदान में घूम-घूमकर किताब बेची। किताब बिकी भी काफी (किताब का पहला संस्करण जून 2011 को निकला और डेढ़ महीने बाद उसका पुनर्मुद्रण करना पड़ा), लेकिन दूसरे ही दिन अन्ना आंदोलन के स्वयंसेवकों ने सजप कार्यकर्ताओं को किताब बेचने से रोक दिया मानो भ्रष्टाचार के मुद्दे पर अन्ना हजारे आंदोलन का कॉपीराइट हो।

सुनील ने किताब भ्रष्टाचार के मुद्दे पर वैचारिक बहस चलाने के खातिर तैयार की थी; उसमें उसने सच्चिदानंद सिन्हा और किशन पटनायक के लेख भी जोड़े थे। किताब के द्वारा सुनील भ्रष्टाचार के बारे में आम आदमी की समझ का दायरा बढ़ाना चाहता था क्योंकि आम आदमी यह समझता है कि पुलिस सिपाही का, सरकारी दफ्तर के बाबू का घूस लेना और मंत्रियों व सरकारी अफसरों का पैसा खाकर किसी कंपनी को नाजायज मुनाफा

करवा देना ही भ्रष्टाचार है। मीडिया भी आम आदमी की तरह भ्रष्टाचार को गहराई से नहीं देखता। मीडिया घोटालों को ही भ्रष्टाचार मानता है और उन्हें सनसनीखेज बनाकर पेश करता है। कुछ घोटालों के 'परदाफाश' के पीछे तो किसी ईश्यालु मंत्री का हाथ होता है तो कुछ के पीछे किसी प्रतिस्पर्धी कंपनी का। इस प्रकार सरकार के नीतिगत भ्रष्टाचार और राजनीतिक भ्रष्टाचार बच निकलते हैं जबकि भ्रष्टाचार के वे ही मुख्य स्रोत हैं। सुनील की किताब भ्रष्टाचार के खिलाफ लोगों के रोष को एक व्यापक और ठोस आधार-प्रदान करने की कोशिश करती थी ताकि भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रकट होनेवाला रोष व्यर्थ न चला जाए और वह भ्रष्टाचार के

स्रोत को समझकर उसके उद्गम पर चोट करे। किताब के परिचय (ब्लर्ब) में लिखा गया था कि भ्रष्टाचार दूर करने के लिए 'कड़े कानून बनाए जाने को इस समस्या का एक मात्र समाधान माननेवाले यह भूल जाते हैं कि जिस प्रकार सदाचार की अपनी संस्कृति और संरचना होती है उसी प्रकार भ्रष्टाचार की भी अपनी संस्कृति और संरचना होती है। भ्रष्टाचार की संस्कृति और संरचना को देखने-समझने और इस समस्या के समाधान के लिए ठोस समझ बनानेवाली हिंदी में संभवतः पहली पुस्तक।'

किताब को बेचे जाने से रोकना, हमारे जनांदोलनों और उनके कार्यकर्ताओं की असहिष्णुता और छुटभैयेपन की अभिव्यक्ति था। अन्ना आंदोलन के लोगों को एक ही फिकर थी कि भ्रष्टाचार-आंदोलन पर उनकी मिल्कियत रहे। जनांदोलन भी यदि स्थापित राजनीतिक दलों का चरित्र

अपना लें तो फिर उनका यानी जनांदोलनों का क्या अर्थ रह जाएगा ? ठोस स्तर पर कुछ भी करने के लिए समझ जरूरी होती है और वह संवाद से प्राप्त होती है अपनी बजाने और अपना राग अलापने से नहीं।

'भ्रष्टाचार को कैसे समझें' प्रायः एक सौ पृष्ठों की किताब है, जिसमें सच्चिदानंद सिन्हा और किशन पटनायक के लेख 33 पृष्ठ घेरते हैं। यदि हम इसे किताब न मानकर बड़ी पुस्तिका मानें तो सुनील ने कोई किताब नहीं लिखी और न ही अपने सैंकड़ों लेखों में

देश की राजनीति में आज उस जैसा कौन है, जो प्राइवेट मोटर कारों पर प्रतिबंध लगाने की बात कहता हो, आठ लाइनों वाले राज मार्गों को मुसीबत के मार्ग मानता हो, जिसे पानी को बोतल में बंद कर बेचा जाना पाप जान पड़ता हो और जिसे एक आदिवासी का बच्चा, धनी-मानी-विद्वान, अंबानी-अडानी, सोनिया-मेनका गांधी और अमर्त्य सेन और जगदीश भगवती के बच्चों से ज्यादा होनहार लगता हो ?

से कुछ को छोटकर अपनी कोई मोटी किताब बनाई। उससे अत्यंत स्नेह करनेवाले दो मौलिक समाजवादी चिंतकों - सच्चिदानंद सिन्हा और किशन पटनायक को हमेशा यह अफसोस होता रहा है कि सुनील को किताब लिखने की फुरसत नहीं मिलती। हाल में अरुण कुमार त्रिपाठी ने भी अपने एक लेख में ऐसा अफसोस जाहिर किया है। लेकिन वह अपने बाबूजी के कुछ लेखों को संकलित कर एक किताब के रूप में प्रकाशित करवाना चाहता था और यह इच्छा उसने कई बार जाहिर की थी। सुनील की इस इच्छा का रामप्रतापजी को शायद पता न हो, यह सोच कर मैंने सुनील की मृत्यु के बीस-पच्चीस दिन बाद उन्हें फोन किया-

सुनील की बहुत इच्छा थी कि आप के लेखों का एक संकलन प्रकाशित हो सो इस बारे में बात करना चाहता हूँ तो उन्होंने चरम विरक्ति के भाव से कहा- प्रकाशित करने के लिए उन्हें रिराइट (कोई संबंधित जानकारी जो पहले नहीं थी उसे जोड़ना, अनावश्यक हिस्सों को हटाना, लेखों को संशोधित करना यानी काफी कुछ नए सिरे से लिखना) करना होगा और यह काम मेरा स्वास्थ्य जैसा है उसमें नहीं होगा; सुनील के लेखों का संग्रह जरूर प्रकाशित होना चाहिए। रामप्रसादजी के स्वर में इतनी ज्यादा विरक्ति थी और फिर वह आवाज से ही इतने ज्यादा अस्वस्थ लग रहे थे कि बातचीत को आगे बढ़ाना मुनासिब नहीं सोचकर मैंने कहा ठीक है।

सुनील का अपने पिता के साथ रिश्ता आत्मीयता और आदर के साथ (किसके साथ नहीं था!) बौद्धिक भी था। रामप्रतापजी अर्थशास्त्र के प्रोफेसर थे, सुनील ने भी अर्थशास्त्र की ही पढ़ाई की। रामप्रतापजी के लेख सुनील की लेखों की याद दिलाते हैं तो सुनील के भी रामप्रतापजी के लेखों की। रामप्रतापजी ने भी प्रचुर लिखा है और उनके विषय भी सुनील के विचार क्षेत्र के अनुकूल होते हैं। वार्ता के नवंबर 2013 में छपा उनका लेख 'बढ़ती कारें, बढ़ती समस्याएँ' ऐसा है कि अगर कोई लेखक का नाम न देखकर पढ़े तो उसे वह सुनील का भी समझ सकता है। डॉ. अनिल सदगोपाल ने 'जनता (18 मई, 2014) में उत्पीड़ितों के बीच एक समाजवादी बौद्धिक' (ए सोशलिस्ट इंटेलेक्चुअल एमंग द औपरेस्ट) शीर्षक से सुनील के बारे में अपने लंबे लेख में लिखा भी है कि सुनील पर निश्चय ही अपने पिता का प्रभाव रहा होगा... मजे की बात यह है कि कुछ लोग दावा करते हैं कि अपने पिता पर सुनील का पलटा प्रभाव कोई कम न था।'

सुनील की मृत्यु के बाद उसके बारे में मित्रों से बात करते हुए (अभी तक रोज किसी न किसी प्रसंग में सुनील

की, हम सब जो उसे जानते थे, बात किए बिना नहीं रह पाते) उसके बारे में कोई न कोई अनजानी बात मालूम पड़ती है। मुझे यह पता था कि सुनील अपनी घनघोर व्यस्तता के बावजूद अपने माता-पिता, भाई-बहनों (और शायद रिश्तेदारों का भी) का पूरा खयाल रखता था और अपने सारे पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करता था लेकिन, स्मिता के परिवार के लोगों का भी उसी तरह खयाल रखता था, यह पता नहीं था। दो दिन पहले ही मालूम हुआ कि ऐसा खयाल रखता था कि स्मिता के परिवार के लोग सुख-दुख में यह महसूस करते थे कि 'सुनील तो है, वह सब संभाल लेगा।' 'संभाल' शब्द से जो भी ध्वनियां निकलती हैं, वे सब सुनील के स्वाभाव में थीं।



पिता रामप्रताप गुप्ता के साथ

सुनील के जाने के बाद यह जानकर थोड़ा अचरज हुआ कि जनांदोलनों और विभिन्न संगठनों से जुड़े जिस किसी भी व्यक्ति से हमारी मुलाकात हुई, वह सुनील से परिचित था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि न जाने उसका कितने लोगों, कितने संगठनों से संपर्क था। वह जहां भी जाता दूढ़-दूढ़कर ऐसे लोगों से मिलता जो किसी न किसी रूप में वैकल्पिक विकास के कार्यक्रम से जुड़े थे; हम अपने को सच्चा मान कर जिन्हें 'नौटंकी करते हैं वैकल्पिक विकास की' कह खारिज कर देते हैं उन्हें भी

वह कभी खारिज नहीं करता था; वह निरंतर तलाशता रहता था और सोचता था कि समानधर्मा और सहमना लोग मिल सकते हैं सो उन्हें तलाशने में क्या हर्ज है।

सामयिक वार्ता सबसे इटारसी से सुनील के संपादन में निकलनी शुरू हुई तबसे उसके ग्यारह अंक निकले। ग्यारहवें अंक का संपादकीय लिखते हुए उसके मस्तिष्क से रक्त स्राव (हैमरेज) हुआ और वह एक पृष्ठ के आगे लिख न सका। इन ग्यारह अंकों से यह मान्यता पुष्ट होती है कि कोई अच्छी पत्रिका यदि जानी जाती है तो वह अपने संपादक के

नाम से जानी जाती है। 'सरस्वती' अपने नाम से नहीं, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के उसके संपादक होने से जानी जाती है, इसी प्रकार 'प्रताप' और 'हंस' इसलिए जाने जाते हैं कि गणेशशंकर विद्यार्थी और प्रेमचंद उनके संपादक थे। इटारसी से प्रकाशित होनेवाली वार्ता इसलिए जानी जाएगी कि उसका संपादक सुनील था।

वार्ता एक राजनीतिक और आंदोलनात्मक पत्रिका है। ऐसी पत्रिका अगर नीरस न भी हो तो दिलचस्प नहीं होती। सुनील के संपादन में वार्ता राजनीति और आंदोलन प्रधान होते हुए भी नीरस होना तो दूर एक दिलचस्प पत्रिका बन गई थी; उसके दिलचस्प होने का कारण यह था कि उसकी सारी सामग्री मुख्य धारा की पत्रिकाओं से अलग होती थी और वह अपने सीमित साधनों के दायरे में पाठकों को देश के बाहर के जनांदोलनों से और ऐसी घटनाओं से, जिनमें समाज-परिवर्तन के बीज छिपे हों, अपने पाठकों को परिचित कराने की यथाशक्य कोशिश करती थी। सुनील, वार्ता के बारे में जिससे भी चर्चा होती उससे सुझाव चाहता। गिरधर राठी ने लातिनी अमरीका पर अंक निकालने का सुझाव दिया तो उस पर अमल कर सुनील ने 'लातिनी अमरीका की नई खोज' शीर्षक से एक ऐसा अंक निकाला, जिसकी प्रशंसा सर्वत्र हुई। इस अंक के प्रारंभ में लातिनी अमरीका का नक्शा छापकर सुनील ने यह भी जताया कि वह कितनी सूझ-बूझवाला संपादक है- नक्शे ने एक तरह से पूरे लातिनी अमरीका को समेट लिया था। अंक के संपादकीय में लातिनी अमरीका के जनांदोलनों और वहां वैकल्पिक विकास की सुगबुगाहट के संकेतों की चर्चा में भारत का संदर्भ अप्रत्यक्ष रूप से इस तरह मौजूद था कि हम उसमें भारत में समाजवाद की संभावनाओं के बारे में सोचने लगते थे। इसी अंक में उरुग्वे के राष्ट्रपति के बारे में 'दुनिया का सबसे गरीब राष्ट्रपति' शीर्षक से छपे संकलित लेख की, जो भी मिला उसी ने चर्चा की।

सुनील खुद सरल और स्पष्ट भाषा लिखता था और वार्ता में बोझिल और अनुवादी भाषा का प्रायः निषेध सा था। बाबा मायाराम ने बताया कि बहुत से लेखों को तो वह रिराइट करता था। स्पष्टता सुनील के लिए एक बहुत बड़ी कसौटी थी, भाषा, राजनीति, सांगठनिक कार्यों में, आय-व्यय के हिसाब में, सब में। आम आदमी पार्टी के बारे में उसकी प्रधान शिकायत स्पष्टता को लेकर ही थी कि उसके कार्यकलाप और नीतियों में स्पष्टता का सर्वथा अभाव है। स्पष्ट हिंदी लिखने के लिए सुनील की हिंदी एक मानक मानी

जा सकती है।

'दिनमान' ने रघुवीर सहाय के संपादन में अपने पाठकों को लिखने को प्रेरित किया और इस तरह उसने नए लेखक पैदा किए; हिंदी में राजनीतिक व सामाजिक विषयों पर लिखनेवालों में बहुतों की पहली रचना दिनमान में पाठकों के स्तंभ में छपी है। वार्ता के पहले अंक में ही 'वार्ता के लिए लिखें' निवेदन किया गया और बाद के ज्यादातर अंकों में उसे दुहराया जाता रहा। 'वार्ता' का एक उद्देश्य ऐसे लोगों से लिखवाना भी था, जो कॉलेज और विश्वविद्यालय की पढ़ाई न होने के कारण लिखने की बात मन में ही नहीं ला पाते, जो लिखने से झिझकते हैं और जो यह सोचते हैं कि उनके न लिखने से कोई फरक नहीं पड़ता। एक अच्छी पत्रिका हमेशा नए लेखकों को जन्म देती है। सुनील के संपादन में वार्ता जिस तरह निकल रही थी उसमें वह निश्चय ही नए लेखकों को जन्म देती और हिंदी भाषियों को भी (देश में ऐसे हिंदी भाषी लोगों की संख्या का ठीक अंदाजा लगाना मुश्किल है जो हिंदी समझ लेते हैं, पढ़ भी लेते हैं पर लिख नहीं पाते; कुछ करोड़ होनी चाहिए) अपनी टूटी-फूटी हिंदी में लिखने को प्रेरित करती।

एक बात और, किसी भी अच्छी पत्रिका के संपादक का अपने लेखकों से अंतरंग संबंध होता है। शायद वार्ता में छपा कोई भी लेखक ऐसा नहीं होगा, जिससे सुनील ने टेलीफोन पर बात न की हो; भाषा के किसी भी क्षेत्रीय प्रयोग के बारे में पूछ-ताछ न की हो। जब कोई संपादक इतनी मेहनत करता हो और लेखक का आदर करता हो तो उसकी पत्रिका में लेखक (यदि वह अर्थ-पिशाच नहीं है तो) लिखना चाहने लगता है, पत्रिका उसे अपनी लगने लगती है; पत्रिका एक आंदोलन बनने लगती है। यह बहुत स्वाभाविक था कि वार्ता की ग्राहक संख्या लगातार बढ़ रही थी और अगर सुनील जीवित रहता तो वार्ता निश्चित रूप से एक ऐसी पत्रिका बन जाती, जिस पर सही अर्थ में गर्व किया जा सकता। सच तो यह है कि उसका वैसी पत्रिका बनना अब नामुमकिन है, सुनील जैसी मेधा, लगन और अथक परिश्रम करने की क्षमता किसमें है? यह निराशा की बात नहीं, सच को मानकर ही हम अपना जो भी सामर्थ्य हो, उसका सदुपयोग कर सकते हैं।

इस बेतरतीब लेख को समाप्त करते-करते यह खयाल आया कि सुनील की मृत्यु के बाद अपनी केसला-यात्रा मुझे तीर्थ-यात्रा जैसी मालूम पड़ती है; केसला एक पुण्य क्षेत्र है और सुनील का स्मरण एक पुण्य स्मरण।

चौबीस कैरेट के आदमी

अरुण कुमार त्रिपाठी

मैं जौहरी नहीं हूँ और न ही स्वर्ण आभूषणों का ग्राहक या व्यापारी। इसलिए कौन सा सोना खरा होता है और कौन खोटा इसकी पहचान करना कठिन है। लेकिन अपने एक समाजवादी साथी ने विदेशी फंड न लेने, छल छंद न करने और ज्यादा त्याग तपस्या करने वालों के लिए व्यंग्य में चौबीस कैरेट का जो जुमला चलाया वह सुनील भाई पर एकदम ठीक बैठता है। जिस शुद्धता का सोना बनाने से स्वर्णकार भी डरता है वैसी शुद्धता प्रकृति ने सुनील भाई के भीतर डाली थी। पहले मैं व्यक्तियों के चरित्र के बारे में बहुत धोखा खाता था। आज भी खाता हूँ लेकिन अब एक हद तक व्यक्तियों के चरित्र को पढ़ना सीख गया हूँ। इस बारे में तुलसीदास की एक जानी परखी पंक्ति हमेशा याद रहती है। वे सज्जन व्यक्तियों को शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की तरह बताते थे और दुर्जन व्यक्तियों को कृष्ण पक्ष के चंद्रमा की तरह। जिस तरह शुक्ल पक्ष का चंद्रमा पहले थोड़ी चमक के साथ दिखाई पड़ता है और बाद में उसकी चमक बढ़ती जाती है उसी तरह से सज्जन व्यक्ति पहली मुलाकात में कम प्रभावित करते हैं लेकिन धीरे-धीरे उनका प्रभाव बढ़ता ही जाता है। इसके विपरीत दुर्जन व्यक्ति पहली मुलाकात में तेजी से प्रभावित करते हैं लेकिन धीरे-धीरे जैसे उनका दुर्गुण प्रकट होता है उनका प्रभाव घटता जाता है। सुनील भाई ऐसे ही थे जो अपने आखिरी दिनों में ज्यादा तेजी से चमक रहे थे। सुनील अपने शरीर के साथ भौतिक रूप से अब हमारे बीच नहीं हैं लेकिन विचार और कर्म के रूप में सुनील आज भी हैं और हमेशा रहेंगे। उनकी चौबीस कैरेट की चमक कभी फीकी नहीं पड़ने वाली है और मिलावट तो अब कोई कर ही नहीं सकता।

आज जब विचारधारा से मुंह मोड़ चुकी आम आदमी पार्टी की दुर्दशा सामने आ रही है और उनके भीतर घमासान मचा हुआ है तब सुनील की वैचारिक दृढ़ता एक आशा भरी किरण की तरह से कौंध उठती है। सुनील यह मानते थे कि विचारधारा के बिना कोई बदलाव नहीं हो सकता। जबकि आम आदमी पार्टी के नेता और सुनील से ही अलग हुए कुछ साथी मानने लगे थे कि हमें बीसवीं सदी की किसी

विचारधारा को लेकर नहीं चलना है क्योंकि वह अब अप्रासंगिक हो चली है। इसलिए हर मामले पर उसके गुण-दोष के आधार पर फैसला करना है। केस टू केस फैसला लेने वाली इस सोच का हथ्र हम 2014 के चुनावों में देख चुके हैं और अब आगे उसके आंतरिक टकरावों के रूप में देखेंगे। अब तो वे सारे लोग लगभग पछताने लगे हैं जो सुनील से अलग होकर और उनकी दो दशक पुरानी समाजवादी जन परिषद छोड़कर 'आप' में शामिल हुए थे। सवाल सजप में लौटने, उसे पुनर्जीवित करने या आप से अलग होकर नया समाजवादी खेमा बनाने का नहीं है। सवाल उन विचारों का है जिसकी राजनीतिक जरूरत सुनील भाई देख रहे थे और किसी भी आंदोलन या राजनीतिक दल को उसकी कसौटी पर कस रहे थे।

सामायिक वार्ता के मार्च-अप्रैल 2014 के संपादकीय 'स्वच्छ व मानवीय पूंजीवाद संभव नहीं' में सुनील लिखते हैं 'उस वक्त (जब अर्थशास्त्री जगदीश भगवती और अमर्त्य सेन की बहस उठी थी) भारत के राजनीतिक क्षितिज पर आम आदमी पार्टी का उदय नहीं हुआ था, जो दिल्ली में चुनावी सफलता के बाद हुआ। इसने अभी तक अपनी आर्थिक नीतियां साफ नहीं की हैं। इसका प्रमुख मुद्दा भ्रष्टाचार और स्वच्छ राजनीति बना हुआ है। शायद आर्थिक नीतियों पर इसके भीतर काफी मतभेद हैं जिसे यह सुलझा नहीं पा रही है। अभी तक इसकी घोषणाओं और बिजली पानी को लेकर इसकी कार्रवाइयों से लगता है कि वह सेन के ज्यादा नजदीक होगी। यानी वह पूंजीवाद के खिलाफ नहीं होगी लेकिन उससे भ्रष्टाचार को निकालकर उसे जनहितैषी बनाने की कोशिश करेगी। ...दूसरे शब्दों में आम आदमी पार्टी संभवतः भारत में एक स्वच्छ और मानवीय पूंजीवाद की स्थापना करना चाहती है।'

अपने से अलग हुए और अरविंद केजरीवाल से जा मिले साथियों के प्रति या उनकी पार्टी के प्रति बिनी किसी कटुता के इतनी वैचारिक आलोचना किसी राजनीतिक कार्यकर्ता के लिए करना संभव नहीं है। बात कहने में कहीं न कहीं कटुता आ ही जाती है। लेकिन सुनील भाई की इस

पूरी टिप्पणी में कहीं भी कटुता नहीं है और उन्हें भी पूरा सम्मान देने का प्रयास है जो उन्हें छोड़कर चले गए। इसके बावजूद उनकी वैचारिक स्पष्टता में किसी तरह की कोई कमी नहीं दिखती। उन्हें अपना रास्ता स्पष्ट तौर पर मालूम है। इसीलिए इस टिप्पणी के आखिर में वे तीसरे रास्ते की खोज शीर्षक से लिखते हैं- 'सोवियत और चीनी प्रयोग जरूर असफल हो गए हैं लेकिन उनसे सीखते हुए एक तीसरा रास्ता ही देश- दुनिया को संकटों से मुक्ति दिला सकता है। जगदीश भगवती और अमर्त्य सेन दोनों से अलग यह तीसरा रास्ता गांधी, शुमाखर, लोहिया, जेपी, फिदेल कास्त्रो और चावेज के आसपास से गुजरता है। क्या केजरीवाल या गरीब दुनिया का कोई और जननेता इस रास्ते का अनुसंधान करने का बीड़ा उठाएगा?'

सुनील ने यहां जननेता कह कर अपने को समाजवाद की उस महान परंपरा के नायकों से अलग रखने की कोशिश की है लेकिन हकीकत में सुनील उसी परंपरा के नेता और बौद्धिक थे। तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद यह विश्वास करने का मन करता है कि सुनील अगर पंद्रह बीस साल और रहते तो एक दिन उनके पीछे जनता जरूर खड़ी होती और वे लोग भी उनके पीछे आते जो सत्ता और ग्लैमर के लोभ में छोड़कर चले गए। लगता है किसी ने सुनील के बारे में ही कहा है कि 'बड़े गौर से सुन रहा था जमाना, तुम्हीं सो गए दास्तां

कहते-कहते'। सुनील समाजवाद की दास्तां भी कह रहे थे और उसे छोटे रूप में ही सही लेकिन प्रयोग के माध्यम से जमीन पर उतारने का प्रयास भी कर रहे थे। सुनील सिर्फ विचार ही नहीं अपने कर्म में भी पूंजीवाद के उन तमाम मूल्यों के विरुद्ध थे जिन पर उसकी नींव खड़ी होती है। वे न तो सरकारी क्षेत्र में नौकरी करने गए और न ही उन्होंने निजी क्षेत्र को चुना। इसके साथ ही वे पूंजीवाद के उस तीसरे रास्ते की ओर भी नहीं गए जिसे तमाम क्रांतिकारी सहज रूप से अपना लेते हैं। वह रास्ता एनजीओ का है। समता संगठन से लेकर तवा मत्स्य सहकारी संघ और बाद में समाजवादी

जन परिषद तक उनकी जो भी राजनीतिक संगठनों की यात्रा रही वह इस तरह के प्रलोभनों से दूर रही।

इस टिप्पणीकार ने सुनील के निधन के तत्काल बाद लिखा था कि यह विडंबना है कि वे जिन आदिवासियों के लिए जिए उनमें से कोई उनकी अंत्येष्टि में नहीं था और उनकी अंत्येष्टि भी गांव से बहुत दूर राजधानी के पास इलाके में मध्यवर्गीय और अभिजात्य लोगों के बीच हुई। पर इस पर सुनील का वश नहीं था। इसमें कोई दो राय नहीं कि सुनील भारत ही नहीं दुनिया की महान समाजवादी विरासत की महत्वपूर्ण कड़ी थे और वे आदिवासियों, किसानों, मजदूरों, दलितों, पिछड़ों सहित महानगरों के उस मध्यवर्ग के भी थे जिसके मन में कहीं न कहीं समतामूलक समाज का सपना

सुनील समाजवाद की दास्तां भी कह रहे थे और उसे छोटे रूप में ही सही लेकिन प्रयोग के माध्यम से जमीन पर उतारने का प्रयास भी कर रहे थे। सुनील सिर्फ विचार ही नहीं अपने कर्म में भी पूंजीवाद के उन तमाम मूल्यों के विरुद्ध थे जिन पर उसकी नींव खड़ी होती है। वे न तो सरकारी क्षेत्र में नौकरी करने गए और न ही उन्होंने निजी क्षेत्र को चुना। इसके साथ ही वे पूंजीवाद के उस तीसरे रास्ते की ओर भी नहीं गए जिसे तमाम क्रांतिकारी सहज रूप से अपना लेते हैं। वह रास्ता एनजीओ का है।

जिंदा है। सुनील का जाना उस समतामूलक समाज के सपने के लिए न सिर्फ एक राजनेता का जाना है बल्कि उसके एक बड़े और प्रतिबद्ध विचारक का जाना है। वे वाणी, कर्म, विचार और व्यवहार के ऐसे समन्वय थे कि उनका नैतिक कद अपने तमाम समकालीनों से बहुत बड़ा होकर खड़ा होता था। उनके भीतर उन समाजवादी नेताओं की तरह पूंजीवादी ग्लैमर पैदा करने की क्षमता नहीं थी जो इसी व्यवस्था की आलोचना करते हुए इसी में बहुत सारी प्रसिद्धि पा जाते हैं। या यूँ कहें कि वे उस तरह का पाखंड कर नहीं पाते थे। लेकिन उनके भीतर सादगी और

समाजवाद के लिए प्रतिबद्धता का जो ग्लैमर था उसे राष्ट्रीय स्तर पर लोग पहचानते थे और उसका आदर करते थे।

ऐसे ही नहीं कहा जाता कि इस समय देश में सच्चिदानंद सिन्हा के बाद अगर कुछ प्रैक्टिसिंग सोशलिस्ट बचे थे तो उनमें सुनील का नाम अग्रणी था। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में पढ़ने और दिल्ली में रहने व विदेश जाने और वहां की व्यवस्था में खपने की पूरी संभावना के बावजूद सुनील का गांव लौटना कोई छोटी घटना नहीं है। यह भारत के मध्यवर्गीय जीवन की बड़ी घटना है और समाजवादी विचारधारा और आंदोलन की बड़ी उपलब्धि।

विदेश जाने के आकर्षण से गुलामी के दिनों में तो हमारा कोई भी समाजवादी या साम्यवादी नेता नहीं बच पाया था। कई बार तो लगता है कि विदेश जाकर ही उन्होंने अपने व्यक्तित्व का विकास किया।

लेकिन सुनील के संदर्भ में एक कमी जरूर अखरती है कि और वह है उन्हें अपने समाजवादी विचारों को सिद्धांत के रूप में व्यवस्थित करने का समय नहीं मिला। उनके दिमाग में बहुत सारी चीजें तमाम लोगों के मुकाबले कहीं ज्यादा स्पष्ट थीं। लेकिन सक्रिय राजनीतिक कर्म के कारण उन्हें वह अवसर और संसाधन नहीं मिल पाए जो उनके जैसी प्रखर मेधा के व्यक्ति को मिलने थे और जिसके माध्यम से उनके व्यवस्थित विचार और सिद्धांत जनता व कार्यकर्ताओं के सामने आते। यह कमी डॉ राममनोहर लोहिया के साथ भी रही और एक हद तक किशन पटनायक के साथ भी यह कमी महसूस की जा सकती है। सुनील के विचार और व्याख्यान बहुत हैं और उनका संकलन तो होना ही चाहिए लेकिन उनके विचारों को उनसे आगे बढ़ाने का काम भी होना चाहिए। सुनील को सच्ची श्रद्धांजलि यही होगी।

सुनील विचार और लेखन जो कुछ भी करते थे उसका एक उद्देश्य और व्यावहारिक पहलू भी होता था। तभी उन्होंने अन्ना आंदोलन के दौरान 'भ्रष्टाचार को कैसे समझें' नामक पुस्तिका का जब प्रकाशन किया तो उसमें लिखा कि 'इस पुस्तक का मकसद एक बुद्धि विलास नहीं है। इसका मकसद तो यह है कि नगरों-कस्बों-गांवों में भ्रष्टाचार के खिलाफ जो सुगबुगाहट शुरू हुई है उसमें इससे मदद मिले'।

उनकी नजर में 'भ्रष्टाचार के सवाल को न तो आज की आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था से काटकर देखा जा सकता है और न ही आज के युग के बड़े सामाजिक राजनैतिक सवालों से अलग किया जा सकता है। ऐसा संभव नहीं है कि देश में एक गलत विकास पद्धति, घोर विकृत प्राथमिकताएं, कंपनी राज व साम्राज्यवादी अनुसरण चलता रहे तथा समाज में ईमानदारी कायम हो जाए।' हालांकि वे भ्रष्टाचार विरोधी लड़ाई को अन्य साम्यवादी और समाजवादी साथियों की तरह पूरी तरह एनजीओ की लड़ाई बताकर खारिज नहीं करते थे। उनका कहना था कि परिवर्तन चाहने वालों के लिए यह एक अच्छी स्थिति है। इससे भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई गरीबी, शोषण, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ाई के साथ जुड़ जाती है। यही मिली जुली लड़ाई आज के भ्रष्ट, शोषक और विनाशकारी ढांचे को नष्ट कर सकेगी और बदल सकेगी।

हो सारा संसार बराबर

डॉ. रणजीत

कर दो सबको यार बराबर
हो सारा संसार बराबर।

मालिक और मजदूर बराबर
बाम्हन और चमार बराबर।

एक-एक को दस-दस बंगले
यह अन्याय अपार बराबर।

रोटी, कपड़ा, घर, इलाज पर
सबको हो अधिकार बराबर।

पांच उंगलियां नहीं एक सी
बात तुम्हारी यार बराबर।

दुगुनी नहीं पर कोई उंगली
यह अन्तर स्वीकार बराबर।

लाख करोड़ गुना अन्तर यह
जुर्म, जबर, अतिचार बराबर।

धन, धरती, पानी बंट जाएं
मंत्र, तंत्र औजार बराबर।

उत्पादन के हर साधन पर
श्रमकर का अधिकार बराबर।

कुदरत बराबरी की हामी
उसका है व्यवहार बराबर।

हर प्रजाति के भीतर देखो
रूप रंग आकार बराबर।

फूल-फूल तितली-तितली में
समता का विस्तार बराबर।

कुछ लोगों के छल-बल का फल
विषम विकल संसार सरासर।

इसे बनाना ही होगा अब
इक वैश्विक परिवार बराबर।

जरा रोग पीड़ित अशक्त जन
मिले सभी को प्यार बराबर।

काफिस्मोमिन, आस्तिक-नास्तिक
सबके हों अधिकार बराबर।

सबके लिए बनी यह पृथ्वी
सुख-सुविधा- आगार बराबर।

सहज जीवन

टुलटुल विश्वास

सुनील भाई को याद करते ही सबसे पहले मन में एक शांत सौम्य स्वभाव वाले व्यक्ति की निर्मल मुस्कुराहट आंखों में तैरने लगती है। और अगले ही पल याद आती है उनकी सादगी, उनका खादी का कुरता, चेहरे के बाजू से लटकनेवाली चश्मे की डोरी और उनके सरोकार के किसी भी छोटे से लेकर बड़े विषयों के प्रति उनकी अटूट प्रतिबद्धता। सुनील भाई होशंगाबाद जिले के केसला-इटारसी क्षेत्र के आदिवासियों के बारंबार विस्थापन के प्रति जितना जुटकर काम कर रहे थे, उतनी ही एकाग्रता से वे सामयिक वार्ता का संपादन करते थे। सामयिक वार्ता के लिए सदस्यता जुटाने में उनकी तत्परता और गंभीरता का मान उस गंभीरता से किसी तरह कम नहीं होता था जिसके साथ वे हमारे आसपास से लेकर पूरी दुनिया में घटनेवाले आर्थिक परिघटनाओं का गहरा विश्लेषण प्रस्तुत करते थे। और यह सब करते हुए वे एक समतामूलक समाज को गढ़ने में लगे हुए थे। अपने आदर्शों को जीने की कोशिश में लगे हुए थे।

सुनील भाई से मेरी मुलाकात स्मिता के जरिए हुई थी। स्मिता हमारी दोस्त हैं, नारीवादी आंदोलन की साथी हैं। पहली बार उन्हीं से मिलने में केसला गई थी- मध्य प्रदेश महिला मंच की एक और सदस्य के साथ। तब भूमकापुरा के उनके घर में सुनील भाई से भी मुलाकात हुई। शिउली (सुनील और स्मिता की बेटी शिउली वनजा) तब दो-एक साल की होगी, और बालू (इनका बेटा इकबाल अभिमन्यु) पैदा नहीं हुआ था। सुनील भाई ने गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया। हमारे लिए चाय बनाई, परोसी, और फिर हम तीनों औरतों को बातचीत करते छोड़कर किसी काम से बाहर निकल गए। मेरी उम्र तब कोई 17-18 साल की रही होगी। स्त्री-पुरुष समानता के विचार मन में कुलबुलाने लगे थे। अपने घरेलू और आस-पड़ोस के जीवन में इसकी कमी खटकती थी। इस विषय पर मैंने कुछ-कुछ पढ़ना भी शुरू कर दिया था। परंतु इसका इस कदर प्रतिबद्ध जीवंत उदाहरण मेरे लिए यह शायद पहला-पहला था। पुरुष रसोई में काम करें, चाय बनाएं, यह अब मेरे लिए नया नहीं था। परंतु घर में स्त्री के होते हुए ऐसा बहुत ही आसानी से किया जा

सकता है, एक स्वाभाविक घरेलू गतिविधि की तरह जिस पर किसी की भाँहें न उचकें और न ही कोई वाहवाही से इस काम को अस्वाभाविक या असहज बना दे, यह मेरे लिए एकदम नया था।

दूसरी बार जब स्मिता और सुनील भाई के घर जाना हुआ तब बालू बहुत छोटा था। शिउली का नवोदय विद्यालय में दाखिला हो गया था। वह खुद उत्साह से लबालब थी और पूरा परिवार उसके होस्टल जाने की तैयारी में जुटा था। सुनील भाई और स्मिता ने अपने दोनों बच्चों के साथ जिस तरह के खुलेपन और बराबरी का रिश्ता कायम किया था, उसकी एक झलक उस बार मुझे देखने को मिली। बहुत ही कम संसाधनों से लैस एक सादा जीवन यह परिवार जी रहा था- गांव में रहने की तमाम कठिनाइयों और चुनौतियों के साथ। परंतु दुनिया-जहान का सब कुछ इनके बीच के बातचीत में मौजूद था।

फिर, कई साल बाद एक बार होशंगाबाद के कलेक्टर कार्यालय के सामने सुनील भाई, शिउली, गुलियाबाई, फागरामजी और अन्य कई लोगों के साथ मिलना हुआ। तवा बांध के विस्थापितों के साथ गठित तवा मत्स्य संघ के प्रतिनिधियों के साथ ये वहां अपनी कुछ मांगों को लेकर धरना दे रहे थे। शिउली को काम दिया गया था कलेक्टर को देने के लिए एक पत्र तैयार करने का। तो वहां एक बड़े से पेड़ के नीचे बने चबूतरे पर बैठकर पिता और पुत्री एकदम बराबरी से इस पर चर्चा कर रहे थे कि उस पत्र में क्या-कैसे प्रस्तुत करना है। इस वार्तालाप में सुनील भाई कहीं से भी पिता नहीं थे, वे एक सामाजिक कार्यकर्ता थे जो एक और सामाजिक कार्यकर्ता से संवाद कर रहे थे। मुझे इस बातचीत में सबसे खास बात यह लगी थी कि न तो यहां पिता का बड़ा होना था, न ही अनुभवी कार्यकर्ता के नाते सफेद बाल या वरिष्ठता की धाक। दोनों बहुत ही सहज-सरल तरीके से, एकदम बराबरी के अंदाज में हाथ में लिए काम और उससे जुड़े मुद्दों के बारे में बात-विचार कर रहे थे। जाहिर है, अपने लंबे अनुभव के चलते सुनील भाई का पलड़ा भारी था। वे बहुत कुछ बता रहे थे, सुझा रहे थे, ड्राफ्ट पर संशोधन



उनके विचार कई बार पढ़ने को मिले, कभी-कभी सुनने को भी। उनके लिए सम्मान मन में बढ़ता ही रहा। परंतु यह भी सच है कि उनके साथ मेरा वास्ता सामाजिक सरोकारों तक ही सीमित रहा। घनिष्ठता और एक स्नेहिल अपनापन आज भी स्मिता के लिए ही ज्यादा है। सुनील भाई को मैं देखती-पढ़ती-सराहती रही, पर थोड़ा दूर से।

आज जब सुनील भाई को याद करती हूँ, तो

कर रहे थे। परंतु उनका अंदाज इतना सहज था कि वे कहीं से भी कुछ 'देते हुए' नजर नहीं आ रहे थे। और शिउली की परवरिश भी इतनी पुख्ता थी, कि वह वहां कुछ 'लेते हुए' नहीं दिखती थी। वह एक अर्थपूर्ण प्रक्रिया में अपना जरूरी योगदान देती हुई, और उस प्रक्रिया में ही अनायास बहुत कुछ सीखती हुई प्रतीत होती थी। 'देने' के अहंकार और 'लेने' की दासता के भाव के बगैर वहां एक स्वस्थ आदान-प्रदान हो रहा था।

इस बीच स्मिता और सुनील भाई दोनों से ही मिलना-जुलना होता रहता था। स्मिता तो मध्य प्रदेश महिला मंच की बैठकों या कार्यक्रमों में मिल जातीं, या किसी किताब की खोज में पिटारा आ जातीं। सुनील भाई कभी भोपाल गैस पीड़ितों के संघर्ष के किसी मोर्चे पर मिल जाते, कभी नर्मदा आंदोलन के कार्यक्रमों में। कभी वे ऐसे ही मिलने आ जाते- कहीं से आते-जाते, भोपाल से गुजरते हुए। हर बार उनके झोले में कुछ नई किताबें होतीं। पढ़ने और सोचने-विचारने का मसाला होता। नई आर्थिक नीति, सतपुड़ा टाइगर परियोजना से उजड़नेवाले इन्सानों की दास्तान, राष्ट्रमंडल खेल क्यों भारत की प्राथमिकता नहीं... कोई ऐसा सामाजिक-आर्थिक विषय न होगा जिस पर सुनील भाई ने विचारोत्तेजक लेख न लिखे हों, पुस्तिकाएं न प्रकाशित की हों। अपने-आप में एक अभियान हैं ये पुस्तिकाएं, जो इस इकलौते व्यक्ति-रूपी आंदोलन ने हमें दी हैं।

बाद के दौर में स्मिता से कुछ कम मिलना होता था, सुनील भाई से ज्यादा। सामाजिक-आर्थिक सरोकारों पर

उनके तमाम सामाजिक-आर्थिक योगदान को याद करने के बाद जो बात मन को देर तक ऊर्जा देती है वह है उनका पिता का रूप। सुनील भाई और स्मिता ने मिलकर शिउली और बालू को एक बहुत ही अनूठा बचपन दिया। इसमें अपने फैसले खुद लेने की आजादी भी रही और अपने आसपास की सामाजिक परिस्थितियों के प्रति गहरा चिंतन और एक्शन भी। अपने विषय में गंभीर स्कॉलरशिप भी और अन्य कई विषयों में रुचि भी। लगता है कि सपने देखने की पूरी आजादी थी इन बच्चों को, परंतु अकेले अपने लिए नहीं, अपने आसपास के समाज और उसके कठिन हकीकतों को भूलकर नहीं। अपनी पसंद-नापसंद चुनने के हकदार थे वे, पर सोच-समझ के साथ अपने फैसले लेने और उन्हें निभाने की जिम्मेदारी के साथ।

पत्रिका नहीं, वैचारिक आंदोलन

सामयिक वार्ता

पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं,
मित्रों को उपहार दें

देश और दुनिया की घटनाओं व हलचलों
को जानने समझने और विश्लेषण में
मददगार एक पत्रिका

सुनील भाई की विरासत

लिंगराज

जब देश भर में चुनाव का कोलाहल मचा हुआ था तभी सुनील भाई चले गए। चुनाव के पहले मेरे जैसे उनके कई नजदीकी साथी समाजवादी जन परिषद (सजप) छोड़कर आम आदमी पार्टी (आप) में चले गए थे। क्या वह हम लोगों से नाराज होकर चले गए? जिस दिन उन्हें मस्तिष्क में रक्त स्राव (ब्रेन हैमरेज) हुआ उस दिन ही सुबह फोन पर उनसे बात हुई थी, उन्होंने कहा था, चुनाव के नतीजे आने के बाद जल्द मिलेंगे और बात करेंगे।

तीस साल पहले 1981 में मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जनेवि) में एमए का छात्र था। मेरा सपना आम मध्यवर्गी सपना था- सिविल सर्विस की परीक्षा पास कर बड़ा अफसर बनना। लेकिन जनेवि के राजनीतिक-सांस्कृतिक माहौल ने मेरे सपने की दिशा बदल दी। जनेवि में उन दिनों समता युवजन सभा ने डीएसएफ और फ्री थिंकर्स के साथ गठबंधन कर छात्र संघ का चुनाव जीता। नलिनीरंजन महंती छात्र संघ के अध्यक्ष चुने गए। छात्र संघ ने विश्वविद्यालय में जो आंदोलन छेड़ा उसमें सैकड़ों छात्र तिहाड़ जेल में कैद रहे। जनेवि में नए छात्रों का दाखिला एक साल बंद रहा। आंदोलन के वक्त सुनील भाई और जसवीर सिंह के नेतृत्व में असम के छात्र आंदोलन के समर्थन में समता संगठन की छात्र-युवा ईकाई सयुस की दिल्ली से गुवाहाटी तक की साइकिल यात्रा चल रही थी। मुझे आज भी यह लगता है कि छात्र-संघ के आंदोलन के समय अगर सुनील भाई जनेवि में होते तो उसका तार्किक परिणाम कुछ और होता।

1984 में सुनील भाई और जसवीर सिंह के नेतृत्व में एक और यात्रा आयोजित की गई- पंजाब के संकटमय दिनों में सरकारी दमन के विरोध में दिल्ली से अमृतसर की पद-यात्रा। इन्हीं दिनों सुनील भाई, चेंगल रेड्डी और जसवीर सिंह मिल कर 'समता एरा' नाम की एक अंगरेजी पत्रिका निकालते थे। पत्रिका के साथ किताबों का प्रकाशन भी शुरू किया गया था। पंजाब की स्थिति, समाजवादी आंदोलन के पचास साल और उपभोक्ता संस्कृति पर तीन किताबें प्रकाशित की गईं। इन्हीं दिनों सच्चिदानंद सिन्हा दिल्ली में रह रहे थे।

उनका सतत मार्ग दर्शन सुनील भाई को मिलता था।

जनेवि में दो साल के छात्र राजनीति के अनुभव के बाद मुझे लगा कि यह राजनीति अपर्याप्त है और मुझे अपने इलाके में पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में राजनीति करनी चाहिए। 1984 के समता संगठन के रांची सम्मेलन के बाद मैं ओड़िशा लौट गया। मेरे इस निर्णय से सुनील भाई खुश नहीं थे, उन्होंने मुझे कहा कि थोड़ा सोच कर निर्णय करना चाहिए, लेकिन एक साल बाद वह स्वयं ही जनेवि छोड़ कर मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में काम करने चले गए।

सुनील भाई अर्थशास्त्र के विद्यार्थी थे। उनके शोध का विषय था ग्रामीण कर्ज व्यवस्था। बीए तक हिंदी माध्यम से पढ़ाई करने के बावजूद जनेवि की एमए परीक्षा में अक्ल रहे। वह हमारे जैसे छात्रों के, जो अंगरेजी माध्यम से नहीं पढ़े थे, एक आदर्श (रोल मॉडल) बन गए थे। मैं उनके संपर्क में आया और छात्र-राजनीति में भाग लेने लगा और उसके आगे भी लोक-राजनीति में सक्रिय रहने की बात सोचने लगा। विश्वविद्यालय परिसर में सक्रिय छात्र संगठनों में मैंने समता युवजन सभा (सयुस) को चुना तो उसकी वजह थे सुनील भाई। पढ़ाई में अक्ल, जीवन में सहज-सरल सादगी। बाद में पता चला कि किशन पटनायक उनके मार्गदर्शक हैं। जनेवि परिसर में सुनील भाई की उपस्थिति एक असामान्य और असाधारण उपस्थिति थी। वह हमारे आदर्श थे। उनका खादी का बिना इस्तरी किया हुआ कुरता पायजामा और टायर की चप्पल पहनना, जाड़ों में एक शाल ओढ़कर रहना, सब पहले-पहले अजीब लगता था, लेकिन धीरे-धीरे यही सब आकर्षक लगने लगा।

समता संगठन ने 1980 में अपनी स्थापना के वक्त ही सत्ता राजनीति से अपने को अलग रखने का निर्णय किया था। 1977 के जनता पार्टी के शासनकाल में किशन पटनायक ने शायद अपने सोशलिस्ट साथियों की सत्ता लोलुपता को देखकर एक भिन्न चरित्र के राजनीतिक समूह के गठन की आवश्यकता महसूस की होगी। इस तरह के भिन्न समूह के लिए सुनील भाई एकदम फिट बैठते थे।

समता संगठन के कार्यक्रम में चुनावी राजनीति से अलग संगठन, संघर्ष, रचनात्मक कार्य और विचार- विनिमय पर जोर था। डेढ़ दशक के अपने अस्तित्व के बाद समता संगठन ने सिद्धांत रूप में चुनावों में भाग लेने के निर्णय के साथ सहमता जनांदोलनों और संगठनों के साथ एक राजनीतिक दल समाजवादी जन परिषद गठित कर उसमें अपना विलय कर लिया।

डॉ. राममनोहर लोहिया ने सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकलाप के लिए तीन सूत्र दिए थे - जेल, फावड़ा और वोट। सुनील भाई ने सजप के महामंत्री रहने के दौरान इनमें दो और सूत्र जोड़े- संगठन और विचार निर्माण। इस प्रकार सजप के पांच सूत्र बने- जेल (संघर्ष), फावड़ा (निर्माण), वोट (चुनाव), संगठन और विचार निर्माण; पांचों को समान महत्व देने पर जोर दिया गया। विचार निर्माण का मुद्दा अनूठा था। इसका उद्देश्य लोगों को अपनी समस्याओं पर खुद विचार करने के लिए प्रेरित करना था, भेड़ चाल को हतोत्साहित करना था।

विचार निर्माण के प्रकल्प में सुनील भाई की प्रखर बौद्धिक क्षमता एक बहुत बड़ी पूंजी थी। आम कार्यकर्ता को सोचने के लिए प्रेरित करने में सुनील भाई की सरल भाषा में पेचीदा समस्याओं को समझानेवाली पुस्तिकाएं बहुत सहायक थीं। कुछ पुस्तिकाएं के नाम याद आ रहे हैं- 'विदेशी मुद्रा का फूलता गुब्बारा', 'किसानों को बचाएं, दोहा वार्ताओं को नहीं', 'डंकल प्रस्तावों के कैसे समझें', 'भूख गरीबी और महंगाई', 'मुसीबत के मार्ग', 'भ्रष्टाचार को कैसे समझें', 'भारत शिक्षित कैसे बने'। जितनी पुस्तिकाओं के नाम याद आए उनसे कम से कम दुगुनी या तिगुनी सुनील भाई ने अपने 35 वर्ष के कर्ममय सार्वजनिक जीवन (मैं 1981 से उनके कर्ममय सार्वजनिक जीवन की शुरुआत मान रहा हूँ) में लिखी होंगी। परचों, विज्ञप्तियों, ज्ञापनों, प्रस्तावों के मस्विदों और हिंदी दैनिकों में लिखे गए लेखों की संख्या तो अनगिनत होगी। उनका प्रायः सारा लेखन हिंदी में है। जरूरत पड़ने पर अंगरेजी में भी लिखा है, और वह भी हिंदी जितना ही स्पष्ट और सरल।

इक्कीसवीं सदी में लातीन अमरीका के देशों में ह्यूगो सावेज (वेनेजुएला), ईवो मोरालेस (बोलीविया) जैसे नेताओं ने लोकतांत्रिक प्रक्रिया से सत्ता में आने पर जो कार्यक्रम चलाए, उन्हें सुनील भाई काफी उम्मीद से देखते थे। इक्कीसवीं सदी में समाजवाद के नए स्वरूप के बारे में सृजनात्मक सोच थी उनकी; इस अर्थ में वह किशन पटनायक के सच्चे

और स्वाभाविक वारिस थे। काश! वह किशनजी जितनी उम्र तक हमारे बीच रहते! तवा बांध के निर्माण से विस्थापित होनेवाले आदिवासियों को एक निर्णायक लड़ाई लड़ने के बाद बांध के कारण अस्तित्व में आए जलाशय में मछली पालने और पकड़ने का अधिकार मिला। आदिवासियों को संगठित कर सुनील भाई ने अधिकार दिलाने के साथ सहकारिता संघों के माध्यम से तवा मत्स्य संघ बनाकर रेल मार्ग से सुदूर हावड़ा (कलकत्ता) तक मछलियों को भेजने व बेचने की जो अभिनव व्यवस्था की, उसकी हम सजप की एक बड़ी रचनात्मक उपलब्धि के तौर पर पेश करते थे और फख्र महसूस करते थे। इस रचनात्मक प्रयोग के पहले पांच वर्षों में सुनील भाई को इतना वक्त देना पड़ता था कि सजप की बैठकों में उपस्थित नहीं हो पाते थे। सुनील भाई जिस काम को हाथ में लेते उसमें अपने को पूरी तरह झोंक देते थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि सुनील भाई इस काम को राजनीतिक काम से अलग किस्म का काम नहीं मानते थे। 2007 या 2008 में सरकार ने यह बहाना बनाकर कि तवा जलाशय सतपुड़ा टाइगर रिजर्व (अभयारण्य) में पड़ता है और वहां मत्स्य पालन व डूब क्षेत्र की खेती का वन्य प्राणियों पर बुरा असर पड़ता है, इस अभिनव प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया। प्रतिबंध के खिलाफ सरकार के निर्णय को बदलने के लिए सद्बुद्धि सत्याग्रह शुरू किया गया लेकिन सरकार को सद्बुद्धि नहीं आई। इस तरह एक अभिनव प्रयोग को बेमौत मार दिया गया।

तवा मत्स्य संघ के अभिनव प्रयोग की सफलता के बारे में एक छोटी घटना सुनील भाई की राजनीतिक प्रतिबद्धता और समग्र दृष्टि की परिचायक है। प्रसिद्ध अंगरेजी साप्ताहिक 'द वीक' ने तवा मत्स्य के अभिनव प्रयोग की सफलता को देखते हुए सुनील भाई को 'मैन ऑफ द इयर' चुना। द वीक के प्रतिनिधि ने सुनील भाई से कहा कि हम जो आवरण कथा छापेंगे उसमें समाजवादी जन परिषद का जिक्र नहीं होगा क्योंकि सजप एक राजनीतिक पार्टी है और हम 'मैन ऑफ द इयर' ऐसे व्यक्ति को चुनते हैं जो गैर राजनीतिक हो। सुनील भाई ने यह शर्त नहीं मानी। बहरहाल 'द वीक' ने तवा मत्स्य संघ के बारे में रपट तो छापी लेकिन सुनील भाई को 'मैन ऑफ द इयर' घोषित नहीं किया। रपट से सुनील भाई सख्त नाराज थे क्योंकि उसमें प्रयोग की सारी सफलता का श्रेय उन्हें दिया गया था; उनका कहना था कि एक व्यक्ति के कारण कोई सफलता नहीं मिलती; वह तो सामूहिक होती है। मीडिया की मुद्दों के बजाय व्यक्तियों को केंद्र में रखने की प्रवृत्ति उन्हें खतरनाक लगती थी।

2010 से पहले सुनील भाई ने सजप की बैठकों में

एक 'भारत यात्रा' आयोजित करने का बार-बार प्रस्ताव रखा। वह नई पीढ़ी के युवाओं को समाजवादी आदर्शों और समाजवादी राजनीति के प्रति आकर्षित करने के लिए इस तरह के कार्यक्रम आयोजित करने की आवश्यकता पर जोर देते रहते। लेकिन बात आगे नहीं बढ़ी। योजना आधी-अधूरी रह गई। जनांदोलनों के साथ मिलकर वैकल्पिक पहल के लिए 2004 के चुनाव से पहले पीपल्स पोलिटिकल फ्रंट (जन राजनीति मोर्चा) और 2009 के पहले लोक राजनीति मंच बना। लेकिन इनका कोई विशेष असर नहीं पड़ा। 2014 के चुनाव के पहले भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के गर्भ से एक नई पार्टी, आम आदमी पार्टी का जन्म हुआ। दिल्ली विधानसभा के चुनाव में इस पार्टी की अप्रत्याशित सफलता के बाद वैकल्पिक राजनीति का

मार्ग तलाशनेवाले व्यक्तियों में इस पार्टी के प्रति जबरदस्त रुझान पैदा हुआ। इसका असर सजप पर भी पड़ा। यह एक संक्रमण काल था। इस प्रक्रिया के बारे में कई मत-विमत हैं, लेकिन सुनील भाई लोकसभा के चुनाव से पहले मेधा पाटकर और दूसरे जनांदोलनों के प्रतिनिधियों के साथ एक बैठक में शामिल हुए थे और इसमें चुनाव परिणामों के बाद फिर जुलाई में बैठक करने का निर्णय किया गया। छोटे-मोटे वैचारिक मतभेदों के बावजूद सुनील भाई एक बड़े दायरे में साथियों के साथ काम करने की संस्कृति के पक्षधर थे। इस संस्कृति को जीवित रखे बिना बड़े परिवर्तन का कोई काम संभव नहीं। सुनील भाई की विरासत को जिंदा रखने के लिए इस राजनीतिक संस्कृति को बचाना होगा।

एक कुजात गांधीवादी

सुरेश दीवान

लोहिया ने गांधीवादियों को 3 श्रेणी में विभाजित किया था। मठी गांधीवादी, सरकारी गांधीवादी और कुजात गांधीवादी। सर्वोदय जमात को वे मठी गांधीवादी, जवाहरलाल नेहरू और उनके साथियों को सरकारी गांधीवादी, और स्वयं को कुजात गांधीवादी मानते थे। सुनील भाई कब इस कुजात गांधीवादी की जमात में शामिल हो गए, यह तो मुझे पता नहीं। परंतु जिन दिनों हम लोग मिट्टी बचाओ अभियान तवा कमांड क्षेत्र में चला रहे थे तब सुनील भाई इस अभियान से जुड़े। राजनारायण भी उसी दौरान इस अभियान से जुड़े थे। हम लोग के इस शांतिपूर्ण अभियान को जुझारू शक्ति में तब्दील करने का काम सुनील भाई और राजनारायण ने किया।

यद्यपि यह अभियान आगे नहीं चल सका। लोहिया ने नारा दिया था कि प्रत्येक समाजवादी कार्यकर्ता के हथियार होंगे- जेल, वोट, और फावड़ा। जेल व अन्याय के प्रतिकार का साधन होगा, फावड़ा रचनात्मक कार्यक्रमों की नींव होगा और प्रजातंत्र में वोट अहिंसक बदलाव की प्रक्रिया का एक माध्यम।

सुनील भाई ने लोहिया के इस नारे का बखूबी से निर्वाह जीवन के आखिरी क्षण तक किया। उन्होंने कभी

अपने सिद्धांतों के प्रति समझौता नहीं किया। उन्हें कई बार विभिन्न फंडिंग एजेंसियों ने सहायता की पेशकश की जिसे उन्होंने विनम्रतापूर्वक अस्वीकार किया। यदि उन्होंने सिद्धांतों से समझौता किया होता तो उनकी स्थिति कुछ अलग ही होती। उनके साथी उनकी इस कट्टरता से कभी-कभी नाराज भी होते थे परंतु उन्हें अपने पथ से डिगा नहीं सके।

किशन पटनायक जुझारू नेता के साथ राजनैतिक चिंतक भी थे। सुनील भाई ने किशन पटनायक की इसी विरासत को आगे बढ़ाया। 'जन' नामक पत्रिका लोहिया द्वारा शुरू की गई। पत्रिका के संपादन में किशन पटनायक की भूमिका प्रमुख थी। मैंने 80 के दशक में इटारसी के व्हीलर बुक स्टाल से 'जन' की प्रति प्राप्त की और इटारसी से जबलपुर यात्रा के दौरान 'जन' के लेखों को पढ़कर समाजवादी आंदोलन से जुड़ गया था। इटारसी शहर उन दिनों समाजवादियों का गढ़ था। रमेश गौर, प्रेमदास महोबिया, कयामुल हसन, विद्या जैन आदि इटारसी के प्रमुख समाजवादी थे। सुनील भाई ने जब केसला में काम शुरू किया तो उन्हें इटारसी में समाजवादी उर्वरक जमीन मिली। उनके निधन के बाद उनके द्वारा बनाई। द्वितीय पंक्ति के लोग कितना उत्तरदायित्व निभाएंगे यह भविष्य ही तय करेगा।

वैकल्पिक सोच पर नई बहस

अनुराग मोदी

व्यवस्था में बुनियादी बदलाव वैकल्पिक राजनैतिक पार्टी से नहीं वरन जनांदोलनों के अनुभव से निकली वैकल्पिक राजनीति द्वारा ही संभव होगा, इस बात को समझकर किशनजी ने सुनील भाई और उनके जैसे अनेक कार्यकर्ताओं को संगठित किया। अब हम जब वार्ता का यह अंक सुनील भाई की स्मृति में निकाल रहे हैं तब हमें इस सच्चाई से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए कि सुनील भाई के दिमाग में अंतिम समय तक वैकल्पिक राजनीति के बदलते मूल्यों को लेकर बैचेनी थी। सुनील भाई मेरे दोस्त और राजनैतिक गुरु थे। मैंने उनकी बैचेनी को काफी नजदीक से महसूस किया और उसे समझने की कोशिश की।

सुनील भाई के विचारों को 'आदर्शवाद' के ऊंचे मंच पर बैठाकर नकारने के बजाय हम यह विचार करें कि जिस वैकल्पिक सोच पर सुनील भाई अंतिम समय तक अडिग रहे, वह उनकी हठधर्मिता से परिचालित था या हम सबकी आम सहमति से तय किए गए यथार्थवादी मूल्यों से?

लोकसभा का इस बार का चुनाव सुनील भाई के लिए बड़ा विडंबना भरा था। एक तरफ जनांदोलनों के प्रमुख कार्यकर्ताओं के पहली बार चुनाव में भाग लेने से वे खुश थे, पिछले दो दशकों से वह यह चाहते थे कि जनांदोलनों का राजनैतिक स्वरूप बने। दूसरी तरफ वो इस बात से बहुत दुखी थे कि जनांदोलनों के साथियों ने चुनावी राजनीति करने में जनांदोलनों के मूल्यों को एकदम भुला दिया था। इन साथियों में समाजवादी जन परिषद के कुछ पुराने साथी भी थे। वैकल्पिक विकास और वैकल्पिक आर्थिक नीति की बात चुनाव में कहीं सुनाई नहीं पड़ी। और तो और पूंजीवाद और उसके नए विकराल रूप वैश्वीकरण का विरोध भी चुनाव प्रचार से गायब था; पहली बार 'स्वच्छ पूंजीवाद' नामक लाल बुझकड़ शब्द अलबत्ता सुनने को मिला।

सुनील भाई के लिए सबसे ज्यादा सदमे की बात वैकल्पिक विकास के मुद्दे को न उठया जाना था क्योंकि वो यह जानते थे कि केंद्र में सत्ता परिवर्तन के साथ वैश्वीकरण और पूंजीवाद का विकराल रूप सामने आनेवाला है। आज

जब नरेंद्र मोदी सत्ता में आ चुके हैं तो विकास के नाम पर वैश्वीकरण अपने विकरालतम रूप में सामने आ रहा है। इसके साथ ही विकास के घोड़े पर संघ के असली अजेंडे पर भी काम होगा। समाज में उसकी जड़ें और गहरी होने लगेंगी। अगर हमें निजीकरण, वैश्वीकरण और पूंजीवादी विकास फायदेमंद और जरूरी लगने लगे तो फिर नरेंद्र मोदी का मुकाबला कौन करेगा।

सुनील भाई की यह इच्छा थी कि इन सब बातों पर लंबी बहस हो। इसे उनके कर्मठ और तपस्वी जीवन की अंतिम इच्छा कहा जा सकता है। वह जीवित होते तो बहस का मसौदा पेश करते। उनकी अनुपस्थिति में उनकी ओर से एक नई और सार्थक बहस का मसौदा यहां पेश करने की हिमाकत कर रहा हूं।

वैकल्पिक राजनीति की अनिवार्यता

जन आंदोलनों को चुनावी राजनीति से दूर रहना है, हम भी इस सोच के साथ आंदोलन में आए थे। सुनील भाई ने मुझे समझाया था कि आंदोलन की सोच को जनता तक ले जाने के लिए हमारी अपनी वैकल्पिक राजनीति वाली वैकल्पिक पार्टी होनी चाहिए। उनके आग्रह पर ही 2001 में श्रमिक आदिवासी संगठन के साथियों के साथ मैं और शमीम, वैकल्पिक राजनीति के प्रयोग समाजवादी जन परिषद में शामिल हुए।

आजादी के बाद से ही देश में 95 प्रतिशत लोगों की देश के 5 प्रतिशत लोगों से लड़ाई चल रही है। पूंजीवाद को खत्म कर व्यवस्था में बुनियादी बदलाव के जरिए समाजवादी और समतामूलक व्यवस्था कायम किए बिना 95 प्रतिशत लोगों को इन्सानी जिंदगी मिलना संभव नहीं। सशस्त्र हो या अहिंसक, किसी भी देश और काल में व्यापक परिवर्तन के लिए वैकल्पिक विचारधारा की अनिवार्यता से इनकार नहीं किया जा सकता। अगर हम आजादी के आंदोलन के इतिहास को देखें तो दोनों तरह की विचारधाराओं के आंदोलनकारियों की अपनी-अपनी राजनैतिक पार्टियां थीं। किशनजी ने पार्टी की अनिवार्यता पर हमेशा जोर दिया। उनके बाद सुनील

भाई अपने साथियों सहित जिंदगी भर कोशिश करते रहे कि देश के जनांदोलन वैकल्पिक राजनीति से जुड़े; यह जरूरी नहीं कि वे चुनाव लड़े ही। यह भी हो सकता है कि वे समाजवादी जन परिषद से जुदा कोई अन्य वैकल्पिक राजनैतिक पार्टी बनाएं। इस वैकल्पिक राजनीति के मूल्यों को लेकर सुनील भाई का आग्रह जरूर था। वैकल्पिक खाके रातों रात नहीं बनते, उन्हें बनाने में दशकों की मेहनत लगती है। समता संगठन से लेकर जन आंदोलन के समन्वय तक समाजवादी जन परिषद की स्थापना के साथ-साथ जन संघर्ष मोर्चा, शिक्षा अधिकार मंच और देश भर के सहमना आंदोलनों और राजनैतिक सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ लंबी बहस के बाद आम सहमति से कुछ मानदंड तय हुए थे।

भारतीय राजनीति में वैकल्पिक सोच को नकारने की पुरानी परंपरा है। लंबे इंतजार के बाद व्यवस्था में जब एक छोटी सी खिड़की खुलती है, विकल्प को आजमाने की बारी आती है तब पूंजीवादी ताकतें इस विकल्प को अव्यवहारिक बता नकारने में कामयाब हो जाती हैं। इस तरह देश के जनांदोलनों से निकली सार्थक ऊर्जा व्यर्थ चली जाती है।

सत्ता की अपनी व्यवस्था होती है। वह उन्हें जो अपने आदर्शों से नहीं डिगते आदर्शवादी बताकर एक ऐसे ऊंचे स्थान पर बैठा देती है जहां से उनके विचारों को व्यक्तिवादितापूर्ण, हठवादी और अव्यवहारिक बताकर नकारना आसान होता है। साथ ही यह भी लगने लगता है कि नकारना स्वाभाविक और जरूरी है। इसके बाद सत्ता संचालकों का समूह पुराने नायकों को नकारकर अपनी जरूरत के हिसाब से नए नायक और नए आदर्श गढ़ लेता है। और देखते ही देखते उन्हें जनता के बीच में स्थापित भी कर देता है। गांधी और भगत सिंह के दौर से आज तक, पिछले सौ सालों में आंदोलनों से निकली वैचारिक ऊर्जा को नकारने की अनेकों साजिशें हुई हैं।

सत्ता मिलने पर गांधी द्वारा सुझाए वैकल्पिक विकास को बिना आजमाए ही अव्यवहारिक बताकर नकार दिया गया; इमरजेंसी के बाद सत्ता मिलने के बाद जनता पार्टी के नेता जयप्रकाश नारायण के आदर्शों की याद करना तक लोग भूल गए। आज किशन पटनायक ने तीन दशक की तपस्या के बाद जनांदोलनों की वैकल्पिक राजनीति के जो मापदंड बनाए थे, उन्हें झुठलाया जा रहा है। उन मापदंडों का निर्वाह करनेवाले सुनील भाई को हठी और आदर्शवादी

बताकर नकारा जा रहा है। मैं गांधी, जेपी और किशनजी के साथ सुनील भाई की तुलना नहीं कर रहा हूँ; सुनील भाई जनांदोलनों की जिस वैकल्पिक सोच का प्रतिनिधित्व करते हैं मैं उसकी बात कर रहा हूँ।

स्वाभाविक कौशल को नकारने की व्यवस्था

आजादी के बाद नेहरू और उनकी कांग्रेस ने शासन, शिक्षा और विकास में अंग्रेजों की सोच को बरकरार रखा। जनता के अपने कौशल और हुनर के बारे में नहीं सोचा। जरूरत थी इस कौशल और हुनर को नए तरीकों से तराशने की। जिनमें व्यापारिक हुनर और कौशल था वे तो कुछ हद तक सफल रहे। लेकिन अधिकतर लोगों को यह एहसास करने को मजबूर कर दिया कि उनकी कला, उनके कौशल और हुनर का कोई मूल्य नहीं है। जिनमें जंगल और उसमें विचरनेवाले जानवरों तथा पेड़-पौधों की स्वाभाविक समझ और जानकारी थी, उन्हें जंगल के रखवाले बनाने के बजाय आजाद देश में दुश्मन और चोर माना जाने लगा; जिनमें नट और जिमनास्ट की कला थी वे खिलाड़ी नहीं बने; लोहार, बढ़ई, गडेरिए, जुलाहे आदि अपना कौशल बेच के अधपेट और भूखे रहे। हमारे हुनर और कौशल को नष्ट करने की जो प्रक्रिया अंग्रेजों ने शुरू की थी, उसे आजादी के बाद और तीव्र किया गया। दलितों को जातिगत आधार पर अपने परंपरागत काम करते रहने को मजबूर किया गया; उनके काम को न तो सम्मान दिया गया और न ही अर्थव्यवस्था में कोई स्थान।

विकास को तरसती जनता

नेशनल सेंपल सर्वे की ताजा रिपोर्ट के अनुसार हमारे देश में 31.7 प्रतिशत लोग पूरी तरह से अशिक्षित हैं; 21.8 प्रतिशत प्राथमिक स्कूल की कुछ कक्षाओं तक पढ़े हैं; 17.6 प्रतिशत छोटी कक्षा से आठवीं कक्षा तक पढ़े हैं; 13.3 प्रतिशत आठवीं से दसवीं तक और मात्र 5.7 प्रतिशत बच्चे ही कालेज तक पहुंच पाते हैं। पिछले 66 सालों की विकास यात्रा का यह हाल है। अगर हम इन आकड़ों का विश्लेषण करें तो इनमें जातिगत, धर्मगत, लिंगगत, शहरी और ग्रामीण तथा क्षेत्रीय वैषम्य पाएंगे; मुसलमान, दलित, आदिवासी, महिला, ग्रामीण ऐसी आदि कोटियां बनाई जाए तो शिक्षा के ये आंकड़े भी आधे हो जाएंगे। कितने लोग कर्ज लेकर पढ़ते हैं? पढ़ाई

का स्तर क्या होता है? कितने पढ़े-लिखे शहरों में या विदेशों में अपनी सेवाएं देते हैं? इन सब बातों पर विचार करें तो यह पाएंगे कि देश के गांवों में बसी 69 प्रतिशत आबादी 5.7 प्रतिशत देश के पढ़े-लिखों की सेवा से वंचित है।

एक समय में जितने लोग रोजगार में लगे होते हैं उनसे ज्यादा बेरोजगार। मात्र 3 प्रतिशत लोगों को नौकरी मिल पाती है- 1 प्रतिशत सरकारी क्षेत्र में और 2 प्रतिशत निजी क्षेत्र में। आधे से ज्यादा, 52 प्रतिशत लोग, खुद कोई धंधा करके जीते हैं; ग्रामीण क्षेत्र में दो तिहाई आबादी खेतों के काम में लगी हुई है।

विकल्प के मापदंड : नई बहस जरूरी

जिन आंकड़ों की हमने चर्चा की वो हमें आजादी से लेकर आज तक गांधी की वैकल्पिक विकास नीति को किनारे कर विकास के पश्चिमी मॉडल की और भागने के नतीजों पर विचार करने के लिए बाध्य करते हैं। हमारी बहुसंख्यक आबादी रोजगार, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित है। वैश्वीकरण की नीतियों के चलते पिछले दस वर्षों में दो लाख सत्तर हजार नौ सौ चालीस किसान आत्महत्या करने को मजबूर हुए हैं; जबकि इक्कीस लाख बयालीस हजार तीन सौ बावन करोड़ रुपया काले धन के रूप में विदेश गया है।

वैश्वीकरण के खिलाफ पिछले बीस सालों में सुनील भाई के साथ हमने अनेक रैलियों में नारे लगाए; गोष्ठियां कीं; सुनील भाई ने बीसियों पुस्तिकाएं लिखीं; अखबारों में ढेरों

लेख लिखे; स्थापित पार्टियों की आलोचना की; यहां तक कहा कि वैश्वीकरण देश को फिर से गुलाम बना रहा है। अब जब वैश्वीकरण का विकराल रूप सामने आया है, उसे नंगा करने का समय आया है तो क्या हम अपनी अब तक की सोच को गलत मान लें ? अगर ऐसा होता है तो इससे बड़ी राजनैतिक विडंबना क्या होगी ?

अगर हम जनांदोलनों के साथियों द्वारा इस बार लोक सभा चुनाव में प्राप्त मतों को देखें तो यह पाते हैं कि वैकल्पिक राजनीति को त्यागकर उन्होंने कुछ भी नहीं पाया। कई पुराने साथियों के मामले में तो प्राप्त वोटों की संख्या भी घटी। देश के सभी जनांदोलनों को कुछ प्रमुख मुद्दों पर आम सहमति बनाने के लिए नए सिरे से विचार करना जरूरी है। हमें यह तय करना होगा कि क्या वैकल्पिक राजनीति की सोच को बदलने का समय आ गया है ? क्या बुनियादी बदलाव के पुराने खाके को बदलकर वैश्वीकरण प्रेरित अर्थनीति, पूंजीवाद और विकास नीति को स्वीकार किए बगैर आगे बढ़ना संभव नहीं ? क्या देश की 95 प्रतिशत जनता को इस पूंजीवादी व्यवस्था में अपना हक मिलेगा ?

समाजवादी जन परिषद, आजादी बचाओ आंदोलन, जन आंदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय, अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच, शोषितों के अन्य जनांदोलन और देश भर के प्रगतिशील साथी इस बहस को अंजाम दे सकते हैं। इसमें चुनावी राजनीति से जुड़े और न जुड़े हुए, हर तरह के जनांदोलनों को शामिल होना चाहिए। क्या हम अपने साथी सुनील भाई की यह अंतिम इच्छा पूरी कर सकेंगे ?

समाजवादी आंदोलन की नई उम्मीद

संजय श्रीवास्तव

सुनीलजी के निधन की सूचना एक वज्रपात के समान है, सिर्फ उनके परिवार, समाजवादी जन परिषद और सामयिक वार्ता के लिए नहीं बल्कि समाजवादी विचारों एवं भविष्य के समाजवादी आंदोलन के लिए भी। उनकी जीवन-शैली, सिद्धांतों पर चलने का साहस एवं आत्मीय व्यवहार ने मुझे समाजवादी जन परिषद में सक्रिय होने के लिए प्रेरित किया। वे परिवर्तन के विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय रहें। उनके जाने के बाद बिहार में हम समाजवादी जन परिषद के कार्य को आगे ले जाने के लिए प्रयास करते रहेंगे।

समान शिक्षा प्रणाली के समर्थक

मनोज गुलबांक

सुनीलजी समान शिक्षा प्रणाली के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार कलेक्टर से लेकर मजदूर के बच्चे एक ही स्कूल में पढ़ना चाहिए। शिक्षा के व्यवसायीकरण व बाजारीकरण के वे खिलाफ थे। समान शिक्षा प्रणाली न होने से समाज में कई वर्ग बन गए हैं जो गैरबराबरी मुक्त समाजवाद की स्थापना में रोड़े पैदा करता है। जब तक गरीबों के बच्चों को मुफ्त गुणवत्तापूर्ण शिक्षा नहीं मिलेगी तब तक बौद्धिक वर्चस्व के साथ-साथ आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक वर्चस्व कुछ विशेष वर्ग के 10 प्रतिशत लोगों के हाथ में केंद्रित होगा।

तुम्हें किशनजी का भूत तो नहीं लग गया

लिंगराज आजाद

मेरी मुलाकात सुनीलजी से पहले उनकी जीवनसाथी स्मिताजी से हुई। 1985 में बाल्को कंपनी के बाक्सार्ट खनन के खिलाफ गंधमार्दन बचाने का आंदोलन चल रहा था जिसमें स्मिताजी गई थीं। वो हमारे साथ मिलकर काम कर रही थीं। उस समय उनकी शादी सुनीलजी के साथ नहीं हुई थी। मेरी पहली मुलाकात सुनीलजी से इटारसी में समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय सम्मेलन में हुई। तब मैंने किशनजी के मार्गदर्शन में काम करना शुरू किया था। इससे पहले मैं ओड़िसा के जेपी आंदोलन में काम कर रहा था। लेकिन बाद में ओड़िसा के जेपी आंदोलन के लोग भटक गए और सत्ता-संपत्ति की लूट में डूब गए। किशन पटनायक से मेरी पहली बातचीत भवानीपटना में हुई। मुझे उनकी बातों ने बहुत आकर्षित किया और मुझे लगा कि इनके साथ जुड़कर ही समाज की भलाई और गरीबों के हितों में काम किया जा सकता है। मेरी ही तरह सुनीलजी भी किशनजी के विचारों से आकर्षित होकर समता संगठन से जुड़े थे। इस दौरान मुझे सुनीलजी से मिलने और उनके साथ काम करने का मौका मिला। मैंने यह देखा कि सुनीलजी की गंभीरता, व्यावहारिकता, संवेदनशीलता, सहजता असामान्य है। दूसरे लोगों की कथनी-करनी में थोड़ा फर्क हो जाता है। मगर उनकी जवानी के समय से उनकी कथनी और करनी में कोई अंतर मैंने नहीं देखा। जो कहते थे वो ही करते थे इसलिए मुझे पहले से ही महसूस हो रहा था कि किशनजी के जाने के बाद ये किशनजी के विचारों को आगे ले जाएंगे।

आज की भोगवादी और बाजारवादी संस्कृति के दौर में जो लोग इस उपभोक्तावादी संस्कृति का हिस्सा बन चुके हैं वे लोग ही कह रहे हैं कि समाजवादी विचारधारा की कोई जरूरत नहीं। जो लोग एक समतावादी समाज चाहते हैं, जिसमें लोग इज्जतदार जिंदगी जी सकें वे समाजवादी विचारधारा की जरूरत महसूस करते हैं। जब तक मानवतावादी संस्कृति इस उपभोक्तावादी संस्कृति की जगह नहीं लेती तब तक समाजवाद नहीं आएगा।

सुनीलजी के देहांत से समाजवादी जन परिषद को बड़ा झटका लगा है। उन्हें हम सूरज की रोशनी की तरह से देख

रहे थे और आज जब हमारे पास उस सूरज की रोशनी नहीं है तो छोटे-छोटे दीए हम जलाएंगे। एक नहीं ऐसे 100 दीए जलाने से कुछ न कुछ उजाला तो इस अंधेरे को दूर करने में हम दे पाएंगे। किशनजी के चले जाने पर हमने सुनीलजी को समाजवाद के निर्माण का अगुवा माना था। सुनीलजी के चले जाने पर हमें अभी तो कोई उनके जैसा दिख नहीं रहा। पर हमारे पास उनके विचारों का बीज है जो आनेवाले समय में फल देकर और बीज पैदा करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

सुनीलजी की कई बातों ने मुझे काफी प्रभावित किया। लोग सुनीलजी को बुरा भला कहें, गाली भी दें तब भी वो उसे पत्थर की तरह हजम कर जाते थे, पलटकर जवाब नहीं देते थे। हम लोग तो अनायास ही पलट के जवाब देने लगते हैं। वो हंसते-हंसते गंभीर बातें कह जाते थे। कई बार यदि उन्हें दूसरे की कोई बात अच्छी या सही लगी तो वे सहजता से अपनी बातों में सुधार भी करते थे। उनका लेखन, चिंतन और मनन, सिर्फ किताबी नहीं था। उनका ज्ञान आसपास के निरीक्षण से भी आता था। मैंने कई बार देखा कि वो साधारण लोगों से जाकर बात करते। जितने ध्यान से किसी बड़े व्यक्ति की बात या भाषण सुनते, उससे ज्यादा ध्यान से साधारण लोगों की बातों को सुनते। जब तक हम साधारण लोगों की बात को नहीं सुनेंगे, तब तक इस व्यवस्था में उनकी क्या स्थिति है, क्या पीड़ा है यह हम नहीं समझ पाएंगे। कभी-कभी सुनीलजी के साथ कहीं जाने का मौका मिलता और हम उनसे कुछ सवाल पूछते, तो वे कई बार जवाब में हमसे सवाल पूछते कि 'तुम इस बारे में क्या सोचते हो'? अनेक बार साधारण लोगों से, समाज में जो विभिन्न दिक्कतें हैं उसके बारे में उनकी राय लेते। मुझे शुरू-शुरू में लगा कि इतना पढ़-लिखा व्यक्ति बेवकूफ है क्या जो साधारण लोगों से इस तरह के सवाल करता है। मगर बाद में समझ में आया कि वो समाज की हर बात को लेकर इतनी गंभीरता और गहराई से सोचते थे कि कोई मत बनाने के पहले और बाद में अनेक लोगों से उनकी राय पूछते थे। हममें से ज्यादातर लोग इस तरह के साधारण प्रश्न आम लोगों से पूछने में हिचकिचाते हैं कि वो हमें बेवकूफ समझेगा। इन्हीं सब

बातों से मैंने प्रेरणा ली और इसके आधार पर लांजीगढ़ के वेदांत विरोधी आंदोलन में सफलता भी प्राप्त की। यदि हम लोगों की बात को सुनकर, उनकी समस्याओं को समझकर उसे हल करने में उनकी राय नहीं लेते तो हमें लांजीगढ़ में सफलता नहीं मिलती। मैं सुनीलजी को धन्यवाद देना चाहता हूँ उनकी साधारण लोगों से बातचीत करते हुए आंदोलन और संगठन की दिशा तय करनेवाली प्रवृत्ति को अपनाने से हमें लांजीगढ़ के आंदोलन में सफलता मिली।

हम जिस समाजवाद की कल्पना करते हैं इसके लिए राजनैतिक हस्तक्षेप और राजनैतिक परिवर्तन की जरूरत है। इसलिए हम समाजवादी जन परिषद का हिस्सा हैं जो 1995 में किशन पटनायक के विभिन्न जनांदोलनों को जोड़कर उनके राजनीतिकरण के प्रयास का नतीजा है। तब किशनजी ने बहुत ही तर्कसंगत तरीके से यह बताया कि जब किसी घर का मुखिया नशाग्रस्त होकर घर को नष्ट करने लगे, तब उस घर के बेटे को भंडारगृह की चाबी उससे छीन लेनी चाहिए। उसी तरह से जो लोग इस देश के संसाधनों को लूटकर इस देश को बरबाद कर रहे हैं, उनके हाथ में भंडारगृह की चाबी के रूप में इस देश की सत्ता है और इसे उनके हाथ से छीनने की आवश्यकता है। समाजवादी जन परिषद राजनैतिक हस्तक्षेप

कर रहा है। चुनाव में जीतना-हारना अलग बात है। लेकिन जब तक लोग सोच-समझ के, चुनाव में चल रहे पैसे, बाहुबल से ऊपर उठ के वोट नहीं करेंगे तब तक हमारा संघर्ष और राजनैतिक हस्तक्षेप चलता रहेगा।

हमें अभी इस चुनाव में नहीं लड़ना चाहिए ऐसा सुनीलजी का मत था। उन्हें लग रहा था कि लोग विचारों को नहीं समझ रहे हैं और पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति की चपेट में आकर वोट दे रहे हैं। इस चुनाव के पहले ओड़िसा के सजप के कई साथी आम आदमी पार्टी में चले गए थे। कई सारे लोग मुझसे भी बार-बार प्रश्न कर रहे थे कि आप भी आम आदमी पार्टी में चले गए हैं क्या? मुझे लगा कि कहीं हमारी पहचान को खतरा तो नहीं हो गया है? इसलिए समाजवादी जन परिषद- जिसकी अपनी विचारधारा और अपना सिद्धांत है- की पहचान को बनाए रखने के लिए इस

चुनाव में मैंने समाजवादी जन परिषद की ओर से लड़ना तय किया। सुनीलजी से इस बात पर चर्चा करने के लिए फोन किया। मैं तब सजप का राष्ट्रीय सचिव था और वे राष्ट्रीय महामंत्री। उन्हें मैंने ओड़िसा भवानीपटना विधानसभा सीट से समाजवादी जन परिषद की ओर से चुनाव लड़ने की इच्छा के बारे में बताया। उन्होंने मुझसे पूछा कि ओड़िसा की सजप की इकाई का बड़ा हिस्सा आम आदमी पार्टी में चला गया है, तो आपके पास चुनाव लड़ने के लिए कैडर कहां से आएंगे? मैंने कहा कि जितने भी लोग सजप में हैं उनकी सहायता से मैं चुनाव लड़ूंगा। तब सुनीलजी थोड़े खामोश हो गए। थोड़ी देर हंसे और फिर बोले कि तुम किशनजी की जन्मभूमि और जिस सीट से वो लड़ते थे उसी सीट से लड़ना चाहते हो, कहीं तुम्हें किशनजी का भूत तो नहीं लग गया?

वे मेरे तर्कों से सहमत हुए और उन्होंने आर्थिक व

मैंने कई बार देखा कि वो साधारण लोगों से जाकर बात करते। जितने ध्यान से किसी बड़े व्यक्ति की बात या भाषण सुनते, उससे ज्यादा ध्यान से साधारण लोगों की बातों को सुनते। जब तक हम साधारण लोगों की बात को नहीं सुनेंगे, तब तक इस व्यवस्था में उनकी क्या स्थिति है, क्या पीड़ा है यह हम नहीं समझ पाएंगे।

अन्य तरह की मदद मेरे चुनाव में की। उन्होंने मुझे यह बार-बार समझाया कि आज के समय में सिद्धांतों के आधार पर चुनाव लड़ना आसान नहीं है। यदि चुनाव हारने पर निराशा हो तो चुनाव नहीं लड़ना चाहिए। यदि सिर्फ चुनाव जीतने के उद्देश्य से चुनाव लड़ रहे हो तो चुनाव नहीं लड़ना चाहिए। आज की चुनाव व्यवस्था और घटिया चुनावी संस्कृति को सुधारने के लिए ही चुनाव लड़ना चाहिए, चुनाव जीतने के लिए नहीं।

मैं इसको स्वीकार करता हूँ कि वे सही कह रहे थे। जब तक इस पैसे और शक्ति बल पर आधारित चुनावी संस्कृति को हम सुधार नहीं पाएंगे तब तक हम चुनाव नहीं जीत पाएंगे। चुनाव मैंने और कई साथियों ने समाजवादी जन परिषद के बैनर तले लड़ा। हमारे कुछ साथी जो आम आदमी पार्टी में चले गए उन्हें इस चुनाव में कुछ सफलता भी मिली। लेकिन इन लोगों के पास कोई सिद्धांत या विचार आज हम नहीं देख पा रहे हैं।

सुनीलजी रहते तो हमें आगे की दिशा दिखाते, मार्गदर्शन देते। आज वो नहीं हैं पर उनकी छाप हमारे दिल पर है और भले ही वो हमें सुन न सकते हों पर हम उन्हें यह आश्वासन देते हैं कि हम उनके विचारों को आगे ले जाने के लिए काम करते रहेंगे। उनको यही मेरी श्रद्धांजलि है। साथी जिंदाबाद और सलाम !

सादगी भरी जीवनधारा

कमल बनर्जी

सुनील ने अपने छत्र दिनों में दिल्ली से असम की साइकिल यात्रा में भाग लिया था। जब यह यात्रा जलपाईगुड़ी होकर निकली तब मेरी उनसे पहली भेंट हुई। उस समय हमारा ज्यादा परिचय नहीं हुआ। सुनीलजी इस यात्रा की टीम के एक सदस्य के रूप में थे जिसका नेतृत्व शिवानंद तिवारी ने किया था। बाद में जब हमारे साथी जुगल (जुगल किशोर रायबीर) समता संगठन और समाजवादी जन परिषद से जुड़े तो उनके माध्यम से सुनीलजी के बारे में विस्तार से जानने-सुनने को मिला। मैं खुद समता संगठन और समाजवादी जन परिषद का सदस्य नहीं था फिर भी जुगलजी के माध्यम से अलग-अलग कार्यक्रमों की सूचना मिलती रहती थी। 1990 के दशक में गैट-समझौते के विरोध के किसी कार्यक्रम में सुनीलजी जलपाईगुड़ी आए। तब मैंने बाजारवाद और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के खिलाफ सुनीलजी की एक गोष्ठी का आयोजन जलपाईगुड़ी में किया। बहुत अच्छी गोष्ठी रही और हमारा संपर्क बढ़ा। जुगल के गुजर जाने के बाद मैं समाजवादी जन परिषद का हिस्सा बना और मैंने हमारे राज्य की जिम्मेदारी संभाली। तब सुनीलजी के साथ सक्रिय रूप से संपर्क होने लगा। हम लोग मीटिंग में साथ जाने लगे। वे भी जलपाईगुड़ी, कई तरह के कार्यक्रमों में पहले से ज्यादा आने लगे। सुनीलजी के साथ संपर्क से मैंने देखा उनका जुझारूपन, उनकी विचारशीलता, आगे देखने की क्षमता, लिखने की आदत। मुझे आश्चर्य होता था उन्हें देखकर क्योंकि एक व्यक्ति के अंदर ये सारी चीजें होना मुश्किल हैं। पर सुनीलजी के अंदर ये सारी खूबियां थीं। उनकी ओर मुझे सबसे ज्यादा आकर्षित किया उनकी सादगी भरी जीवनधारा ने। मैं भी दिल से तो सादगी की जीवनधारा का आदर करता हूँ। पर ऐसी जीवनधारा व्यावहारिक रूप से भी हो सकती है ऐसा सुनीलजी को देखने से पहले मुझे संभव नहीं लगता था।

सुनीलजी का इस तरह से अकस्मात चले जाना न केवल समाजवादी जन परिषद की, बल्कि सारे देश की वैकल्पिक राजनीति और आंदोलन की क्षति है, जिसमें सुनीलजी का अपना एक स्थान था। इस साल फरवरी माह में सुनीलजी जलपाईगुड़ी में एक शिविर में आए। मेरे घर में

उस समय ठहरे। उस समय उनके साथ 21 वीं सदी में समाजवाद का स्वरूप कैसा होगा, इस पर बहुत सारी चर्चा हुई, वर्धा में लोकसभा चुनाव के पहले एनएपीएम के साथ एक बैठक हुई थी। जो कि सफल नहीं रही क्योंकि मीटिंग में जो तय हुआ उसके विपरीत मेधा पाटकर और अन्य लोग आम आदमी पार्टी में चले गए। कुछ इसके घटक संगठनों के लोग इस मीटिंग में आए भी नहीं थे। इस मीटिंग के नतीजों के बारे में भी जलपाईगुड़ी में उनके साथ मेरी चर्चा हुई। उनका कहना था कि लोकसभा चुनाव के नतीजों के बाद पूरे देश के सारे आंदोलनों को जोड़कर सही राजनैतिक विकल्प के निर्माण की कोशिश हमें फिर से करनी चाहिए। सुनीलजी के जाने से धक्का तो हम सबको लगा है, पर यदि हम सच में सुनीलजी के विचारों को मानते हैं तो हम सबको मिल के वैकल्पिक राजनीति स्थापित करने के इस प्रयास को आगे ले जाना चाहिए। सुनीलजी का जो नेतृत्व था वो तो अब दिखाई नहीं देता। इसलिए इस स्थिति में हम सामूहिक नेतृत्व के साथ उनके विचारों को आगे ले जाएंगे।

अब आजकल यह कहा जाने लगा है- 'विचारधारा की जरूरत नहीं है', यह पूंजीवादी ताकतों का एक सुनियोजित प्रचार है। समाजवादी विचारधारा की इस समय पहले से भी ज्यादा जरूरत है। चुनाव में हमारी असफलता को लेकर बीच-बीच में हमारे साथियों को निराशा होती रहती है। लेकिन चुनावी सफलता-असफलता से भी ज्यादा जरूरी आज के समय में विचारधारा के बीज को बचा के रखना है जो काम समाजवादी जन परिषद को करना है। अभी लोकसभा चुनाव के बाद कारपोरेट लॉबी समर्थित सरकार दिल्ली में सत्ता में बैठी है। ऐसे समय में इस देश के गरीब-मजदूर-किसान लोगों की बात करनेवाले लोगों की जगह बिल्कुल खाली है। इस खाली जगह को भरने के लिए समाजवादी जन परिषद और हमारी विचारधारा पूरी तरह उपयुक्त है। विचारधारा की कोई जरूरत नहीं है, समस्याओं का समाधान उनके हिसाब से होगा, यह सारी बातें बकवास हैं और इससे इस देश की आम जनता का कोई भला नहीं होनेवाला। बिना विचारधारा के कोई सकारात्मक परिवर्तन हो ही नहीं सकता।

मेरे देखे सुनील

प्रीतीश आचार्य

सुनीलजी से मेरा परिचय आज से बत्तीस साल पहले, 1982 में जब मैं संबलपुर (ओड़िशा) में बीए की पढ़ाई कर रहा था, तब हुआ। मैं बीए करने के बाद एमए जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जनेवि) से करना चाहता था। एक मित्र ने सुनीलजी का पता दिया तो मैंने उन्हें पत्र लिखा। इस पत्र के बाद जनेवि में दाखिले के लिए फॉर्म भरने से लेकर विश्वविद्यालय के अजनबी संसार में अजनबी महसूस न करवाने में सुनीलजी मेरे इस तरह साथ रहे कि मुझे उन्हें बहुत नजदीक से देखने का अवसर मिला।

जनेवि में पढ़ रहे निम्न मध्यवर्ग के मेरे जैसे छात्रों को सुनीलजी की सहज, सरल जीवन शैली और प्रखर बौद्धिक क्षमता आकर्षित करती थी। शायद आकर्षण का एक कारण सुनीलजी का हिंदी माध्यम से पढ़कर आने के बावजूद जनेवि में अंगरेजी माध्यम में पहली बार पढ़ाई कर अपने विषय में सर्वोच्च ग्रेड (उनका सर्वोच्च ग्रेड का रेकॉर्ड मेरे जानने में नहीं टूटा) प्राप्त करना था। उनका उदाहरण मेरे जैसे बहुतेरे छात्रों में आत्मविश्वास पैदा करने के साथ-साथ अंगरेजी माध्यम से न पढ़कर आने से उत्पन्न हीन ग्रंथि से भी मुक्त करता था। उनकी सफलता हमें हमारी सामूहिक सफलता जैसी मालूम पड़ती थी। उनका पहनावा भी हमें आश्चर्य करता था— साफ-सुथरा बिना इस्तरी किया हुआ खादी का कुरता-पायजामा। सुबह नहा लेने के बाद वह जो कपड़े पहनते, उन्हें अगले दिन नहाने तक पहने रहते थे। नहाने के बाद छोड़े हुए कपड़े अपने हाथ से धोते। एक जोड़ी कुरता-पायजामा ही उनके पास होता था। किसी भी सभा-सेमीनार में जाने या बाहर किसी से मिलने के लिए जाने के वक्त कपड़े बदलने का झमेला नहीं।

जनेवि में दाखिला हो जाने के बाद मुझे होस्टल में जगह मिलने में तीन महीने लग गए। इसके पहले दाखिला न मिलने तक एक महीने दिल्ली में रहना पड़ा था। चार महीने का पूरा समय मैं सुनीलजी के कमरे में रहा। मेरे जैसे और तीन-चार छात्र भी उसी कमरे में रहते थे। 'हमारे' कमरे में ताला नहीं लगता था। सुनीलजी की अनुपस्थिति में भी कमरे में मित्रों का आना-जाना लगा रहता था। रात को

शायद ही कभी सुनीलजी को अपने बिस्तर पर सोने का मौका मिलता। वह देर रात लौटते थे और फर्श पर चटाई डालकर लेट जाते थे। बिस्तर पर हममें से कोई सोया रहता। उनके एक जोड़ी कपड़े को छोड़ दिया जाए तो कमरे में उनका कुछ भी ऐसा नहीं था जो हमारे लिए वर्जित था। पैसे भी मेज की दराज में खुले पड़े रहते थे।

संबलपुर में पढ़ाई के समय छात्र राजनीति से मेरा परिचय हुआ था और मैं उसमें थोड़ा-बहुत भाग भी लेने लगा था। इस राजनीति में सक्रिय होने और बने रहने के लिए पढ़ाई की नहीं, बाहुबल की जरूरत होती है और मेधावी छात्रों का उसमें कोई स्थान नहीं हो सकता, ऐसी मेरी धारणा बनी थी। लेकिन जनेवि में मुझे स्थिति अपनी धारणा के एकदम विपरीत लगी और इसकी वजह भी सुनील थे। वह अत्यंत मेधावी छात्र थे और छात्र-राजनीति में पूरी तरह जुटे रहते थे— समता युवजन सभा के अध्यक्ष थे; विश्वविद्यालय के दिग्गज प्रोफेसरों के साथ राजनीति और पढ़ाई के बारे में समान गंभीरता से चर्चा करते थे। सुनीलजी ने उन दिनों मुझे समझाया था कि पढ़ाई, राजनीति और सामाजिकता तीनों के बीच कोई अंतर्द्वन्द्व नहीं है। नर-नारी विषमता, जातिवाद और सांप्रदायिकता के सवाल जितने राजनीतिक हैं उतने ही सामाजिक भी। पढ़ाई में जुटे रहने का मतलब यह नहीं होता कि इन सवालों से दूर रहा जाए; एक शिक्षित व्यक्ति का तो यह कर्तव्य बनता है कि वह समाज और राजनीति के बारे में ज्यादा से ज्यादा ज्ञान प्राप्त करते हुए इन सवालों पर अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण विकसित करे; शिक्षा का उद्देश्य कभी भी व्यक्ति को समाज विमुख कर आत्मकेंद्रित बना देना नहीं हो सकता। सुनीलजी का सांनिध्य मेरे लिए उन दिनों विश्वविद्यालय की पढ़ाई से कम शिक्षाप्रद नहीं था। उनकी यह विशेषता थी कि वह बिना किसी पूर्वाग्रह के किसी से भी चर्चा कर सकते थे। उनसे असहमत होनेवाले छात्रों में भी उनके प्रति किसी प्रकार का विद्वेष नहीं रहता था।

सुनीलजी का स्मरण करते हुए पीछे मुड़कर जनेवि के दिनों को देखता हूँ तो यह जानता हूँ कि मैं उनसे 'अहेतुक' (मूर्खतापूर्ण) सवाल किया करता था, जिनमें अनजाने मेरे

पुरुष होने का, ऊंची जाति में पैदा होने का अहंकार रहता था, जिसके साथ-साथ मेरी तुच्छता और क्षुद्रता भी जुड़ी रहती थी। लेकिन उन्होंने मेरे सवालियों को कभी तुच्छ और क्षुद्र नहीं माना; कभी मेरे सवालियों का अपमान नहीं किया। अगर वह मेरे सवालियों का अपमान करते तो वे अनुत्तरित तो रहते ही पर उससे भी ज्यादा बुरी बात यह होती कि मैं उनसे बात करने से कतराने लगता, मिलने-जुलने से परहेज करने लगता।

एक दिन मैंने सुनीलजी को कहा, “लड़कियों को सिगरेट नहीं पीनी चाहिए।” सुनीलजी ने इस पर कहा, “सिगरेट पीना किसी के लिए भी अच्छा नहीं है, लेकिन लड़के पीएं तो हमें अस्वाभाविक न लगे और लड़कियां पीएं तो बुरा लगे, क्या यह तर्कसंगत बात है?” अंगरेजी को लेकर मेरे भ्रम और मोह को भी उन्होंने कुछ इसी तरह भंग किया और मुझे अपनी मातृभाषा ओड़िया में लिखने को प्रेरित किया। मैंने ओड़िया में कहानी लिखना शुरू किया। कहानी छप जाने के बाद (पहले नहीं) उन्हें बताता था। दस वर्ष बाद 1992 में मेरी एक कहानी के हिंदी अनुवाद पर उनकी नजर पड़ गई तो उन्होंने दो लाइन की एक चिट्ठी



लिखी थी ‘समकालीन भारतीय साहित्य में तुम्हारी कहानी पढ़ी। अच्छी लगी।’ दो वाक्यों की इस चिट्ठी को मैंने कई साल संभालकर रखा था।

एक दिन की बात है, मैंने सुनीलजी को कहा, “जब हम समानता की बात करते हैं तो फिर कुछ लोगों को जाति के आधार पर आरक्षण देने की वकालत क्यों करते हैं।” सुनीलजी ने मुझे बहुत सरल ढंग से समझाया, “बच्चों की पढ़ाई केवल कक्षा में ही नहीं होती; घर, परिवेश और अभिभावक भी बच्चे की पढ़ाई में मददगार होते हैं। जिन बच्चों को यह मदद नहीं मिलती, उनका पीछे रहना स्वाभाविक है। ऐसे बच्चों को आरक्षण के माध्यम से थोड़ा संरक्षण न मिले तो वे हमेशा पीछे ही रह जाएंगे।” उस दिन सुनीलजी की बात सुनने पर मुझे अपने बचपन के दोस्त माधु की बड़ी याद आई। वह दलित था। चौथी कक्षा में फेल हो जाने

के बाद उसकी पढ़ाई खतम हो गई। कक्षा में हम दोनों पास बैठते थे। जब कभी मेरे स्कूल पहुंचने में देर हो जाती, वह मेरे बैठने की जगह आरक्षित रखता। उस छोटी उमर में भी वह स्कूल में आने से पहले और स्कूल से लौटने पर सूअर चराने जाता था। कई दिन बिना खाए स्कूल आता था और दोपहर को स्कूल में मिलनेवाला ‘केयर खाद्य’ बड़ी चाहत के साथ खाता था। मुझे घर से सख्त हिदायत थी कि ‘केयर खाद्य’ भूल कर भी न खाऊं क्योंकि उसमें कीड़े पाए जाते थे। चौथी क्लास में फेल हो जाने के बाद माधु का स्कूल छोड़ देना, मुझे तब किसी भी तरह अस्वाभाविक नहीं लगा था। जनेवि में उस दिन सुनीलजी के साथ बात करने के बाद मैं सोचता रहा माधु की पढ़ाई को जारी रखने के लिए क्या आरक्षण आवश्यक नहीं !

उन दिनों यानी 1982-83 में जनेवि में समता युवजन सभा (सयुस) एक बड़े ताकतवर छात्र संगठन के रूप में सक्रिय थी। 1982 में छात्रों की परिषद (जेएनयू स्टूडेंट्स काउंसिल) के चुनाव में सयुस की बड़ी शानदार जीत हुई थी। कम्युनिस्टों (एसएफआई) के जाने-माने गढ़ जनेवि में सयुस की जीत

राष्ट्रीय महत्व की घटना थी। सयुस की ओर से ‘समता एरा’ नाम से जनेवि से एक मासिक पत्रिका का भी उन दिनों प्रकाशन शुरू हुआ था। सयुस का एक नियमित स्टडी सर्कल भी चलता था। बाहर से व्याख्यान देने के लिए सच्चिदानंद सिन्हा और किशन पटनायक जैसे चिंतक और

मधु लिये व मधु दंडवते जैसे नेता आमंत्रित किए जाते थे। सयुस के सारे कार्यकलाप में सुनीलजी का साथ देनेवालों में जसवीर सिंह, चेंगल रेड्डी, योगेंद्र यादव, शंभुनाथ सिंह, सतीश अटल और लिंगराज के नाम याद आते हैं। सुनीलजी जिस लगन से सयुस के संगठनात्मक काम करते थे उसी लगन से बहस और बौद्धिक चर्चाओं में भी भाग लेते थे। बौद्धिक काम और संगठनात्मक काम के बीच उनमें गहरा सामंजस्य था—एक-दूसरे से जुड़े हुए और परिपूरक।

‘समता एरा’ थी तो मात्र आठ पृष्ठों की पत्रिका, लेकिन उसको निकालना कोई सहज काम नहीं था। ग्राहक बनाना, पैसों का जुगाड़ करना, सुचिंतित लेख संग्रह करना, प्रेस के चक्कर लगाना, प्रूफ देखना, खर्च बचाने के लिए आठ पृष्ठों को इस तरह मोड़ना कि वे बिखर न जाएं, ग्राहकों के पते चिपकाना और निर्धारित तारीख के दिन ईस्टर्न कोर्ट

के डाकखाने से अंक भेजना (अन्यथा डाक खर्च बढ़ जाता) - ये सारे काम मुख्यतः सुनील, जसवीर सिंह और चंगल रेड्डी करते थे। सहयोग के लिए हम लोगों को भी बुला लेते थे। 'समता एरा' के प्रूफ पढ़ने से राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मसलों पर हमारी जानकारी बढ़ती थी और लगता था कि कक्षा की पढ़ाई से यह पढ़ाई कम महत्वपूर्ण नहीं।

जनेवि में रहते हुए 1983 में असम के छात्र आंदोलन के समर्थन में सयुस की तरफ से (समता संगठन की इकाई के रूप में) दिल्ली से गुवाहाटी तक की साइकिल यात्रा का आयोजन किया गया। सुनील, जसवीर और चंगल महीनों उसकी तैयारी में व्यस्त रहे। सुनीलजी को तब ठीक से साइकिल चलाना नहीं आता था। साइकिल यात्रा से पहले उन्होंने समय निकालकर रोज साइकिल चलाने का अभ्यास किया। इस साइकिल यात्रा के डेढ़-दो वर्ष बाद 1984 में सुनीलजी ने जसवीर सिंह और अन्य साथियों के साथ दिल्ली से अमृतसर की पद-यात्रा की। इस यात्रा का उद्देश्य पंजाब समस्या के समाधान के नाम पर आम लोगों पर किए जानेवाले पुलिस के अत्याचार का विरोध करना था।

जनेवि परिसर के बीचो-बीच गोदावरी होस्टल के नजदीक उन दिनों एक झोपड़पट्टी हुआ करती थी। इस बस्ती के कुछ लोग जनेवि के निर्माण कार्यों में मजदूरी करते थे, कुछ लोग होस्टलों में तरह-तरह के काम करते थे और बस्ती की महिलाएं जनेवि के घरों में बाई का काम करती थीं। बस्ती के कुछ बच्चे बगल के मुनिरका गांव के स्कूल में पढ़ने जाते थे लेकिन ज्यादातर बच्चे स्कूल नहीं जाते थे। सुनीलजी सप्ताह में तीन दिन शाम को समय निकालकर इस बस्ती में जाते थे। मैं भी कभी-कभी उनके साथ चला जाता था पर मेरे जाने में कोई नियमितता नहीं थी। सुनीलजी को देखते ही बस्ती के बच्चे पास आकर उन्हें घेर लेते मानो कोई खिलौनेवाला या आइसक्रीम बेचनेवाला आ गया हो। कोई उन्हें कहानी सुनाने को कहता तो कोई साथ खेलने को। कुछ छोटे बच्चे उनकी गोद में बैठ जाते। कुछ ही देर में सुनीलजी का कुरता-पायजामा धूल से गंदा हो जाता। अगर उनके कपड़े इस्तरी किए हुए होते, काफी महंगे होते या सुनीलजी सूट-बूट में होते तो कोई बच्चा उनकी गोद में आकर धम्म से नहीं बैठता। बच्चों के साथ जिस आग्रह से सुनीलजी बात करते उसे देखकर लगता कि बच्चे बड़े हैं और सुनीलजी छोटे। जिस निष्ठा के साथ सुनीलजी संगठन का काम करते, सभा समितियों में अपना वक्तव्य रखते उसी निष्ठा से, बाल सुलभ सरलता से बच्चों से घुल-मिल जाते।

यह सब कुछ एकदम सहज और स्वाभाविक था। उनका यह रूप जिसने उन्हें नजदीक से देखा है, वही जानता है या जान सकता है और यह सौभाग्य मुझे अनायास ही प्राप्त हुआ।

तीन वर्ष बाद 1985 में सुनीलजी ने जनेवि में अपने शोध कार्य को छोड़ पूर्णकालिक सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ता का जीवन वरण किया। मध्यप्रदेश के एक आदिवासी गांव में वे रहने लगे। हमारा साथ छूट गया। बीच-बीच में कभी उनसे मुलाकात हो जाती तो मुझे लगता कि वह बहुत आशावादी हैं, निराश होना उन्होंने जाना ही नहीं है। 2004 में इसका एक प्रमाण किशनजी (पटनायक) की मृत्यु के अवसर पर मिला। मैंने सोचा था कि किशनजी की मृत्यु से समाजवादी जन परिषद का संगठन टूट जाएगा; सुनीलजी खुद को एकदम टूटा महसूस करने लगेंगे। मेरी आशंका गलत साबित हुई। व्यक्तिगत शोक और दुख का सुनीलजी के जीवन में कोई स्थान नहीं था।

पिछले डेढ़ साल से 'सामयिक वार्ता' के संपादन का अतिरिक्त भार उन्होंने अपने ऊपर डाल लिया था। उनके संपादन में वार्ता एक जीवंत पत्रिका बन गई थी। वार्ता के संपादक के रूप में सुनीलजी के जीवन का एक नया पहलू-देशी कला परंपराओं और देशी वाचिक परंपरा के इतिहास के प्रति उनका रुझान- प्रकट हुआ। वार्ता का काम संभालने के बाद उन्होंने मुझे ओडिशा की लुप्त हो रही नाटक मंडलियों के बारे में लिखने को कहा। 'पेटी मास्टर' शीर्षक से एक लुप्त नाटक मंडली के बारे में मैंने लिखा भी। इसके बाद उन्होंने ओडिशा के उन्नीसवीं सदी के एक स्वातंत्र्य संग्रामी सुरेन्द्र साएं के बारे में लिखने को कहा। वह लेख उनकी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही भेजा था (शायद वार्ता के अगले किसी अंक में छपे)। नाटक और इतिहास में मेरी दिलचस्पी उन्हें याद थी और उन्होंने मुझे फोन पर लिखने को कहा। लेख पाने के बाद उसमें जहां उन्हें कुछ अस्पष्टता लगी तुरंत फोन पर बात कर उसे स्पष्ट किया। कौन संपादक आज इतनी मेहनत करता है !

सुनीलजी के संपर्क में आना जीवन का एक परम सौभाग्य था। पहले दिन ही मेरे मन में उनकी जो छवि बनी थी, वही आज भी है। एक ऐसा व्यक्ति जिसके कहने और करने में रती भर भी अंतर न हो; जो अपने विचारों पर दृढ़ हो पर दूसरों पर उन्हें लादता न हो; जिसकी जीवन शैली की प्रशंसा सब करते हों पर जिसे अपनासे भागते हैं। सुनीलजी से अधिक सहज, सरल, कर्मनिष्ठ, समाजनिष्ठ व्यक्ति मैंने नहीं देखा। उन जैसा न हो पाने के बावजूद मैंने उनके व्यक्तित्व का प्रभाव अपने रोम-रोम में महसूस किया है।

समाजवाद के संघर्ष में अमूल्य योगदान

भारत डोगरा

समाजवाद के लिए, न्याय व समता पर आधारित व्यवस्था के लिए हो रहे संघर्षों और प्रयासों को सुनीलजी के निधन से भारी क्षति हुई है। जब भी, जहां भी यह संघर्ष आगे बढ़ेंगे, उनके साथ सुनीलजी के अथक प्रयासों और प्रेरणादायक जीवन की ताकत कई स्तरों पर होगी और इसे बहुत सम्मान से याद किया जाएगा।

सोवियत संघ के विघटन के बाद पूंजीवादी ताकतों ने एक तरह से अपनी विजय की घोषणा कर डाली और ऐसा प्रचार किया कि जैसे अब उनका कोई विकल्प नहीं बचा है। इसके साथ उन्होंने पूंजीवाद व नव-उपनिवेशवाद को और अधिक आक्रमक रूप में फैलाना आरंभ किया। इस स्थिति में जनहित व पर्यावरण रक्षा के लिए यह जरूरी था कि विचारधारा के आधार पर इस आक्रमकता का सामना किया जाए। ताकि समता और न्याय की, समाजवाद की राह में, सही विकल्प खोजने के लिए, लोग प्रेरित हों।

इस कठिन जिम्मेदारी को प्रतिकूल स्थिति में संभालने का साहस व सामर्थ्य जिन विचारकों में रहा, उनमें सुनीलजी का नाम अग्रणी पंक्ति में है। इस संदर्भ में सुनीलजी की अति मूल्यवान भूमिका का महत्व कुछ विशेष कारणों से और बढ़ गया है। हाल के समय में पर्यावरण का संकट जलवायु बदलाव के रूप में सामने आया है। कुल उत्पादन को बढ़ाने के लिए फॉसिल फ्यूल के उपयोग की सीमा निर्धारित करना जरूरी है ताकि सब लोगों की जरूरतों को टिकाऊ तौर पर पूरा किया जा सके।

सुनीलजी ऐसे विचारक थे जिन्होंने समता के साथ सादगी को सदा समुचित महत्व दिया। हमारे समाज में इस तरह की सोच की एक परंपरा रही है और इसे सुनीलजी ने बहुत तर्कसंगत ढंग से आगे बढ़ाया। समाजवाद की जो पश्चिम से आई सोच है, उसमें समता की बात तो मिलती है, पर सादगी की बात ठीक से नहीं आ पाती है।

इस तरह का उदाहरण बहुत कम मिलता है कि जिन सिद्धांतों का प्रचार निरंतर किया, वैसा ही जीवन भी स्वयं निरंतरता से जिया हो। सुनीलजी उन बहुत विरले जन-नेताओं में हैं, जहां कथनी और करनी का मिलन विद्यार्थी-जीवन से

उनके अंतिम दिन तक निरंतरता से मिलता है। उन्हें जो बहुत श्रद्धा और सम्मान मिला, उसकी एक बड़ी वजह यह रही।

एक अन्य महत्वपूर्ण सामंजस्य जो उनके जीवन में नजर आता है वह है व्यवहारिक कार्यों और सैद्धांतिक जिम्मेदारियों के बीच का सामंजस्य। प्रायः कुछ संगठनों में धरना-प्रदर्शन करनेवाले, जेल जानेवाले कार्यकर्ता व सैद्धांतिक पृष्ठभूमि व विचारधारा तैयार करनेवाले नेताओं की जगह, कुछ अलग-अलग होती है। सुनीलजी के अपने व्यक्तित्व व जीवन में इन दोनों भूमिकाओं में सामंजस्य मिलता है। वह दोनों को सक्षमता से निभाते रहे। दोनों भूमिकाओं के लिए समय निकालते रहे। ऐसी शानदार उपलब्धि आजादी की लड़ाई के दिनों के कुछ जन-नेताओं में भी नजर आती है। हाल के समय में ऐसी उपलब्धि शंकर गुहा नियोगी व एके राय जैसे कुछ गिने चुने जन-नेताओं के जीवन में भी देखी जा सकती है। सुनीलजी भी इसी परंपरा के जन-नेता थे व उन्होंने इस परंपरा को बखूबी निभाया।

भारत जैसे देशों में, समाजवाद को सबसे बड़ी ताकत होना चाहिए। पर कड़वी सच्चाई यह है कि समाजवाद की सोच भारतीय राजनीति में हाशिए पर चली गई है। जो थोड़ी-बहुत समाजवादी व वामपंथी ताकतें हैं, वे भी बहुत बंटी हुई हैं व परस्पर एकता से कार्य नहीं करतीं। इस बेहद चिंताजनक स्थिति का सही विश्लेषण बहुत समझदारी से कर इस दुखद स्थिति के कारणों को दूर करना बहुत जरूरी है।

इस दृष्टि से देखें तो सुनीलजी का विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करता रहा। उन्होंने गहराई से ऐसी कई समस्याओं पर चिंतन-मनन किया और अपने विचारों को सरल शब्दों में लोगों के सामने रखा। अपने अध्ययन व चिंतन-मनन में वे कई पेचीली समस्याओं के समाधान खोजते थे, व इसे आसानी से समझनेवाली भाषा में अपने पाठकों और साथियों के सामने रखते थे।

इस तरह जहां एक ओर समाजवाद के एक महत्वपूर्ण सिद्धांतकार की भूमिका उन्होंने निभाई, वहीं इससे संबंधी पुस्तकों व पत्रिकाओं को अपने झोले में डालकर बेचा भी। पुस्तक तो क्या, उन्होंने मछलियों को बेचने की

जिम्मेदारी तक को संभाला और कुशलतापूर्वक निभाया ! उनके लिए कोई काम छोटा-बड़ा नहीं था, यदि वह उन्हें बेहतर समाज व जीवन के लक्ष्य की ओर ले जाता। इस महान उद्देश्य के लिए वे तमाम सुख-सुविधाओं की संभावना से मुंह मोड़कर सदा तरह-तरह के कष्ट सहने के लिए तैयार रहते थे। उन्होंने अनेक जेल-यात्राएं कीं, बहुत कष्ट वहां सहे व जीवन के अंतिम दिनों तक जेल जाने के लिए तैयार रहे, गए भी और तभी बाहर आए जब उनकी बिना शर्त रिहाई की मांग को सरकार ने स्वीकार किया।

सुनीलजी की एक बड़ी उपलब्धि थी कि जो कुछ वे सिद्धांतकार के रूप में कहते थे, उसे अपने आसपास के व्यवहारिक जीवन में कर भी पाते थे। उन्होंने निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों के स्थान पर सहकारिता को समर्थन दिया, व सहकारिता आधारित प्रयास का तवा मत्स्य संघ के रूप में शानदार उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिया। व्यक्तिगत स्तर पर कहूं तो मेरे लिए व मेरे परिवार के लिए वे सदा एक बेहद

प्रेरक व्यक्तित्व रहे व रहेंगे। मैं जब भी उनसे मिला (और मुझे लगता है कि मुझे उनसे और अधिक मिलने का प्रयास करते रहना चाहिए था) उनका व्यवहार प्रेम और सहृदयता भरा रहा। यह मेरे लिए एक यादगार बात रही कि मैं उनके कार्यक्षेत्र में जा सका और लेख व पुस्तिका के रूप में उनके व उनके साथियों के कार्य के बारे में लिख सका।

सुनीलजी की असामयिक मृत्यु ने हमसे ऐसा साथी छीन लिया है जिससे अभी बहुत उम्मीदें और महान उपलब्धियों की संभावनाएं थीं। उन्होंने मेहनत, अध्ययन और अनुभवों से जो क्षमता प्राप्त की थी, वो बहुत दुर्लभ भी है और इसका अधिक व्यापक उपयोग राष्ट्रीय स्तर पर होना अभी शेष था। किसे पता था कि वे इतनी जल्दी हमें छोड़ जाएंगे। अब तो पछताते हुए यही कहा जा सकता है कि चार-पांच वर्ष पहले राष्ट्रीय स्तर पर भूमिका निभाने के लिए वे तत्पर हो जाते तो शायद उनकी क्षमताओं के बेहतर परिणाम हमें राष्ट्रीय स्तर पर भी नजर आते।

सुनील भाई को श्रद्धांजलि

अरविंद गुप्ता

मैं सामयिक वार्ता को काफी लंबे अर्से से पढ़ रहा हूं। हिंदी में यह एक दुर्लभ पत्रिका है जो हमारे वर्तमान समाज के विरोधाभासों के ऊपर सटीक टिप्पणी करती है। फिर कोई छह बरस पहले योगेंद्र यादव-गांधीजी के ऊपर एक संभाषण देने के लिए पुणे आए। मैं वर्तमान राजनीति पर उनके लेखों से भली-भांति परिचित था। वो पुणे विद्यापीठ स्थित हमारे बाल-विज्ञान केंद्र में भी आए। वो भी शायद मेरे बनाए सस्त-सरल वैज्ञानिक प्रयोगों से अवगत थे। उन्होंने मुझसे सामयिक वार्ता में शिक्षा संबंधी लेख लिखने का आग्रह किया जिसे मैंने तुरंत स्वीकार किया।

उसके बाद मैं लगभग दो साल तक सामयिक वार्ता के लिए शिक्षा में नवाचार संबंधी विषय पर लेख लिखता रहा। उसमें से एक लेख डेविड हौसब्रो द्वारा शुरू किए 'नीलबाग' स्कूल पर था। वो लोगों को पसंद आया। फिर दो साल पहले सामयिक वार्ता इटारसी से छपने लगी और सुनील भाई उसके संपादक बने। उनका सहयोग कर रहे थे बाबा मायाराम जिनके साथ मुझे 1978 में किशोर-भारती नामक संस्था में छह महीने बिताने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बाबा ने मुझे दुबारा से सामयिक वार्ता भेजनी शुरू की और एक बार फिर से

वार्तालाप शुरू हुआ। मैंने बाबा मायाराम और सुनील भाई से आग्रह किया कि वो मुझे हरेक अंक की पीडीएफ भेजें, जिससे कि इसे अन्य लोग भी मेरी वेबसाइट पर पढ़ सकें।

कई साल पहले मैंने एक युद्ध-विरोधी कानून पुस्तक 'लड़ाई से लगाव' का हिंदी अनुवाद किया था। इत्तफाक से उसे सुनील भाई ने पढ़ा और फिर उन्होंने मुझे हिंदी में युद्ध-विरोधी पुस्तकों पर एक लेख लिखने के लिए आमंत्रित किया। क्योंकि यह मुद्दा मेरे दिल के बहुत करीब था और क्योंकि मैंने हिंदी में अनेकों युद्ध-विरोधी पुस्तकों का अनुवाद किया था इसलिए मैंने उन सभी का उल्लेख करते हुए एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'युद्ध या बुद्ध'। लेख में सडाको और कागज के हजार पक्षी, हिराशिमा की आग, वफादार साथी, शिन की तिपहिया साईकिल, आखिरी फूल, बेयरफुट गेन और आर्ट स्पीगिलमैन की मशहूर पुस्तक 'माउस' का उल्लेख था।

यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं सुनील भाई से कभी मिल नहीं पाया पर मैंने उनके साथ कुछ समय तक पत्र व्यवहार जरूर किया। उनकी सादग और लगन, हम जैसे कार्यकर्ताओं के लिए हमेशा प्रेरणा का स्रोत रहेगी।

सुनील को जानना

अलका सरावगी

सुनील, केवल सुनील, अटपटा लगने के कारण मैंने अपने मोबाइल पर उनका नाम सुनील केसला रखा हुआ है। यह मालूम था कि सुनील जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से पढ़कर मध्यप्रदेश के केसला नाम के स्थान पर रह कर आदिवासियों और किसानों का आंदोलन चलाते हैं। इधर 'सामयिक वार्ता' का संपादन करते हुए उन्होंने कई बार वार्ता में लिखने का आग्रह किया। हाल में ही वैंडी डोनिगर की प्रतिबंधित पुस्तक पर 'लिखने शब्द की लुगदी' नाम से टिप्पणी, उनके फोन करके कहने पर तुरंत लिख कर भेजी। इससे उनका पहले का आग्रह न मानने का अपराध-बोध कुछ कम हुआ।

अपराध-बोध तो होता है और हर बार सुनील जैसे विरल लोगों से मिलने पर बढ़ जाता है। हम जो अपने को लेखक कहते हैं और दूर से लोगों का संघर्ष देखकर उस पर अपने पात्रों के माध्यम से अपना रोष व्यक्त कर सटक लेते हैं। वे सुनील जैसे लोगों के सामने अपने को बहुत छोटा महसूस करते हैं। अलबत्ता सुनील ने कभी ऐसा महसूस नहीं करवाया। कलकत्ता आने पर वह सहज भाव से कुछ भी पूछने पर उत्तर देते। उत्तर प्रायः संक्षिप्त होते। उनमें कोई किस्सागोई नहीं होती थी। शायद इसीलिए उनसे लगभग हमउम्र होते हुए भी कोई दोस्ती या अपनापा नहीं पनपा। सुनील बहुत गहरे पानी में उतरे हुए थे। किनारे पर खड़े लोग उन्हें बस देख सकते थे, चकित हो सकते थे; एक श्रद्धा जैसा नहीं भी, तो उसी के आस-पास कोई भाव महसूस कर सकते थे।

तुलना के लिए किशन पटनायक के बारे में कहने से बात साफ होगी। किशनजी कलकत्ते आने पर मिल जाने पर देखकर मुसकराते थे और 'क्या लिख रही हैं' भी कभी-कभी पूछ डालते थे। एक बार उन्होंने बताया था कि बचपन में परीक्षा में अच्छे नंबर लाने के लिए उन्होंने कितने चंपा के फूल गांव के मंदिर में चढ़ाए थे। यह बताने का मतलब यह नहीं है कि किशनजी बड़े किस्सागो थे, पर भूल-भटके अपने बारे में कुछ तो उनसे सुना याद आता है। सुनील इस मामले में बिलकुल

अलग थे। यानी सच कहें, तो वे एक लेखक के ठीक-ठीक काम के नहीं थे। न वे अपने बारे में कुछ बोलते, न अपने काम के बारे में कोई ब्योरा देते। यों मेरे पास सुनील का पूरे चार साल पहले लिखा हुआ एक पत्र है। जिसे उन्होंने मेरे पिछले उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' को पूरा पढ़ जाने के बारे में मुझे लिखा है, 'आपकी पुस्तक पाठक को बांधे रखती है, रोचक है, इतना तो मैं कह सकता हूँ। मैं उपन्यास बहुत नहीं पढ़ता हूँ और मजा नहीं आने पर बीच में छोड़ भी देता हूँ'। इसके बाद उन्होंने उपन्यास की ताकत और कमजोरियों को लगभग एक अकादमिक की तरह गिनाया है। कमजोरियों को बताते हुए दो बार 'माफ कीजिए' लिखा है। एक तथ्यात्मक त्रुटि भी बताई। पर वह नहीं लिखा, जो मैं जानना चाहती थी। उपन्यास में गुरु या गुरुचरण अजबदास नाम का पात्र अपना कॉरपोरेट चोला छोड़कर आदिवासी गांव को कंपनी द्वारा उजाड़ने से बचाने के लिए गायब हो जाता है। और आदिवासियों जैसा एक गांव बसाकर उसमें समानचित्त वाले लोगों के साथ जीने का संकल्प करते हुए अचानक मर जाता है। सुनील ने अपने पत्र में यह नहीं लिखा कि वे गुरुचरण के बारे में क्या सोचते हैं? सुनील ने सिर्फ इतना लिखा कि 'गुरु की आत्महत्या के साथ किस्से का अंत कर आप क्या कहना चाहती हैं, मैं समझ नहीं पाया।' वैसे उपन्यास में यह कहीं नहीं लिखा है कि गुरु ने 'आत्महत्या' की, पर उसका बिना बूढ़े या बीमार हुए अचानक मरना यह सवाल जरूर छोड़ता है कि क्या उसने जीना संभव नहीं समझा !

यह क्या कोई कम विडंबना है कि सुनील के उपन्यास के अंत वाले प्रश्न का मैंने कभी जवाब नहीं दिया। पर सुनील से प्रेम करनेवाले बार-बार यह सोच रहे हैं कि अगर सुनील ने अपनी सेहत का थोड़ा ध्यान रखा होता या कुछ कष्ट दिखने पर ध्यान देकर सही वक्त पर इलाज करवाया होता, तो वह हमारे साथ होते। अभी उनके जाने की उम्र नहीं हुई थी।

कलकत्ता में हुई सुनील की मृत्यु पर हुई शोक-

सभा में उनके साथ पढ़े एक मित्र से उनके जनेवि के दिनों के बारे में बहुत कुछ पता चला। बार-बार यह सवाल सबको मथ रहा था कि सुनील जैसा प्रतिभाशाली व्यक्ति, सुदूर ग्रामीण अंचल में रहकर काम करते हुए इस तरह कैसे असमय चला गया। मीडिया के शोर-शराबे में समाज-सेवियों को भी उनके कवरेज या किसी बड़े पुरस्कार से जाननेवाले समय में सुनील और उनके काम के बारे में बहुत कम लोग जानते होंगे। या जितनों को जानना चाहिए, वे नहीं जानते होंगे। एक लगातार विरूप और विमूढ़ होते

समाज और देश में सुनील अपने को 'होम' कर एक आदर्श गढ़ रहे थे, पर शायद अंदर ही अंदर बहुत टूटन भी महसूस कर रहे होंगे।

अब मन होता है कि जिस सुनील को उनके रहते नहीं जान पाए, उन्हें एक व्यक्ति के रूप में जाने। हाल में बीस साल की उम्र में अपने माता-पिता को लिखे हुए एक पत्र से उन्हें जाना। इसी तरह उनके तेईस साल के बेटे के द्वारा लिखे गए लेख से उन्हें जाना। उन्हें जानना ही हमारी श्रद्धांजलि होगी।

युवाओं के प्रेरणा-स्रोत

कामायिनी

वर्ष 2000 में मैंने पहली बार समाजवादी जन परिषद के शिविर में भाग लिया। यह शिविर कानपुर में आयोजित था और शिविर जाने के लिए जिस ट्रेन में मंगल सिंह और मैं चढ़े थे, उस यात्रा से जुड़ी है सुनील भाई की मेरी पहली याद। एक जनरल डब्बे में वह और सच्चिदा बाबू (सच्चिदानंद सिन्हा) थे और गमछे को बिछाकर उन्होंने हमारे लिए भी कुछ जगह रखी थी। सजप के नेतृत्व में होने के बावजूद सुनील भाई के लिए भौतिक आराम की आवश्यकता बहुत कम थी, यह उन हजारों जनरल डब्बे की यात्राओं में से एक रही होगी जो सुनील भाई लगातार बिना झिझक करते थे।

शिविर से जुड़ी है एक और याद और वह है शिविर की वह शाम जिसमें कई वरिष्ठ साथियों ने सांस्कृतिक कार्यक्रम में अपना योगदान दिया था। संजय मंगो के 'साथियो सलाम' से हम सब स्तब्ध थे और जब सुनील भाई मंच के नजदीक आए तो उनकी कविता ने मुझे ही नहीं सभी को हंसाया, कविता मजाकिया तो थी ही पर सुनील भाई के गंभीर व्यक्तित्व से मेल सी नहीं खा रही थी, कविता थी- 'किस-किस को किस करूं/ किस-किस को किस करूं/ किसमिस को किस करूं, किस-किस को किस करूं' और अपनी सीमित यादाश्त के बावजूद आज भी मैं याद करती हूं कि सुनील भाई ने यह मजाकिया कविता कही थी या इसमें भी उनका साहस झलकता है कि दूसरे उन पर हंसेंगे यह उन्हें विचलित नहीं करता था!

सुनील भाई ने मुझ जैसे कई युवाओं के लिए नए रास्ते खोले, एलपीजी को समझने और उसके मकड़जाल से निकलने को लेकर अभी तक भी जब भी हमारे सवाल होते तो हम सुनील भाई की ओर देखते। हमारी ग्रहण करने की क्षमता कितनी भी कम क्यों ना हो सुनील भाई अपना धैर्य नहीं खोते। मेरे मध्य प्रदेश से जाने के बाद उन्हीं के माध्यम से मध्य प्रदेश के जन संगठनों की जानकारी मिलती। वह देश भर की यात्रा करते, बिहार आए तो हम लोगों ने अनुरोध किया कि वह जन जागरण शक्ति संगठन के साथियों के लिए समय निकालें, तो वह अररिया आए और बाद में कटिहार भी। छोटे किसान और मजदूर के बीच बढ़ती दूरी हो या फिर किसानों की बिगड़ती हालत और सामान्य शिक्षा प्रणाली, चर्चाएं इन पर केंद्रित रहीं, हमने आगे बढ़ना चाहा पर अभी भी कोई ठोस पहल नहीं कर पाए हैं।

सुनील भाई के ही प्रोत्साहित करने पर कभी-कभी वार्ता के लिए लिखती थी और शायद अब हमेशा लिखूंगी क्योंकि वह जाने से पहले हम सब को तैयार कर रहे थे। आखिरी बार हम वर्धा में मिले थे पर उससे पहले जब जीतेन्द्र और मैं केसला गए थे तो मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था की हमें 'लोकतांत्रिक क्रांति' पर विश्वास है। हम उस की तैयारी कर रहे हैं। अब हम सब साथ मिलकर उसके के लिए काम करेंगे और सुनील भाई की याद हमें प्रेरित करेगी।

सविनय अवज्ञाकारी

मुकुल मांगलिक

मैं उन सभी के दुख को साझा करना चाहता हूँ जिनकी जिंदगियां सुनील से आत्मीय रूप से गुंथी थीं और उनकी भी जिनकी जिंदगियों को सुनील ने कई अगोचर तरीकों से छुआ था। मैं खुद को इस दूसरी श्रेणी में शामिल पाता हूँ।

मैं सुनील को कुछ अलग तरीके से याद करना चाहूंगा—जैसा मैंने उनके बारे में कल्पना की और मेरी नजर में जिन मूल्य पर वे खड़े रहे और जिनका वे प्रतीक थे। मैं यहां तथ्यात्मक रूप से सही होने के दावे नहीं करता, लेकिन मुझे नहीं लगता कि सुनील के बारे में अपनी अनुभूतियां साझा करने के लिए यह एक जरूरी कसौटी है। दरअसल, जब सुनील के जीवन और उसके काम की कहानी लिखी जाएगी, तब उसका एक रुचिकर आयाम हो सकता है इस बात की पड़ताल करना कि उनको और उनके काम को उन लोगों ने कैसे महसूस किया, जो कि उन्हें बहुत कम जानते थे या जिन्होंने उनके बारे में केवल सुना था।

मैं यकीनन नहीं कह सकता कि सुनील दार्शनिक प्रुदों की तरह 'संपत्ति को चोरी' मानते थे। न ही मैं यह जानता हूँ कि क्या वह मार्क्स की तरह यह मानते थे, 'पूँजी अपनी उत्पत्ति के साथ ही सर से पांव तक खून में लतपथ रहती है?' लेकिन मुझे यह जरूर लगता है कि संपत्ति और पूँजी-संचय के भीषण तर्क के सवाल उनकी राजनीति और एक समाजवादी समाज बनाने के उनके सपने के केंद्र में थे। मैंने हमेशा इन मुद्दों पर उनके काम को सराहा।

मैं यकीनन नहीं कह सकता कि सुनील नास्तिक थे, लेकिन मैं उन्हें एक पूर्णतया सेक्युलर व्यक्ति के रूप में याद करता हूँ— जो न सिर्फ यह कहे कि राज्य का धर्म नहीं होना चाहिए, या ये कहे कि तुम्हें तुम्हारा धर्म मुबारक और मुझे मेरा (यह एक तरह का धार्मिक बहुलतावाद है)। बल्कि एक ऐसा व्यक्ति जो न केवल अपनी वाणी में बल्कि अपनी निजी और सार्वजनिक जिंदगी में सही मायने में सेक्युलर था। इतिहास के मौजूदा दौर में ऐसे इंसान का गुजर जाना एक ऐसी क्षति है जिसे शायद हम फौरी तौर पर नहीं समझ पाएंगे।

मैं यकीनन नहीं कह सकता कि सुनील राज्य-सत्ता

के सवाल को कैसे देखते थे, मसलन कि चुनावों द्वारा सत्ता हासिल करने का रास्ता। लेकिन एक दूरी से उनके जीवन को मैंने जितना समझा और बहुत से मौकों पर उनसे संबल पाया, उसमें तो हर दिन, लगातार, बिना थके, तमाम मुश्किलातों के बावजूद, बिना खुद सत्ता हड़पे, दुनिया को बदलने की अहमियत दिखाई देती है। और दिखाई देता है उनका अनवरत काम, ऐसे तार्किक नागरिक गढ़ने का जो आमूल समतावाद, लोकतंत्र और एक विश्वव्यापी हकूकों और आजादी की नई संस्कृति गढ़ने की ओर प्रतिबद्ध हों। ऐसे नागरिक, विशेषतया सबसे गरीब और कमजोर तबकों से ताल्लुक रखने वाले, जो सत्ता के सामने सत्य बोलने और सत्य के लिए संगठित होने से न डरें, भले ही उस सत्ता का केंद्र घर में हो या बाहर। मुझे लगता है कि सुनील इस अक्सर अनाकर्षक प्रतीत होने वाले काम को न सिर्फ फासीवादी राजनीतिक संस्कृतियों (जिनके बिना फासीवाद सत्ता पर काबिज नहीं हो सकता) का सामना करने का, बल्कि साथ ही एक अलग, ज्यादा खूबसूरत दुनिया बनाने के सपनों को सच करने का भी आधार समझते थे। मुझे लगता है कि यही प्रतिबद्धता और आजादी का मतलब—सबसे पहले नैतिक विकल्प चुनने की आजादी—होने की समझ थी, जिसके कारण यदि बेसब्री, अकेलेपन और निराशा ने उन्हें घेरा भी तब भी उन्होंने राजनीति में कभी शॉर्ट कट नहीं लिए। मुझे इससे अपने लिए एक अहम सबक मिला। और शायद इसमें हम सब के लिए एक सबक है, चाहे हम जहां कहीं भी हों और जो भी हों।

अंत में एक प्रतिबद्ध, खुले दिमाग वाले समाजवादी, जहीन शख्स, एक नम्र, दृढ़ और संवेदनशील रूह, प्रखर मेधा के साथ साथ विनम्रता और जन-सेवा की प्रतिमूर्ति को मैं श्रद्धांजलि के रूप में कुछ शब्द साझा करना चाहूंगा। हॉवर्ड जिन के द्वारा लिखे और मेरे द्वारा इकट्ठे किए गए ये शब्द हैं। इस शब्दों को पढ़ते समय मुझे लगा कि यह खुद सुनील के द्वारा भी लिखे जा सकते थे। तो दोस्तों मेरी हम सब से गुजारिश है कि एक पल के लिए हम कल्पना करें कि सुनील हमसे यह कह रहे हैं।

‘सविनय अवज्ञा हमारी समस्या नहीं है, हमारी समस्या है सविनय आज्ञाकारिता। हमारी समस्या यह है कि दुनिया भर में लोगों ने सदा रहनुमाओं के हुक्म माने हैं और नतीजतन लाखों लोगों की जानें गई हैं। हमारी समस्या यह है कि गरीबी, भुखमरी, जहालत, जंग और नृशंसता को झेलते हुए भी दुनिया भर में लोग आज्ञाकारी ही बने रहे हैं। हमारी समस्या यह है कि जेलों छोटे चोरों से पटी हुई हैं और बड़े चोर हमारे देश और दुनिया को चला रहे हैं और चलाते रहेंगे।

मुझे आशा है कि हम इस समाज में आज्ञापूर्वक अपनी जगह नहीं ले लेंगे। पहिए का सफल दांता बनने की उम्मीद लिए कि पहिया अपनी मन-मर्जी हमें अपने साथ घुमाता रहे और हमें पता भी न चले कि हम क्या कर रहे हैं। मुझे आशा है कि हम चुप्पी की हिफाजत भरी पनाह छोड़ देंगे, बोलने की चेष्टा करेंगे, अन्याय के खिलाफ आवाज उठाएंगे और यह याद रखेंगे कि कोई भी मजहब, कोई भी झंडा, बल्कि कोई चीजें भी इतनी बड़ी नहीं हैं कि मासूमों की मौत पर पर्दा डाल सकें।

बुरे समय में उम्मीद का दामन थामे रहना मूर्खता भरी रूमानियत नहीं है। यह इस तथ्य पर आधारित है कि मानव इतिहास सिर्फ क्रूरता का इतिहास नहीं है, यह संवेदना, बलिदान, बहादुरी, और नेकी का भी इतिहास है। इस जटिल इतिहास में हम जिस पहलू पर जोर देंगे उसी से हमारी जिंदगियां निर्धारित होंगी। अगर हम निकृष्टतम को ही देखेंगे तो कुछ करने की हमारी क्षमता नष्ट हो जाएगी। अगर हम वह वाकए याद करें, और ऐसे कई हैं, जिनमें इंसानों ने शानदार काम किया हो, तब उससे हमें काम करने की ऊर्जा मिलेगी और कम से कम इस दुनिया के नाचते लट्टू को उल्टा घुमाने की संभावना जगेगी। भविष्य वर्तमानों की अनंत कड़ी है, और आज, अभी वैसे जीना जैसे इंसानों को जीना चाहिए, तमाम नृशंसता और अमानवीयता का सामना करते हुए, अपने आप में एक शानदार जीत है।’

सुनील को याद करना, उन्हें और उसकी जिंदगी के विविध मायनों को जिंदा रखना शायद भावनात्मक रूप से आसान नहीं होगा। लेकिन यह किया जरूर जाएगा और बेशक किया भी जाना चाहिए। यहां कहना जरूरी नहीं है, फिर भी यह कहते हुए अपनी बात खत्म करूंगा। मुझे उम्मीद है कि हम उस आदमी की मूर्तिपूजा नहीं करेंगे जो खुद कई मायनों में एक मूर्ति-भंजक था।

सुनील भाई और ‘नोटा’

नरेंद्र कुमार

सुनील भाई से मेरी सिर्फ एक बार मुलाकात हुई। समाजवादी जन परिषद (सजप) के बिहार के बाहर के प्रमुख लोगों को मैं जानता भी नहीं था। बिहार में शिवपूजन सिंह मेरे मार्गदर्शक थे। 2010 में बिहार विधानसभा के करगहर क्षेत्र से सजप का उम्मीदवार होने के बावजूद मेरा परिचय क्षेत्र बहुत सीमित था। नवंबर 2012 में शिवपूजन सिंह के नेतृत्व में रोहतास के काफी साथी सजप छोड़कर आम आदमी पार्टी में चले गए। इससे हमारे इलाके में काफी निराशा छा गई, लेकिन सुनील भाई और चंचल मुखर्जी जैसे नेता और कार्यकर्ता तो दुगुने उत्साह से काम करने लगे।

25 फरवरी को बिहार सजप की कार्यकारिणी की मुजफ्फरपुर में बैठक थी। सुनील भाई विशेष रूप से इस बैठक में भाग लेने आए। बैठक में अप्रैल-मई में होनेवाले लोकसभा के चुनाव पर विचार हुआ। बिहार के साथियों की राय थी कि कम से कम दो सीटों पर चुनाव लड़ना चाहिए। सुनील भाई ने पूछा कौन लोग उम्मीदवार होंगे। हमने उन्हें बताया कि हम क्यों दो सीटों पर लड़ना चाहते हैं। सुनीलजी ने बड़े धैर्य से हम लोगों की बात सुनने के बाद कहा चुनाव में हमें नाहक अपनी ऊर्जा खर्च नहीं करनी चाहिए। हर जगह ‘नोटा’ (खड़े सभी उम्मीदवारों को नकारते हुए वोट देना कि कोई भी उम्मीदवार मत प्राप्त करने लायक नहीं है।) के प्रयोग के बारे में लोगों में जागरूकता पैदा करनी चाहिए। उन्हें बताना चाहिए कि नोटा के प्रयोग में क्या-क्या संभावनाएं हैं। बिहार सजप ने लोकसभा की किसी भी सीट पर चुनाव नहीं लड़ा। चुनाव में प्रचार के रूप में उसने सुनील भाई के ‘राहुल-मोदी-केजरी वाल से 20 सवाल’ परचे को बांटा। नोटा के प्रयोग के बारे में हमारे प्रचार का नतीजा उत्साहप्रद था। सासाराम लोकसभा क्षेत्र में नोटा को 13 हजार और काराकाट लोकसभा क्षेत्र से 10 हजार वोट मिले।

सुनील भाई की मृत्यु से समाजवादी आंदोलन को जो क्षति हुई है उसे निकट भविष्य में पूरा करना कठिन जान पड़ता है। लेकिन उनके विचार और कर्म से हमें प्रेरणा मिलती रहेगी।

मेज के इस तरफ और उस तरफ

देवेन्द्र

05 मई 2014, दोपहर के लगभग 2 बजे। तवा जलाशय के तट पर, जो गर्मियों में सिकुड़ गया है, बहुत से मित्र एकत्रित हुए हैं, साथी सुनील को श्रद्धांजलि देने के लिए। सुनील की अस्थियों को उसी जलाशय को समर्पित किया जा रहा है जिस जलाशय पर स्थानीय लोगों के अधिकारों की लड़ाई सुनील पूरी जिंदगी लड़ते रहे। जलाशय में जब सुनील के अंतिम अवशेषों को प्रवाहित किया जा रहा था, मित्रगण सुनील की स्मृति में गा रहे थे-- मेरे वतन ओ मेरे वतन तेरे लिए हैं सारे जतन।

देर रात शिउली और स्मिता से बात करने के बाद खुले आसमान के नीचे खाट पर लेटा मैं सोचता हूँ, समय कितनी जल्दी गुजरता है। कुछ रिश्ते, कुछ दोस्तियां मानो समय से परे होती हैं। बरसों बाद किसी से मिलकर ऐसा लगता है मानो हम कल ही तो अलग हुए थे। तकरीबन 26 वर्ष पूर्व जून 1988 में, मैं पहली बार केसला आया था। दो वर्ष पूर्व राजस्थान के आदिवासी इलाके में गुजारने के बाद मैं ऐसी जगह की तलाश में था, जहां खेती के लिए जमीन उपलब्ध हो, साथ ही देश के विभिन्न हिस्सों में, गावों में, आदिवासी इलाकों में जो साथी सामूहिक कार्य कर रहे थे, उनसे मिलने की मंशा भी थी। सुनील व स्मिता के बारे में मुझे दिल्ली के हमारे पुराने साथी सुभाष-निर्मला से पता चला था। तब सुनील-स्मिता अपने चार अन्य साथियों-- राजनारायण, आलोक, सुरेन्द्र व गिन्नीजी के साथ बांसलाखेड़ा स्थित लोहिया अकादमी में रहते थे। कच्चा घर था, घरों में बैलों की जोड़ी भी थी खेती के लिए, खाना चूल्हे पर बनता था, लकड़ी जंगल से बीनकर लानी होती थी और घर का सामान केसला बाजार से आता था। सामाजिक कार्य के बारे में इन सभी साथियों के यही मूल्य थे-- जनता के बीच रहना, उन्हीं की मदद से संगठन का कार्य करना (एनजीओ नहीं बनाना, बाहर से फंड्स नहीं लेना) और उन्हीं के जैसे रहना, बोलना ...। हमारी दोस्ती होनी ही थी। मैंने खेती व अपने काम के लिए झिरी चुना। किसान आदिवासी संगठन, केसला के विभिन्न आंदोलनों में हम साथ रहे। सुनील के माता-पिता ने जहां तक मुझे याद है

हमेशा सुनील का साथ दिया। इसी वजह से सुनील से मित्रता कब सुनील के बाई-बाबूजी के साथ मेरे आत्मीय रिश्ते में बदल गई पता ही नहीं चला।

एक बार सुनील जेल में थे और उन्हें छुड़ाने के लिए केसला से होशंगाबाद पैदल मार्च निकाला गया। तब मैं समता संगठन के अन्य साथियों--स्वातिजी, अफलातून व पिपरिया के साथियों से मिला। अदभुत समूह था। पुनः तवा जलाशय में मछली मारने के अधिकारों के लिए जब केसला में रास्ता रोको आंदोलन हुआ, हम पांच साथी इसमें शामिल होने के लिए केसला पहुंचे। रास्ता रोका गया, पुलिस ने लाठी चार्ज किया, पानी की बौछार की गई और सात साथियों को गिरफ्तार कर होशंगाबाद जेल में भेज दिया गया। हमें जेल की महिला विंग में रखा गया था। गिरफ्तारी के अगले दिन स्वास्थ्य जांच के बाद सुनील से तत्कालीन जेलर ने काफी बातें की। संभवतः वह यह कहने की कोशिश कर रहे थे कि भाई मैं तो सरकारी नौकरी कर रहा हूँ वरना आप में और मुझ में क्या फर्क है ? तब सुनील ने जवाब दिया था-- 'जेलर साहब आप मेज के उस तरफ हैं और मैं मेज के इस तरफ। आप कुर्सी में बैठे हैं और मैं खड़ा हूँ। ये फर्क बहुत बड़ा है।'

मैं कई बार इस वाक्य को याद करता हूँ। बाद में सुनील और साथियों ने मिलकर समाजवादी जन परिषद को एक राजनीतिक दल के रूप में स्थापित किया। अपनी पूरी जिंदगी किस तरह बिना किसी तरह की आशा के, अखबारों की चमक-दमक से दूर, गावों जंगलों में, अपने मूल्यों के लिए, समाज में बदलाव होगा इस आशा के साथ खपा देना और पूरी प्रतिबद्धता के साथ लगे रहना--यही था सुनील। 5 मई को केसला में आयोजित कार्यक्रम के अंत में जब इकबाल, शिउली और स्मिता के साथ सभी साथियों ने गाया-- 'लड़त जा रे ... बढ़त जा रे !' तो कितने ही पल, कितनी ही बातें याद आती रहीं। हमारे देश में शहीदों की चितायों पर मेले नहीं लगते पर हम सब साथी तुम्हें याद करेंगे, सुनील। और कोशिश करेंगे इस लड़ाई को जारी रखने की। जिंदाबाद।

कुछ यादें

प्रेमपाल शर्मा

मैं अभी तक यह यकीन नहीं कर पा रहा कि सुनील भाई नहीं रहे। यों मेरी मुलाकात बहुत ज्यादा उनके साथ नहीं रही लेकिन उनके लेख, पुस्तिकाएं और पिछले कुछ दिनों से सामयिक वार्ता मिलने के तुरंत बाद ईमेल से संवाद होता रहता था। हर बार मेरा वायदा उनकी पत्रिका के लिए लिखने का और उनका वादा अगली बार दिल्ली आने पर मुलाकात का। मुलाकात वाकई बहुत कम रही। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है। आखिर हम सरोकारों की सड़कों पर तो हर रोज मिलते ही थे। वह चाहे शिक्षा के अधिकार की बात हो या समान शिक्षा, अपनी भाषा या वैकल्पिक राजनीति के दूसरे मॉडल। इस दौर के उन जैसे कम ही लेखक ऐसे होंगे जिनका कोई लेख छपे और मैं नहीं पढ़ूं। किसी व्यस्तता के बीच कभी नहीं पढ़ पाया तो मैं संभालकर रख लेता था। आज उन लेखों को उलट-पलटकर देख रहा हूं। उसमें सच्चिदानंद सिन्हा, कृष्ण कुमार, योगेंद्र यादव, सुनील, अनिल सद्गोपाल, प्रभाष जोशी जैसे कई नाम हैं, जिनकी चिंताएं लेख पूरा होते-होते आपको शामिल कर लेती हैं।

मेरी उनसे मुलाकात लगभग दस वर्ष पहले यमुना नगर में हुई थी। दिल्ली विश्वविद्यालय और समाजवादी आंदोलन के सक्रिय मित्र प्रेम सिंह के बुलावे पर। यमुना नगर (हरियाणा) के डीएवी स्कूल में दो दिवसीय आयोजन था। यदि मैं सही याद कर पाऊं तो दो दिवसीय गोष्ठी का शीर्षक था 'शिक्षा के मूल्य'। प्रेम सिंह और मैं एक स्कूल में एक साथ रुके हुए थे। रात के किसी पहर सुनील भाई पहुंचे। वही डेढ़ पसली का शरीर, खादी का मोटा सा कुर्ता लेकिन चेहरे और आवाज में अद्भुत चमक और खनक। रात के उस पहर में समकालीन मुद्दों पर कुछ देर बात होती रही और शेष को अगले दिन की गोष्ठी के लिए स्थगित करके हम सो गए।

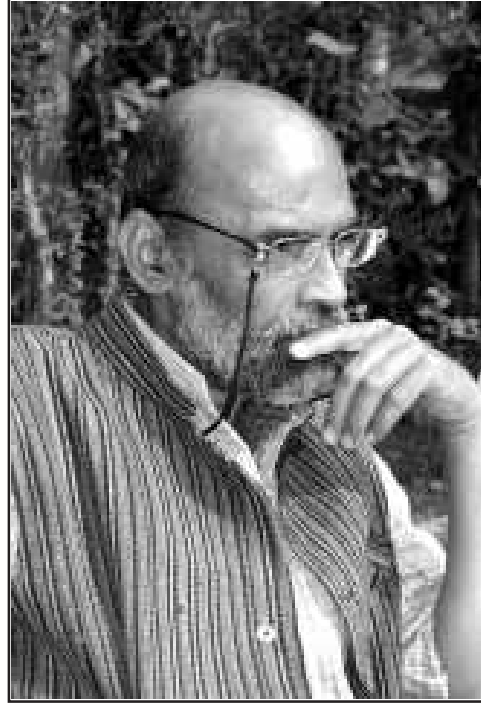
जनसत्ता अखबार के कई लेख मेरी आंखों पर तैर रहे हैं। वैकल्पिक व्यवस्था का कौन सा प्रश्न ऐसा था जिस पर उन्होंने अपनी चिंता न जताई हो। पिछले दस साल शिक्षा में आमूल परिवर्तन के बड़े उथल-पुथल के वर्ष रहे हैं। लेकिन सुधार के दावे के बीच शिक्षा की स्थिति उतनी ही बिगड़ती चली। संसद की हर बहस, हर कानून, हर बदलाव

के नाटक के बाद सुनील या सद्गोपाल के लेख का मैं इंतजार करता रहा हूं। इस बीच शिक्षा के क्षेत्र के एक और जुझारू विनोद रैना भी नहीं रहे। इन सबकी तिकड़ी हम सबको रास्ता दिखाती रही है। विशेषकर सही और समान शिक्षा के हक के लिए सुनील के एक लेख को मैं बार-बार याद करता हूं, जिसमें उन्होंने क्यूबा, वैनैजुएला और संभवतः किसी यूरोपीय देश के मॉडल की वकालत की थी। क्यूबा की चिकित्सा शिक्षा, वैनैजुएला में शास्त्रीय कलाओं और फिनलैंड में पूरी शिक्षा सरकारी खर्च पर। उन्हीं के लेख से पता चला कि फिनलैंड में एक भी निजी स्कूल नहीं है।

मेरी स्मृतियों में उनके दर्जनों लेख और पुस्तिकाएं हैं। शिक्षा के अधिकार पर उनकी पुस्तिका बेजोड़ है। यह इस कानून की एक-एक कमी की ओर इशारा करती है। यह बताती है कि कैसे यह थोपा हुआ मॉडल एक सीमा से आगे शिक्षा में बदलाव नहीं ला सकता। अनिल सद्गोपाल के साथ शिक्षा के मसले पर उनकी जोड़ी बेमिसाल कही जा सकती है। सामयिक वार्ता दिल्ली से मध्य प्रदेश चली गई। सुनील ने उसकी सादगी को बरकरार रखते हुए उसे ऐसी पत्रिका में बदल दिया जिसके एक शब्द को भी आप बिना पढ़े नहीं छोड़ सकते। संभवतः उनके संपादन में अंतिम अंक में अमर्त्य सेन और जगदीश भगवती के अर्थशास्त्रीय चिंतन पर तुलनात्मक टिप्पणी थी। मुझे पहली बार इतने कम शब्दों में दोनों अर्थशास्त्रियों की समझ का भेद समझ में आया।

हम सुनील जैसे कितने नाम गिना सकते हैं जो अपने भविष्य को दांव पर लगाकर इस देश के आदिवासियों के बीच काम करने गए हों? लगभग उसी दौर के या उससे दो चार साल पहले के कुछ नाम हम सब जानते हैं जो बड़ी-बड़ी राजनैतिक पार्टियों के महासचिव या कर्ताधर्ता हैं। संसद सदस्य भी हैं। वैकल्पिक राजनीति की बातें जरूर ये चमकदार राजनीतिज्ञ करते हैं लेकिन उनकी राजनीति की चमक और सुनील की राजनीति में उतना ही अंतर है जितना उनके कपड़ों, रहन-सहन सरोकारों में। उनकी मृत्यु पर राजकिशोर और प्रेम सिंह ने उनको ठीक ही 21वीं सदी का गांधी बताया है।

दिसंबर 2013 के अंतिम सप्ताह में मैं दो दिन के लिए इटारसी में था। रेलवे के शिक्षकों के लिए एक वर्कशाप इटारसी में आयोजित की थी, पांच दिन के लिए। मेरा इटारसी चुनने का एकमात्र कारण था कि होशंगाबाद में स्थित एकलव्य के विद्वान दोस्तों की मदद लेना। अरविंद सरदाना, सुशील जोशी, सुब्रमणियम, रश्मि पालीवाल ने मन से सहयोग दिया। सुनील उस समय बनारस गए हुए थे। उन्हें पता चला तो उनका तुरंत फोन था एक दिन और



रुकने के लिए। मेरी भी इच्छा थी और उसके पीछे एक बड़ा कारण था कि क्या एक नई उभरती 'आप' पार्टी और समाजवादी जन परिषद के बीच कुछ सद्भाव और बढ़ सकता है ? इस पर चर्चा अखबारों से छनकर आ रही खबरों से तो नई पार्टी और समाजवादी जन परिषद के सरोकार बहुत करीब ही थे तो फिर राजनीतिक सक्रियता अस्वीकार क्यों ? खैर, इटारसी से ही फोन पर इस विषय पर कुछ बात हुई और शेष बातों के लिए इटारसी में मुलाकात पर छोड़ दिया गया। लेकिन अफसोस कि बनारस से इटारसी रेल में स्लीपर क्लास में भी उनका आरक्षण नहीं हो पाया। मेरे बनारस संदेश देने के बावजूद भी वे इटारसी तक नहीं पहुंच पाए।

सुनील संघर्ष और सादगी की मिसाल थे। पिछले

कुछ सालों में जब भी आरक्षण के सिलसिले में उनका अनुरोध आया (वर्ष में एक-आध बार भी) तो हर बार स्लीपर क्लास में ही। मैं सोचता हूँ भगवान! जून की ऐसी लू के बीच इतनी लंबी यात्रा! कहीं बीमार न हो जाएं ? उनकी सादगी के बरक्स स्लीपर क्लास में चलनेवालों में मुझे एक और नाम याद आता है वह है रामजी राय। वैकल्पिक राजनीति के लिए वैसे ही प्रतिबद्ध। सीपीआईएम एल के सक्रिय कार्यकर्ता और समकालीन जनमत के संपादक। आश्चर्य की बात है कि कदकाठी दाढ़ी, सादगी, ईमानदारी जनपक्षधर्ता के साथ-साथ प्रखरता की आंच भी एक जैसी।

समाज में वैकल्पिक राजनीति की आवाज या आहटें वहीं सुनी जा सकती है जिसका अपना जीवन भी ऐसी ही वैकल्पिक राजनीति का मॉडल हो। यह अचानक नहीं है कि दिल्ली की मीडिया तंत्र की बदौलत वैकल्पिक राजनीति का दावा करनेवालों का जीवन एक खाली कनस्तर की तरह सबकी पहचान में आ जाता है। यही कारण है कि जहां सुनील की आवाज, लेख, शब्द हमारा पीछा कर रहे हैं दिल्ली के इन तथाकथित मसीहाओं के नहीं। उनका अचानक चले जाना वैकल्पिक राजनीति, वैकल्पिक समाज बनाने के संघर्ष के लिए एक बहुत बड़ा नुकसान है। लेकिन देश जिस दौर से गुजर रहा है उसमें सुनील भाई के शब्द और उनका जीवन पूरी पीढ़ी को प्रेरणा देता रहेगा।

“प्रधानमंत्री, उनके वरिष्ठ मंत्रिमंडलीय सहयोगी, उनके आर्थिक सलाहकार, उनके पहले की सरकारों-सबकी सोच ही दरअसल भारतीय जनता के बुनियादी हितों के खिलाफ जाती है। विश्व बैंक एवं विश्व व्यापार संगठन ने उन्हें 'निर्यात-मुखी विकास' की इतनी गहरी घुट्टी पिला दी गई है कि वे आंख मूंदकर उसी का मंत्र-जाप करते रहते हैं। देश की जनता को तरसाकर, उसकी जरूरतों की उपेक्षाकर विदेशियों को सस्ते दामों पर देश का माल बेचना मानों उनका धर्म बन गया है, जिससे छोटी-मोटे संकट उन्हें ज्यादा विचलित नहीं कर पाते। इस चक्र में वे देश के प्राकृतिक संसाधनों, देश के श्रम और कौशल, देश के जनजीवन के क्षेत्रों, देश की संप्रभुता व स्वाभिमान- सबको लुटाते व नीलाम करते जा रहे हैं। फिर बेचारे प्याज की क्या बिसात है? वह भी विदेशियों की सेवा में चल दिया है।” -सुनील

सुनील जैसा होना संभव नहीं

प्रियदर्शन

सुनील भाई से मेरी मुलाकात बहुत बाद में हुई, उनको जानता बहुत दिन से रहा। इस परिचय के दो जरिए थे-- एक तो उनका लेखन, जो 'जनसत्ता' से लेकर 'सामयिक वार्ता' तक में समय-समय पर प्रकाशित हुआ करता था, दूसरे उनके बारे में साझा मित्रों से मिलनेवाली सूचनाएं और जानकारियां, जो इतनी ज्यादा थीं कि अक्सर बिना मिले मान लेता था कि वे अपने मित्रों में हैं।

जाहिर है, मिलने से पहले के इस परिचय का अपना एक प्रभाव भी रहा। उनके लेख जितनी सूचनाओं से लैस होते, उनसे जितनी अद्यतन जानकारियां मिला करतीं और वे जितने सटीक नतीजों तक ले जानेवाले होते, उससे अक्सर मैं लगभग अभिभूत रहा करता। मुझे हैरानी होती थी कि दिल्ली से दूर इटारसी जैसी जगह पर रहते हुए वे इतनी सामग्री कहाँ से जुटाते हैं।

मुलाकात मेरी उनसे बहुत बाद में हुई। अक्सर ऐसा होता है कि जिन लोगों के बारे में हमने एक राय बना रखी होती है, उन्हें सामने देखकर या उनसे मिलकर पाते हैं कि यह आदमी तो काफी अलग किस्म का है। लेकिन सुनील के साथ ऐसा कतई नहीं हुआ। वे उतने ही सहज थे, जितनी मैंने कल्पना की थी, उतने ही सरल, जितनी मैंने उम्मीद की थी और उतने ही वैचारिक रूप से चौकस, जितने अपने लेखों और अपनी टिप्पणियों में दिखते थे। उनसे बातचीत करने का अपना एक सुख था। वे धीरे-धीरे संभलकर बोलते, जैसे एक-एक शब्द को तौल रहे हों, उसका महत्व समझ रहे हों। बहुत संतुलित ढंग से अपनी बात रखते, लेकिन इस मुलायमियत या मृदुता में कहीं कमजोर नहीं पड़ते। असहमति को भी वे उतनी ही सहजता से व्यक्त कर देते--और पूरी मजबूती के साथ। इसके अलावा वे दूसरों की बात बहुत ध्यान से सुनते। कई बार वे किसी मुद्दे पर प्रश्न पूछकर राय मांगते-- बस यह समझने के लिए कि इस विषय पर कितने ढंग से सोचा जा सकता है या सोचा जा रहा है।

मेरे उनसे लगभग नियमित संवाद की शुरुआत तब हुई, जब 'सामयिक वार्ता' का कामकाज उन्होंने संभाला। इसके अंकों की तैयारी करने से पहले शायद वे सबसे बात

करते थे--मेल के जरिए या फोन के जरिए। मेरे पास भी महीने में एक पत्र या फोन आ ही जाता। वे बड़ी सहजता से नए अंक के लिए सुझाव मांगते और यह पूछते कि मैं क्या लिख रहा हूँ। अक्सर यह सवाल मुझे कुछ परेशान कर जाता। जिस आपाधापी में जीवन जीने का अभ्यास बन गया है, उसमें पहले से सोचकर कुछ लिखने की आदत छूटी हुई है। किसी भी राय या सुझाव मांगनेवाले को, फौरन जो समझ में आए वह बोल देना, अब एक रणनीति से ज्यादा अभ्यास का हिस्सा है। लेकिन रणनीति हो या अभ्यास--सुनीलजी के सामने इसकी सीमाएं उजागर होने लगतीं। वे हर बात का बड़ी बारीकी से विश्लेषण करते और फिर सहजता से बोलते, 'सोचिएगा, और क्या हो सकता है'। इसी तरह वे अपनी ओर से विषय प्रस्तावित करते और उनको मान लेने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता था। ऐसा नहीं कि वे अपनी ही मनवाते रहते। कई बार अगर कोई बात उन्हें अच्छी लगती तो बिल्कुल खुश होकर उसकी तारीफ करते।

दुर्भाग्य से ऐसी बातचीत और बैठकों का सिलसिला लंबा नहीं चला। इत्तफाक बस यह है कि 'सामयिक वार्ता' को लेकर दिल्ली में जो आखिरी बैठक उन्होंने की, वह मेरे घर हुई थी। उसके पहले ऐसी बैठकें योगेंद्र यादव या सत्येंद्र रंजन के घर हो चुकी थीं। लेकिन मेरे घर बैठक रखने का प्रस्ताव उन्होंने ही दिया था। शायद उन्हें यह एहसास रहा हो कि मैं उनकी टीम में अब भी हाशिए का ही आदमी बना हुआ हूँ और ऐसी बैठक से मेरा दायित्व बोध कुछ और बढ़ेगा। या फिर यह भी हो सकता है कि पिछली कुछ मुलाकातों या बातचीत के सिलसिले से उन्होंने ऐसा आत्मीय अधिकार महसूस किया हो कि वे मुझे इस बैठक के लिए कह सकते थे। वजह जो भी हो, मुझे अच्छा लगा और फौरन मैंने हामी भर दी।

हालांकि उस बैठक में बहुत कम लोग उपस्थित हो पाए थे। वे दिल्ली में विधानसभा चुनाव की तैयारियों के दिन थे और योगेंद्रजी के आम आदमी पार्टी में शामिल होने के साथ-साथ इस टीम के बहुत सारे नौजवान चुनाव प्रचार में व्यस्त हो गए थे। उस बैठक में मेरे अलावा, सुनीलजी,

सत्येंद्र रंजन, अरुण त्रिपाठी और हरिमोहन मिश्र ही शामिल थे। अंक की तैयारी के अलावा बातचीत के ढेर सारे मुद्दे थे जिनमें दिल्ली विधानसभा चुनावों में आम आदमी पार्टी की तरफ से समाजवादी जन परिषद के साथियों की भागीदारी का सवाल भी शामिल था। इस मुद्दे पर हमारे बीच कुछ लोग ज्यादा उत्तेजित थे, कुछ कम, सबकी अपनी-अपनी राय थी। लेकिन इस मुद्दे पर भी सुनील बड़े संयम और संतुलन से अपनी बात रखते रहे। वे इस राजनीतिक प्रयोग की सीमाओं और संभावनाओं दोनों को लेकर सजग थे और कोई अंतिम राय बनाने से पहले इंतजार करने के पक्ष में थे।

उसी शाम उनको लौटना भी था। पहले तय हुआ कि वे खाना खाकर जाएंगे और फिर समय को देखते हुए तय हुआ कि खाना वे अपने साथ ले जाएं, ट्रेन में खाएं। वे सर्दियों की शुरुआत के दिन थे और उन्होंने अपने सामान के बीच से एक स्वेटर निकाला और पहन लिया। मेरी पत्नी स्मिता ने एक छोटे से डब्बे में उनके लिए रात का खाना पैक किया। उन्हें नई दिल्ली से ट्रेन पकड़नी थी—लेकिन यह समझ में आया कि अब जितनी देर हो चुकी है, उसमें शाम के समय कार से उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता है। मैंने उन्हें बताया कि वे मेट्रो से प्रगति मैदान उतरें और वहां से ऑटो करके स्टेशन पहुंचें। इससे ज्यादा शॉर्ट कट मुझे सूझा नहीं। बाद में फोन से तस्दीक की कि वे समय पर पहुंच गए और ट्रेन पकड़ने में कामयाब रहे।

यह बहुत संक्षिप्त सी मुलाकात थी—लेकिन इसका जिक्र इसलिए कर रहा हूँ कि इसमें शायद हमारे—उनके बीच आत्मीयता का तत्व सबसे ज्यादा था। उनकी साधारणता में एक अलग तरह की गरिमा थी, जिसने हम लोगों को मोहित किया था। वे बहुत सहज भाव से—बिल्कुल परिवार के सदस्य की तरह—सब कुछ ग्रहण कर रहे थे और जो गैरजरूरी लग रहा था, उसके लिए मना कर दे रहे थे। इसी दौरान की गपशप में उन्होंने बताया कि उनकी सेहत बिल्कुल दुरुस्त है और उनकी दिनचर्या अपने ढंग से सधी हुई है। उस दिन हममें से किसी को खयाल नहीं था कि यह आखिरी

मुलाकात है।

इसलिए जब अरुण त्रिपाठी ने फोन पर यह खबर दी कि बहुत गंभीर हालत में उन्हें दिल्ली लाया गया है, उस दिन मैं स्तब्ध रह गया। इन दिनों कोई शोक हमें आसानी से छूता नहीं है, हमारे दिलो-दिमाग पर इतनी सारी परतें होती हैं, इतने सारे दबाव होते हैं कि शोक को भी भीतर तक पहुंचने में समय लगता है। लेकिन सुनील के गंभीर होने की खबर ने तत्काल बिल्कुल भीतर तक हिला दिया। हम सबमें जो सबसे कम हासिल करना चाहता रहा और सबसे ज्यादा देने में लगा रहा, वह अचानक इस तरह चल देगा, इसकी कल्पना तक नहीं थी।

उस खबर के बाद मुझे सबसे पहले शिउली का खयाल आया। इत्तफाक से सामयिक वार्ता की ही एक बैठक के दौरान—जो सत्येंद्र रंजन के घर पर हुई थी—वह

अक्सर ऐसा होता है कि जिन लोगों के बारे में हमने एक राय बना रखी होती है, उन्हें सामने देखकर या उनसे मिलकर पाते हैं कि यह आदमी तो काफी अलग किस्म का है। लेकिन सुनील के साथ ऐसा कतई नहीं हुआ। वे उतने ही सहज थे, जितनी मैंने कल्पना की थी, उतने ही सरल, जितनी मैंने उम्मीद की थी और उतने ही वैचारिक रूप से चौकस, जितने अपने लेखों और अपनी टिप्पणियों में दिखते थे।

हमारे घर भी आ गई थी। उसे कुछ फोटोकॉपी चाहिए थी। उसने भी सहजता-सरलता अपने पिता वाली ही पाई है। स्मिता से मिलकर उसने बताया कि उसकी मां का नाम भी स्मिता है। बाद में जब दैनिक भास्कर में किसी फेलोशिप पर उसके जर्मनी जाने की खबर आई तो मैंने सुनीलजी को फोन किया था। वे खुश तो थे, लेकिन फिर बहुत ही संयत थे। शिउली के अलावा बाद में उनके बेटे से भी मिलना हुआ, लेकिन उस समय जब इस त्रासदी की छाया हम सबके ऊपर मंडरा रही थी। तभी मैंने यह फिर महसूस किया कि

बेटे-बेटी ने सरलता और दृढ़ता दोनों की विरासत सुनीलजी से हासिल की है। कहने को हमारा—उनका बस इतने का ही साथ था। लेकिन महसूस करने को इस साथ की उम्र और भी पुरानी है। मैं जैसे उनको न जाने कबसे जानता रहा होऊँ। फिर उनके जाने के बाद भी लगता है कि उनकी मौजूदगी के जो नैतिक और वैचारिक दबाव होते थे, वे बने हुए हैं। समाजवादी जीवन और विचार कैसा होना चाहिए—इसका वे मूर्त रूप रहे। हममें से बहुत सारे लोग उनकी तरह होना चाहते रहे होंगे—लेकिन यह हमारे व्यक्तित्व का अधूरापन है कि जैसे हो नहीं पाए।

समाजवाद का सपना लिए बढ़ते जाएंगे

सुधा भारद्वाज

सुनील भाई से मेरी सबसे पहली यादें उस समय की हैं, जब मैं अपनी मां कृष्णा भारद्वाज के साथ जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जनेवि) कैम्पस में रहा करती थी। सुनील भाई मेरी मां के निर्देशन में अर्थशास्त्र में पीएचडी का शोध कार्य कर रहे थे, लेकिन तब तक वे समाजवादी आंदोलन के प्रति पूरी तरह समर्पित हो चुके थे। एक दिन उनके पिताजी अम्मा से मिलने आए थे। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि अम्मा उन खादी कुर्ता पहने, गांव से आए, स्वाभिमानी पर चिंतित दिख रहे सज्जन को समझा रही थीं कि सुनील भाई बहुत होनहार छात्र हैं, अच्छे समाज शास्त्री बनने की क्षमता रखते हैं, पर शायद वे अकादमिक काम के लिए नहीं, समाज बदलने के लिए बने हैं। उसी काम में उन्हें जी-जान से जुटे रहने दीजिए। इस घटना का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा था। कुछ वर्षों बाद जब मैंने भी कुछ वैसा ही निर्णय लिया, तो अम्मा को यही बातें खुद को समझानी पड़ी होंगी।

जब मैं जन संगठन के साथ जुड़कर काम करने के अवसर ढूंढ रही थी, तो केसला भी पहुंची थी। सुनील भाई के एक तरफ प्रखर विचार और दूसरी ओर उनका सादगी-भरा, शांत, एकदम ठेठ ग्रामीण जीवन - उनकी शत प्रतिशत व्यक्तिगत प्रमाणिकता, आईने की तरह साफ दिखाई देती थी। चिमनी की रोशनी में उन्होंने खुद हमारे लिए चूल्हे में गोल-गोल फूली हुई रोटियां सेंकी थी। बाद में मैं छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के साथ जुड़ी, पर उनके प्रति हृदय में हमेशा सम्मान बना रहा।

सुनील भाई से हमारे वैचारिक मतभेद रहे, विशेषकर मजदूर वर्ग की भूमिका को लेकर, जो मार्क्सवादियों और समाजवादियों के बीच का चिर परिचित मुद्दा है। नियोगीजी का चुनाव के प्रति भी अलग और लचीला रवैया था-संगठन और संघर्ष को मजबूत करने के लिए उसके इस्तेमाल से उन्हें परहेज नहीं था, पर उससे वे व्यवस्था परिवर्तन की उम्मीद नहीं करते थे। जबकि समाजवादी जन परिषद के गठन के पीछे चुनावों के माध्यम से राजनैतिक हस्तक्षेप करने और समाजवादी अर्थनीति स्थापित करने की आशा

थी। रायपुर के शहीद नगर में एक बार 'लीजेंड ऑफ भगत सिंह' फिल्म देखने के बाद उन्होंने टिप्पणी की थी कि इसमें गांधी जी के साथ न्याय नहीं हुआ है।

मतभेद थे, परन्तु जो बड़ी समानता थी वह थी- पूंजीवाद के विरुद्ध समाजवाद का दृष्टिकोण। सुनील भाई ने इस दृष्टिकोण को बहुत गहराई तक आत्मसात किया था और वे उसी दृष्टि से शिक्षा, अर्थनीति, और समाज के तमाम पहलुओं को देखते, उनका विश्लेषण करते। बड़ी समानता थी बिना 'फंडिंग' के, जनता के बीच, राजनैतिक काम करना। मुक्ति मोर्चा के टूटन के बाद भी उन्होंने 'मजदूर कार्यकर्ता कमेटी' से ज्यादा दिन दूरी नहीं बनाई। परिस्थितियों को समझकर दोनों ही गुटों से आत्मीयता बनाए रखी। उनके आग्रह और प्रोत्साहन पर मैंने, लिखने की झिझक दूर कर, सामयिक वार्ता के लिए लिखा भी।

'नेटवर्किंग' के चालू तरीकों के विपरीत, उन्होंने 'जन संघर्ष मोर्चा' के रूप में मध्य प्रदेश के तमाम जन संगठनों के एक स्वैच्छिक भाईचारा के लिए अथक प्रयास किए। छत्तीसगढ़ के बनने के बाद भी, हम कई बार उनके द्वारा बैतूल और इटारसी में आयोजित कार्यकर्ता शिविरों में उपस्थित हुए, जिसमें कृषि की स्थिति जैसे जटिल विषयों पर चर्चा और तीखी राजनैतिक बहस हुआ करती। मोर्चा बार-बार बिखरता या निष्क्रिय हो जाता, पर उसकी बुनियादी एहमियत समझते हुए सुनील भाई बार-बार उसमें फिर जान फूंकते। जब-जब छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा पर कोई संकट आया, सुनील भाई ने हमेशा साथ दिया।

सुनील भाई से अंतिम मुलाकात कुछ ही दिनों पहले बिलासपुर में हुई थी। वे ओड़िशा से लौट रहे थे और रात को अमरकंटक एक्सप्रेस पकड़ने वाले थे। स्मिता दी भी साथ थी, बल्कि उनकी तबियत कुछ ढीली थी। पूरे वक्त सुनील भाई लंबे सफर के बावजूद, वहां मौजूद हमारे सभी कार्यकर्ता साथियों से जीवंत चर्चा में शामिल रहे। उनका कहना था कि ऐसे समय पर जब जनता पूंजीवाद के खतरे समझने लगी थी, तब आम आदमी पार्टी के वरिष्ठ नेताओं द्वारा 'पूंजीवाद और समाजवाद के बीच तटस्थ' होने की

घोषणा ने जन चेतना को पीछे धकेलने का काम किया है। हम भी इस बात से काफी हद तक सहमत थे। उस दिन सुनील भाई निराश नहीं दिखे, केवल नए सिरे से एक और ज्यादा कठिन लड़ाई के लिए तैयार दिखे।

आज भी सामंती संस्कृति में पले हमारे समाज में महिला कार्यकर्ताओं को काफी समस्याओं से जूझना पड़ता है। 'आधुनिक' नहीं दिखने वाले सुनील भाई, महिला कार्यकर्ताओं के साथ बहुत सहज समानता और आदर से पेश आते थे। उनसे हम सबको बहुत ताकत मिली। उनके

द्वारा इटारसी में आयोजित, जिस अंतिम कार्यक्रम में मैंने हिस्सा लिया था, उसमें शमीम (समाजवादी जन परिषद), माधुरी (जागृत आदिवासी दलित संगठन), जयश्री (आधारशिला शिक्षण केंद्र) भी वक्ता थे। चितरूपा (नर्मदा बचाओ आंदोलन) भी वक्ता थीं पर जल सत्याग्रह में व्यस्त रहने के कारण नहीं पहुंच पाई थीं। सुनील भाई ने ऐसे अनोखे आयोजन की कल्पना बड़ी सहजता से कर डाली और अपने पीछे वे दो बहुत मजबूत महिलाएं— जीवन साथी स्मिता दी और बेटी शिउली छोड़ जा रहे हैं।

क्या कहूं तुम्हें

विद्या जैन

केसला के समीप बांसलापुरा में लोहिया एकेडमी का स्वप्न संजोये हुए इटारसी का युवा राजनारायण निकला। समाजवादी विचारों का झंडा लेकर राजनारायण को वैचारिक रूप से तैयार करने का कार्य किया इटारसी के पुराने समाजवादी साथी प्रेमदास महोबिया ने, डॉ राममनोहर लोहिया की छोटी-छोटी पुस्तकें देकर। राजनारायण अपने माता-पिता, भाई के साथ बांसलापुरा में रहकर समाजवाद लाने दिशा में काम करने लगा। आदिवासियों का परिवार, उनकी समस्याएं राजनारायण की बन गईं।

इसी बीच यहां जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का मेधावी छात्र नेता सुनील राजनारायण का साथी बन गया और इस इस क्षेत्र में आकर रहने लगा। पूरे क्षेत्र में राजनारायण सुनील की जोड़ी प्रसिद्ध हो गई। इनके साथ ही सुरेंद्र झा अपने परिवार सहित, आलोकजी विदेश की नौकरी छोड़कर, यहां आ गए। अब लगने लगा था कि समाजवादियों का गढ़ होशंगाबाद जिला पुनः अपने पुराने स्वरूप में आ जाएगा। होशंगाबाद जिले में कई समाजवादी देश के स्वतंत्रता संग्राम के समय से हुए हैं। सुकुमार पगारे, नीतिराज सिंह, हरिविष्णु कामथ, प्रेमदास महोबिया और न जाने कितने ऐसे साथी थे।

राजनारायण और सुनील ने आदिवासियों की सैकड़ों लड़ाइयां लड़ी। केसला में नल लगाना इन्हीं की देन है। केसला के स्कूल में शिक्षकों की नियुक्ति की न्याय संगत मांग को लेकर आंदोलन करने पर सरकार ने दोनों को जेल भेज दिया। देश के कोने-कोने से समाजवादी नेता राजनारायण सुनील से मिलने आने लगे। वैसे जेल जाना सुनील-राजनारायण के लिए नया नहीं था। कई बार उन्हें न्याय की गुहार करते हुए जेल जाना पड़ा।

केसला के समीप बांसलापुरा में लोहिया एकेडमी का स्वप्न संजोये हुए इटारसी

इस बीच राजनारायण की आकस्मिक मृत्यु ने साथियों को झकझोर दिया। केसला से एकाध किलोमीटर दूर भूमकापुरा के आदिवासी सुनील को अपने यहां ले गए। सुनील की संगठन शक्ति बेजोड़ थी। तवा मत्स्य संघ बना, जिसने सरकार के घाटे की पोल खोलकर अत्याशित लाभ दिखाया। सुनील के आंदोलनों को लेकर सरकारें चिंतित होने लगीं। कांग्रेस सरकार के मंत्रियों, सांसदों के दौरे केसला में होने लगे। सुनील के आंदोलनों ने आदिवासियों में जागृति की लहर ला दी। सुनील से दीक्षित आदिवासी पुरुष अथवा महिलाएं किसी भी बड़े अधिकारी चाहे वह कलेक्टर हों कमिश्नर, आईजी या डीआईजी सभी से अपनी समस्याओं को लेकर बात करते हैं। मंत्रियों, विधायकों को उनके वायदे याद दिलाते हैं। फागराम यदि संसद में या विधानसभा में पहुंचता तो वह सबसे मुखर वक्ता होता। गुलियाबाई बड़ी बेबाकी से अपनी बात कहने का माद्दा रखती हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं।

मेरा सुनील के केसला में आने के साथ ही संपर्क बना। राजनारायण और सुनील से सदैव जीवंत संपर्क मेरा रहा। सुनील की चेहरे की गंभीरता लेकिन मुस्कराकर मिलना कैसे भुलाया जा सकता है? किसी को भी अपना बना लेने की अद्भुत क्षमता सुनील में थी। एक बार सुनील के दोनों बच्चे बीमार थे। मैं भूमकापुरा सुनील के यहां कुछ फल, चाय, शक्कर लेकर गई। सुनील ने बड़ी कठिनाई से फल रखे। चाय-शक्कर का उपयोग स्वयं न कर संगठन की मीटिंग में किया। सुनील की सादगी की चर्चा साथियों में होती रहती थी। ओमप्रकाश रावल ने मुझसे कहा था कि क्या सुनील जैसे लड़के अब भी पैदा होते हैं।

सुनील का अध्ययन और ज्ञान इतना अधिक था कि मुझे लगता है कि सुनील के अध्ययनशील व परिश्रमी युवा पीढ़ी में शायद ही कोई मिले। सुनील की स्मृति को और उसके जन्मांतों को सलाम।

संकल्प मजबूत करती मुलाकातें

आलोक अग्रवाल

लोक सभा चुनाव के दौरान खंडवा की रैली के बाद हम बुरहानपुर जा रहे थे कि रास्ते में संदेश मिला, सुनीलजी नहीं रहे। मेरे आंसू बहने लगे। मेरे पास प्रशांत भूषणजी और अब्दुल जब्बार भाई बैठे थे। जब मैंने सुनील भाई के बारे में उन्हें बताया, तो प्रशांतजी ने अनायास ही पूछा कितने वर्षों से तुम्हारी पहचान थी उनसे? मैंने बताया 25 साल से, जबसे मैंने अपना सार्वजनिक जीवन शुरू किया था।

25 साल पहले, अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद एक साल मैं अलग-अलग संगठनों में जाकर अनुभव ले रहा था। उसी दौरान मैं केसला भी कुछ दिनों के लिए गया। वहां पहुंचने पर पता चला कि सुनील भाई और साथी राजनारायण जेल में हैं और इसके विरोध में केसला से होशंगाबाद की पदयात्रा है। मैं भी पदयात्रा में शामिल हुआ। वह पहली बार था, जब मेरा सुनील भाई और उनके कार्य से परिचय हुआ। पिछले 25 वर्षों में अनेक बार केसला जाना हुआ और तमाम संघर्षों में हम साथ रहे। मध्य प्रदेश में हम सबने सभी जन संगठनों को साथ लेकर पहले अनौपचारिक रूप से और बाद में 'जन संघर्ष मोर्चा' के रूप में अनेक मुद्दों पर सामूहिक रूप में कार्य व संघर्ष किया।

सुनील भाई की सबसे बड़ी विशेषता थी- उनकी वैचारिक स्पष्टता, समझ, और उसका निष्ठा से पालन। 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धांत को उन्होंने पूरी तरह अपने जीवन में उतारा। दिल्ली के प्रतिष्ठित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद सुनील भाई और स्मिताजी ने केसला के पास भुमकापुरा गांव में एक सामान्य झोपड़ी में सारा जीवन बिताया। उन्होंने अपने बच्चों की पढ़ाई भी गांव के स्कूल में करवाई। जब भी उनके घर गए तो चूल्हे के पास बैठकर भोजन, उनके जमीन से जुड़े होने के अहसास को और पक्का कर देता और हमारे संकल्पों को मजबूती देता।

दूसरी बड़ी बात उनकी सरलता थी। वे बैठकों/संघर्ष के कार्यक्रमों में हमेशा ही बहुत सरलता से पेश आते। इसके

साथ ही कभी उनमें नाम या पद की इच्छा की झलक भी न मिली। एक अन्य विशेषता सुनील भाई की थी कि सामयिक मुद्दों पर, वह राष्ट्रमंडल खेल घोटाला हो या किसानों की आत्महत्या या कोई भी अन्य मुद्दा, तत्काल ही गहन अध्ययन कर, वे एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित कर देते थे। जो हम सबके और ग्रामीण क्षेत्र के कार्यकर्ताओं की समझ के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती। हर समय अपने झोले में वह इन पुस्तकों को रखते ताकि किसी को भी सहजता से उपलब्ध हो सके।

एक वाकया याद आ रहा है। जनवरी 2001 में इंग्लैंड की विकास मंत्री क्लेयर शोर्ट वर्ल्ड बैंक और एशियाई विकास बैंक के प्रतिनिधियों के साथ बैठक के लिए भोपाल आई। तब जन संघर्ष मोर्चा के तहत अनेक संगठनों ने प्रदर्शन कर वर्ल्ड बैंक और एशियाई विकास बैंक की नीतियों का विरोध किया तो हम सबको भोपाल जेल में डाल दिया गया। दो दिन मंत्री महोदया भोपाल में रहीं और हम सब जेल में। जेल में मैंने सुनील भाई से पूछा क्या किया जाए तो वह बोले चलो कैदियों के साथ शिविर कर लेते हैं। हमने सब कैदियों को इक्कठा किया, उनकी दास्तान सुनी और उन्हें अपने संघर्षों के बारे में बताया। दो दिन तक यह शिविर चलता रहा।

सुनील भाई से अंतिम मुलाकात जनवरी के शुरुआत में हुई थी जब हमने आम आदमी पार्टी में शामिल होने का निर्णय लिया। जन संघर्ष मोर्चा के कुछ साथी इक्कठा हुए थे। सुनील भाई वर्षों से हमसे कहते आए थे कि हमें चुनावी राजनीति में भाग लेना चाहिए। उन्हें जब हमारे 'आप' में शामिल होने का पता चला तो उन्होंने बधाई दी। फिर हमारी चुनावी भाग-दौड़ चालू हो गयी।

मृत्यु जीवन की पूर्णता है और सुनिश्चित है। हमारा सौभाग्य है कि हमें सुनील भाई जैसे व्यक्ति का सानिध्य मिला और हमारे समाज का सौभाग्य है कि उनके जैसे व्यक्ति के वर्षों का कार्य समाज को प्राप्त हुआ। सुनील भाई का जीवन व विचार हम जैसे सैकड़ों लोगों के दिल पर अंकित है और वो हमें दिशा, दृष्टि व रोशनी देते रहेंगे।

आधार-स्तंभ

इलीना सेन

सुनील भाई का जाना अभी भी विश्वास नहीं होता। मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के इलाके में, जो कि हमारा भी कार्यक्षेत्र था, सुनील भाई उन चंद आधार-स्तंभों में थे जिनकी गिनती जनपक्षीय आवाज उठानेवाले मजबूत खंभों में होती थी। आज उन आधार-स्तंभों में से कई जा चुके हैं- हर एक का जाना अपने पीछे बनती खाई को और गहरा करता गया है।

सुनील से हमारी पहली पहचान 1978-79 के आसपास हुई थी। विनायक (सेन) होशंगाबाद के करीब रसूलिया गांव में एक स्वास्थ्य केंद्र में काम कर रहे थे। मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय और होशंगाबाद (घर + शोध कार्यक्षेत्र) के बीच आना-जाना करती रहती थी। जनेवि के अर्थशास्त्र विभाग के कुछ अध्यापकों की अगुवाई में छात्र-छात्राओं का एक दल होशंगाबाद आया था। इस छात्र-दल में सुनील, तब एम ए के छात्र आए हुए थे। दिनभर ग्रामीण क्षेत्र भ्रमण और कार्यकर्ताओं से चर्चा के बाद सुनील एक अच्छी खासी बहस में उलझ गए। ग्रामीण क्षेत्र की स्थिति को वह अच्छी तरह से जानते और समझते थे, इस अध्ययन 'टूर' के बिना ही। जो बात उनके गले नहीं उतरी वह थी कि गांव में काम करने के लिए रसूलिया के कार्यकर्ताओं को 1000 रुपए प्रतिमाह वेतन लेने की क्या जरूरत है। उनका हिसाब साफ था- यदि आप गांव में गरीबों के बीच काम करना चाहते हैं तो आपको उनके बीच उनके जैसा रहना पड़ेगा, नहीं तो आप उनसे रिश्ता नहीं बना पाएंगे। बहस लंबी चली। रसूलिया के कार्यकर्ताओं ने यह समझाने की भरसक कोशिश की कि वे सब यहां अपनी जरूरतों को कम करके 'न्यूनतम' स्तर पर जीवन-निर्वाह का प्रयास कर रहे हैं। अपने परिवारों की सामान्य जरूरतों को 1000 रुपए माह में समेटने में उन्हें परेशानी होती है। लेकिन सुनील टस से मस नहीं हुए। अपनी जिद पर अड़े रहे कि हम जनता के बीच उन्हीं के जैसे होकर- रहकर ही काम कर सकते हैं। उस रात की बहस को हमने कई बार बाद में याद किया, जब नब्बे के दशक के बाद फलता-फूलता

एनजीओ सेक्टर और उसके 'पेशेवर' कार्यकर्ता देश भर में छा गए।

सुनील, राजनारायण, स्मिता ने जब केसला में काम करना शुरू किया तब तवा बांध विस्थापित आदिवासियों का दुख-दर्द उनके चारों ओर था। बांध निर्मित जलाशय में मछली पालन का ठेका दिया जाने लगा तो बड़े-बड़े ठेकेदार उस पर टूट पड़े। केसला के साथियों ने समझाने की कोशिश की जमीन और आजीविका खोनेवाले आदिवासी परिवारों का जलाशय पर पहला हक है। छत्तीसगढ़ में हम लोगों ने दिल्ली राजहरा के खदान मजदूरों द्वारा रचित संघर्ष और निर्माण की दुनिया को देखा था, उस दुनिया के ढलते दिनों में तवा बांध विस्थापितों के संघर्ष ने एक बार फिर संभावनाओं का द्वार सबके लिए खोल दिया था।

हाल के वर्षों में खुद की व्यस्तताओं के कारण हमारा होशंगाबाद-केसला जाना कम हो गया था। सुनील भाई कभी थोड़े समय के लिए बैठकों में या दोस्तों के यहां मिलते। अफसोस है कि पिछले कई सालों में इतमीनान से मिलना नहीं हुआ और अब कभी नहीं होगा। आज हम सुनील भाई को याद करते हैं एक ऐसे साथी के रूप में जिनने विकराल स्थितियों में भी समाजवाद का अपना सपना जिंदा रखा और इसे मूर्त रूप देने की कोशिश की। इस कोशिश में उन्हें सत्ता का किसी प्रकार का लोभ हिला नहीं सका। चुनावी प्रक्रिया की 'फास्ट ट्रैक' उपलब्धि के स्थान पर वे हमेशा सामाजिक ढांचे और रिश्तों में मौलिक परिवर्तन के पक्षधर रहे, क्योंकि वे इन्हीं को समाजवाद की नींव मानते थे। उनके जैसा साथी हमें लंबे समय तक नहीं मिलेगा।

मध्य भारत की संघर्षशील जनता के पिछले तीस सालों में बहुत कुछ पाया और बहुत कुछ खोया है। शंकर गुहा नियोगी, किशन पटनायक, सुनील, राजनारायण, दिल्ली राजहरा और भिलाई के शहीद-इन सबके लिए हम रोते हैं और इन सबकी सीख, रचना और व्यक्तित्व को याद कर हमेशा हमारा सीना चौड़ा हो जाता है।

तय करो किस ओर हो तुम

प्रशांत दुबे

‘विकास के दो पक्ष हैं, एक विकास से फायदा लेने वाले लोगों का और दूसरा विकास की भेंट चढ़ रहे लोगों का। यह आपको तय करना है कि आप कैसे देखेंगे विकास को।’
केसला मीडिया संवाद-2013 में सुनील भाई

मुझे ठीक-ठीक तो याद नहीं लेकिन यह शायद 1995 की बात थी। हम अपने गांव (शोभापुर, जिला-होशंगाबाद) में क्रिकेट खेल रहे थे। बस स्टैंड की ओर से एक इकहरे बदन के कूर्ता, पायजामा पहने व्यक्ति ने हमसे राजा साहब के घर का पता पूछा। मैंने उन्हें राजा साहब के घर तक छोड़ा। रास्ते में थोड़ी सी बातचीत हुई। उस समय तक हम लोगों ने क्षेत्रीय युवा संगठन की स्थापना कर ली थी। उस संक्षिप्त बातचीत में उन्होंने उस संगठन के कामकाज के विषय में पूछा। उस समय तक न तो संगठन ने ही अपनी दिशा तय की थी और न ही मैंने व्यक्तिगत तौर पर कुछ पढ़ा-लिखा था। मैंने तपाक से कहा कि हम तो नेत्र शिविर लगवाते हैं। उन्होंने पूछा वैचारिक स्तर पर क्या सोच है, मैंने कहा कुछ नहीं। राजा साहब का घर आ गया था तो हमने उन्हें छोड़ा और नमस्ते की। सुनील भाई से यह मेरी पहली मुलाकात थी।

पढ़ाई खत्म करके पत्रकारिता में कदम रखने के बाद वर्ष 2000 में उनसे फिर मुलाकात हुई। भोपाल चूंकि सामाजिक आन्दोलनों के लिए महत्वपूर्ण गतिविधियों का केंद्र था और सामाजिक क्षेत्र में काम करने के कारण फिर यह मुलाकात आम होती गई। 2001 में उन्होंने एक किताब पढ़ने को दी लेकिन उसके पैसे भी बता दिए। पैसे तो दे दिए पर यह लगा कि यह व्यक्ति तो अपनी किताबें ही बेचता रहता है। वह किशन पटनायक जी के लेखों का संग्रह था। बहरहाल समाजवाद में ज्यादा दिलचस्पी थी नहीं, तो बेमन से पढ़ना शुरू किया पर मन से रखा उस किताब को। बहुत बाद में समझ में आया कि यह किताबें नहीं आंदोलन हैं।

2004 के लोकसभा चुनाव में मैं अपने गांव गया था, उस समय तक बहुत ज्यादा झुकाव बीजेपी की तरफ था। शनिवार को (बाजार के दिन) मैंने, अपनी जीप पर खड़े, हाथ में चुंगा माइक लिए एक प्रत्याशी को भाषण देते सुना था। उस भाषण ने सुनील भाई को लेकर मेरी राय बिल्कुल बदल दी। उन्होंने तत्कालीन आर्थिक परिदृश्य, एलपीजी युग से बात शुरू कर हमारे गांव के बाजार में तेल-नमक-मसाला बेच रहे व्यक्ति तक की पूरी बात सरल रूप में कही थी। यह भाषण लगभग एक घंटे का था और वे अकेले बोले जा रहे थे। मैंने पूरा भाषण सुना और उनसे मिला भी। उन्होंने मुझसे हमारे संगठन के साथियों के साथ बैठने का आग्रह भी किया। कोशिश की, पर वो बातचीत सफल नहीं हो पाई। पर उनके उस भाषण ने मुझे इतना प्रभावित किया था कि उस चुनाव में मैंने उन्हें ही वोट दिया। पर भारतीय राजनीति का जो हाल है वह कमोबेश यहां भी रहा। यहां भी नमक बेचनेवाला व्यक्ति यह तो जानता है कि वे उनके हक की बात कर रहे हैं, पर यह बात वोट में बदलती नहीं। सुनील भाई चुनाव हार गए।

इसके बाद तो जैसे-तैसे जब सुनील भाई के विषय में बातें पता चलती गईं तो निश्चित रूप से लगता कि हम गांधी को ही तो देख रहे हैं। उनका शिक्षण-प्रशिक्षण, उनका रहन-सहन, पहनावा, खान-पान जितना सरल उसके ठीक विपरीत विचारों में उतनी ही दृढ़ता। एक जीवट व्यक्तित्व। बाद में पता चला कि जनेवि में भी लोग उन्हें यही कहते थे।

उनकी लिखी पतली किताबें, जो कि लगभग विषम (3 रू./5 रू.) अंकों के मूल्य की हुआ करती थीं बहुत ही पैनी धार और साफ दृष्टिकोण के साथ वंचित तबके का प्रतिनिधित्व करती हुई मिलीं। उनकी इस कम कीमत की किताब का मूल्य चुकाने में भी कई बार हमारे साथियों को

*हम कहते हैं कि सुनील भाई ने विचार
दिए, स्पष्टता दी, बौद्धिकता दी,
वैचारिक दृढ़ता दी, फागराम दिया,
हौसला दिया और जिले को पहचान
दी। उन्होंने समाजवाद की संभावना
को जीवित रखा।*



लगा कि इनका क्या मूल्य दिया जाए? यह ठीक कैसे ही जैसे सूचना के अधिकार विषय पर प्रशिक्षण देते समय प्रतिभागियों को हम जब आवेदन शुल्क के विषय में बताते हैं तो उनके माथे पर बल आ जाते हैं कि अब इसके लिए भी शुल्क लगेगा? लेकिन इस मामूली से शुल्क को चुकाकर वह इस पूरे तंत्र का हिस्सा बन जाता है और जवाब देहिता तय करता है। वैसे ही सुनील भाई की किताबों के मूल्य को चुकाकर हम अपने आसपास घटित हो रहे घटनाक्रम को उनकी नजर से समझ सकते थे, भांप सकते थे। शायद, वे मित्र भी सही ही थे वो किताबें अमूल्य ही थीं और हैं। कई मौकों पर यह हुआ भी कि उन्होंने जो कहा वह शब्दशः सच साबित हुआ। उन्होंने हमें सोने/चांदी से लेकर पानी तक सभी मुद्दों पर अपनी पैनी नजर से चेताया है।

‘पचमढ़ी मीडिया संवाद-2012’ के लिए हमारा उनसे विशेष आग्रह था कि वे भूमण्डलीकरण को वंचित तबके के संदर्भ में हमारे पत्रकार मित्रों के बीच रखें। सुनील भाई तैयार हुए और कहा दिल्ली में हूं, यहीं से सीधा पिपरिया आकर, पचमढ़ी आ जाऊंगा। गोपाल भाई (गांगुड़ा) से पता चला कि सुनील भाई अपने एक ऑपरेशन के लिए दिल्ली में हैं। उन्होंने अपनी किडनी अपने भाई को दी है इसी का जटिल ऑपरेशन है। यह सुनकर हमने आग्रह किया कि अब आप मत आईये और अपने स्वास्थ्य पर ध्यान दीजिए, भूमंडलीकरण पर चर्चा फिर हो जाएगी। उन्होंने कहा कि इतने सारे पत्रकारों को हम इस महत्वपूर्ण

मसले पर यदि अभी जानकारी नहीं दे पाये तो और देर हो जाएगी। वे जाकर अपने-अपने अखबार में इस पर लिखते रहेंगे तो हमारी फौज तैयार हो जाएगी। अपने मर्ज की चिंता न करते हुए इस तरह की बात शायद सुनील भाई ही कर सकते थे। हालांकि बहुत मान मनुव्ल के बाद वे मान गए और नहीं आए।

‘केसला मीडिया संवाद 2013’ के दौरान उन्होंने अर्थनीति और उसके आयाम पर जो बात रखी, वह वहां मौजूद 90 पत्रकारों के दिमाग में शब्दशः उतरी होगी। पीपुल्स समाचार में छपे मेरे लेखों पर उनकी स्नेह भरी डांट मिलती रही। सामयिक वार्ता में लिखने के अरमान थे और जब यह पत्रिका इटारसी से निकलने लगी, तो लगा कि अब तो सुनील भाई को आलेख भिजाकर आसानी से छपवा सकते हैं। मैं गलत था। मैंने सामयिक वार्ता के लिए कई बार आलेख भिजाए, पर वे हर बार समालोचना के साथ वापस मिले। सुनील भाई और टीम ने इस पत्रिका के जो मापदंड स्थापित कर दिए हैं, वह बहुत ही उच्च कोटि के हैं। यहां से मुझे लगा कि उनका स्नेह अपनी जगह है लेकिन गुणवत्ता से कोई समझौता वे नहीं करते हैं और न ही करेंगे।

इसी संवाद के लिए मैंने उनके साथी फागराम को भी न्यौता देने के लिए कहा। उन्होंने बहुत ही साफगोई से कहा कि फागराम हमारे साथी हैं, लेकिन वे स्थानीय नेता हैं और उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। आपको उन्हें आमंत्रित करना है तो आप स्वयं बात करें। हम सभी जानते हैं कि फागराम भाई जैसे साथी किस आंदोलन की बदौलत निकले हैं। लेकिन अपने साथियों के विषय में और स्थानीय नेतृत्व को इस तरह की तवज्जो सिर्फ वे ही दे सकते थे।

अब सुनील भाई हमारे बीच नहीं हैं। अब हैं तो उनके विचार, उनकी और उनके जीवन की झलक पुस्तिकाएं कई बार लोग कहते हैं कि सुनील भाई ने क्या दिया? हम कहते हैं कि सुनील भाई ने विचार दिए, स्पष्टता दी, बौद्धिकता दी, वैचारिक दृढ़ता दी, फागराम दिया, हौसला दिया और जिले को पहचान दी। उन्होंने समाजवाद की संभावना को जीवित रखा।

हम लोग अक्सर अपनी औपचारिक चर्चा में अपने जिले का बखान करते हुए कहते रहे हैं हम न समाजवादी हैं, न पूंजीवादी हैं, हम होशंगाबादी हैं। सुनील भाई से परिचय के बाद से हम यह कहने का साहस न कर पाए कि हम केवल होशंगाबादी हैं। हम यही कहते रहे और कहेंगे कि हम वो होशंगाबादी हैं, जहां एक खांटी समाजवादी रहता था।

जनेवि में हिंदी

जगदीश्वर चतुर्वेदी

सुनील के अकस्मात हमारे बीच से चले जाने की खबर फेसबुक पर पढ़ी। बेहद दुख हुआ। मैं सुनील को तब से जानता हूँ जब वह जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जनेवि) में पढ़ने आए थे। हम दोनों सतलज हॉस्टल में रहते थे। रोज का मिलना और तरह-तरह के विषयों पर बातचीत करना हमारी आदत बन गई थी। सुनील मेरे साथ 1980-81 में छात्रसंघ में कौंसलर रहे। सुनील के जीवन का हिंदी प्रेम मुझे बेहद अपील करता था साथ ही उनकी सादगी को मैं मन ही मन सराहता था और उनको अनेक बार कहता भी था कि आपके समाजवादी विचार और सादगी को हर नागरिक को सीखना चाहिए। सुनील अपने समाजवादी आदर्शों और गरीबों के लिए काम करने की प्रतिबद्धता के लिए हम सभी मित्रों में सम्मान की नजर से देखे जाते थे। शानदार अकादमिक रिकॉर्ड के बावजूद सुनील ने गरीबों की सेवा करने का फैसला करके युवाओं में मिसाल कायम की थी और उनका यह त्याग हम लोगों में ईर्ष्या की चीज था। सुनील से मेरी लंबे समय से मुलाकात नहीं हो पाई लेकिन मैं उनके लिखे को खोजकर पढ़ता रहा हूँ। सुनील जब जनेवि में आए तो उस समय उसका कैंपस बदल रहा था। जनेवि कैंपस में जो कुछ होता था वह भारत के किसी भी विश्वविद्यालय से मेल नहीं खाता था। 1978-79 से कैंपस ने नई अंगड़ाई लेनी शुरू की और देश के छात्र आंदोलन की बयार यहां पर भी आने लगी। देश में जो घट रहा था उसकी अभिव्यक्ति कैंपस में होने लगी तो लोग कहने लगे अब जनेवि कैंपस देश की मुख्यधारा से जुड़ गया है।

कैंपस में आरक्षण, अल्पसंख्यक, दलित राजनीति, जातिवाद, सांप्रदायिकता आदि प्रवृत्तियों का असर दिखने लगा। इससे कैंपस में नए किस्म की अस्मिता राजनीति का दौर शुरू हुआ। यही वह परिवेश था जिसमें छात्र राजनीति में नया छात्र समीकरण बनकर सामने आया। पहली बार यह देखा गया कि समाज विज्ञान (सोशियोलॉजी) विभाग में एक ही जाति भूमिहार के छात्रों के दाखिले हुए और बड़े पैमाने पर उसके खिलाफ आंदोलन हुआ और उस आंदोलन में फ्री-थिंकरों और एसएफआई (माकपा का छात्र संगठन)

की बड़ी भूमिका थी। यह संयोग की बात थी कि उस समय हमारे समाजवादी मित्रगण जातिवादी दाखिले के पक्ष में खड़े दिखाई दिए। समाजवादियों और फ्री-थिंकरों (एक स्वतंत्र छात्र संगठन) का गठबंधन हुआ करता था, वह टूट गया। यही वह परिवेश था जिसमें नए सिरे से समाजवादी युवजनसभा ने अपने को संगठित किया। जनेवि कैंपस में सुनील समाजवादी युवजन सभा के नेता थे और सभी छात्र उनका सम्मान करते थे। वह पढ़ने में बेहतरीन थे और हिन्दी के अनन्य भक्त। वह मुख्यभाषा के रूप में हिन्दी का अपने भाषणों में इस्तेमाल करते थे।

सन् 1980-81 में मैंने एसएफआई के पैनल से कौंसलर का चुनाव लड़ा था। उस समय तक छात्रसंघ चुनाव में यह परंपरा थी कि एसएफआई पैनल में मुख्य वक्ता के रूप में पदाधिकारी उम्मीदवार ही बोला करते थे। साथ में अतिथि नेता बोलते थे। सभी अंगरेजी में बोलते थे। यहां तक कि समाजवादी नेता भी अंगरेजी-हिन्दी मिलाकर बोलते थे। मसलन यदि मीटिंग 3 घंटे चली तो मुश्किल से 15-20 मिनट समय हिन्दी को मिल पाता था। मैं निजी तौर पर इस स्थिति से बेहद दुखी था और तय कर चुका था कि हिन्दी को भाषण की मुख्य भाषा बनाना होगा।

मैंने एसएफआई की मीटिंग में यह प्रस्ताव रखा कि मुख्य वक्ताओं के साथ मैं हिन्दी में बोलूंगा। मेरा मानना था कैम्पस में हिन्दी को मुख्य भाषण भाषा बनना है तो एसएफआई को इसकी जिम्मेदारी लेनी होगी। कैंपस की राजनीति में हिन्दी उस समय अस्तित्वहीन थी। उन दिनों हिन्दी वहां सिर्फ भारतीय भाषा संस्थान (हिन्दी-उर्दू दो ही भाषाएं इसमें थीं) की भाषा थी। समाजवादी हिन्दी के पक्षधर थे लेकिन वे अंग्रेजीदा फ्री-थिंकरों के मित्र थे, इस कारण फ्री-थिंकरों और समाजवादियों के संयुक्त मोर्चे में अंगरेजी का वर्चस्व हुआ करता था।

हिन्दी के लिहाज से 1980-81 का छात्रसंघ का चुनाव बेहद महत्वपूर्ण था। इस बार के चुनाव की पहली मीटिंग पेरियार हॉस्टल में हुई, उसमें मुख्य वक्ता थे प्रकाशकरात, सीताराम येचुरी, डी.रघुनंदन, अनिल चौधरी और अध्यक्ष

पद के प्रत्याशी, वी.भास्कर और जगदीश्वर चतुर्वेदी। मेरे अलावा सभी ने अंगरेजी में बेहतरीन भाषण दिए थे। यह पहली बार था कि कोई वक्ता पूरे समय हिन्दी में एसएफआई के मंच से लगभग 40-50 मिनट बोला हो। इस भाषण का असर यह हुआ कि एसएफआई ने तय किया कि मैं प्रत्येक चुनावसभा में भाषण दूँ। उस रात पहली बार जब मैं भाषण देकर छात्रावास आया तो सुनील ने गर्मजोशी के साथ मेरे भाषण की प्रशंसा की और कहा कि आपने तो एसएफआई को ही बदल दिया। यह भी कहा आप हमारे साथ होते तो और भी मजा आता। लेकिन यह हिन्दी की शुरुआत थी। मैंने उस समय सुनील से कहा कि आप हिन्दी को कैम्पस में लाना चाहते हैं तो जिद करके भाषण दें, लोगों को हिन्दी सुनने को मजबूर करें। वह मेरे इस सुझाव से सहमत थे। मेरे और सुनील या अन्य किसी छात्रनेता में एक बुनियादी अंतर यह था कि वे सब बहुभाषी वक्ता थे। मुझे याद है कि पहली चुनावसभा के तत्काल बाद कैम्पस के नीलगिरि ढाबे पर समाजवादी छात्रनेता दिग्विजय सिंह ने कहा था 'तुम यह बताओ तुमने पार्टी को राजी कैसे किया?' मैंने कहा, "दादा कैम्पस बदल रहा है। भविष्य की मुख्य भाषण-भाषा यहाँ हिन्दी ही होगी"। इस संस्मरण को बताने का एक बड़ा कारण यह है कि जनेवि में सुनील जब आए तो परिवेश बदल रहा था और अंगरेजी का वर्चस्व टूट रहा था। यही वह परिवेश था जिसमें समाजवादी युवजन सभा ताकतवर संगठन के रूप में उभरी। हिन्दीभाषी छात्र अपने को समाजवादी युवजन सभा के माध्यम से प्रतिष्ठित होते देख रहे थे। इस चुनाव में सुनील और मैं दोनों कौंसलर बने और दोनों हिन्दी में बोलकर चुनाव जीते। देखते ही देखते सुनील और उनके साथियों की मेहनत रंग लाई और 1982-83 में समाजवादी युवजनसभा समूचा चुनाव जीत गई, नलिनीरंजन मोहन्ती (समाजवादी युवजन सभा) छात्रसंघ के अध्यक्ष चुने गए। वे सिर्फ अंगरेजी ही बोल सकते थे। यह आश्चर्य की बात थी कि जो समाजवादी हिन्दी की हिमायत करते थे उनका उम्मीदवार ऐसा व्यक्ति था जो हिन्दी नहीं बोलता था। खैर, यह अनुभव कई मायनों में मूल्यवान था। उसमें सुनील के साथ-साथ समाजवादी मित्रों के राजनीतिक मनोभावों को जानने-समझने का मौका मिला।

इस अनुभव का सबक यह मिला कि सुनील और उनके साथ के समाजवादी मित्र हठी लोग हैं। कैम्पस में प्रतिबद्ध राजनीति थी और उसके अनेक मानक देखे गए लेकिन समाजवादी राजनीति में प्रतिबद्धता के साथ हठीभाव

भी था। इसने कैम्पस में अतिवादी रुझानों को जन्म दिया। संघर्ष होते थे लेकिन समझौते नहीं हो पाए। राजनीति में एक खास किस्म की कट्टरता का जन्म हुआ और उसने समूचे कैम्पस के चरित्र को ही बदल दिया।

प्रतिबद्ध राजनीति में छात्रों की मांगें होती हैं, उनके लिए संघर्ष होता है, लेकिन अधिकारियों के साथ संवाद और समझौते का रास्ता खुला रखना पड़ता है। सुनील के कैम्पस में आने के पहले समाजवादियों में वैचारिक लचीलापन था जो सुनील के सक्रिय होने के बाद खत्म हो गया। सुनील की लीडरशिप का यह कमाल था कि समाजवादी पहली बार छात्रसंघ का चुनाव जीते और लड़कू भाव से राजनीति की कैम्पस में शुरुआत हुई। कैम्पस में समाजवादी हठवाद का श्रीगणेश हुआ और इसका परिणाम कैम्पस और स्वयं समाजवादी युवजन सभा के लिए आत्मघाती साबित हुआ। समाजवादी युवजन सभा जिस लहर के साथ उभरकर सामने आई वह मात्र 1982-83 के एक साल के छात्रसंघ की लीडरशिप के दौरान हाशिए पर चली गई।

समाजवादी हठवाद का यह लक्षण है कि जो मानते हैं उसे हूबहू लागू करेंगे चाहे जो हो। इस समझ के कारण समूचे हिन्दीभाषी क्षेत्र में समाजवादी तूफान की तरह आए और फिर उसी तरह भुला दिए गए। सन् 1983 में किसी समस्या पर विवाद यह था कि प्रतिवाद करना है और उपकुलपति का घेराव करना है। हमारा (एसएफआई) प्रस्ताव यह था कि घेराव करो लेकिन आफिस में करो। समाजवादियों का कहना था घर पर घेराव करेंगे। हमने इसका प्रतिवाद किया लेकिन वे नहीं माने, छात्रों ने उनका समर्थन किया परिणाम सामने था, समूचा छात्र आंदोलन दमन के जरिए तोड़ दिया गया। सैंकड़ों छात्र निष्कासित हुए और सैंकड़ों छात्रों पर 18 से ज्यादा धाराओं में मुकदमे ठोक दिए गए। 400 से ज्यादा छात्र 15 दिनों तक तिहाड़ जेल में बंद रहे। समूचा समाजवादी नेतृत्व छात्रों में अलग-थलग पड़ गया।

समाजवादी हठ एक तरह की वैचारिक कट्टरता है जिसको सुनील ने अपनी सादगी, त्याग और ईमानदारी के जरिए आकर्षक बना दिया। बाद में वह गरीबों के बीच में काम करने कैम्पस के बाहर मध्य प्रदेश में चले गए। मेरा निजी तौर पर उनसे कैम्पस में नियमित संपर्क था, लेकिन उनके कैम्पस के बाहर जाने के बाद कोई संपर्क नहीं रहा। इसका प्रधान दोषी मैं ही हूँ। मैं उतना मिलनसार नहीं हूँ। कम मिलता-जुलता हूँ जबकि सुनील जमीनी कार्यकर्ता होने के नाते मिलनसारिता में वेमिसाल था।

पिछड़ेपन के पक्षधर जनेवि में

अफलातून

शिक्षण की दुनिया पूरी व्यवस्था की एक उप-व्यवस्था है। व्यवस्था में मौजूद वर्चस्व और विषमताओं का प्रतिबिम्ब आप इस उप-व्यवस्था में भी पाएंगे। हर जमाने की शिक्षा व्यवस्था उस जमाने के सत्ता-संतुलन को टिकाए रखने के लिए जरूरी लोगों को सोपान-दर-सोपान छानने का काम भी करती है। यह प्रक्रिया अभिजात्यीकरण के नाम से जानी जाती है। इस प्रकार अभिजात्यीकरण का प्रमुख उद्देश्य यथास्थिति को टिकाए रखना होता है। आजादी मिलने के बाद विश्वविद्यालयों के कुलपति बनने वाले अंग्रेजों के पिछू और शिक्षा विभाग के अफसरों ने माना कि काशी विश्वविद्यालय जैसे विश्वविद्यालयों में च्यूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार का कचरा एकत्रित हो रहा है। ऐसी रपट (न्यायमूर्ति मुदालियर आयोग) पर लोक सभा में लोहिया ने उच्च शिक्षा की इस दकियानूसी सोच की बखिया उधेड़ी थी।

मण्डल आयोग की सिफारिशों के केन्द्रीय सेवाओं में लागू किए जाने के एक दशक पहले जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के दाखिले की नीति में सामाजिक पिछड़ेपन के साथ-साथ आर्थिक तथा क्षेत्रीय पिछड़ेपन को भी तरजीह दी गई थी। इस नीति का सुन्दर परिणाम हुआ था कि बिहार, उत्तर प्रदेश, ओडीशा, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश के पिछड़े जिलों के भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़े, किसान घर के, देहाती पृष्ठभूमि के मेधावी युवाओं को इस विश्वविद्यालय में दाखिल होने का मौका मिला। जाहिर तौर पर इस दाखिला नीति के पहले सेंट्रल स्टीफन्स और मद्रास क्रिश्चियन जैसे कॉलेजों से आए सीताराम येचुरी और प्रकाश कारत वहां छात्रों के नेता थे और एस.एफ.आई तथा फ्री थिंकर्स जैसे छात्र संगठनों का जोर था। भाकपा से जुड़े मशहूर इतिहासकार प्रो. बिपिनचन्द्र ने जब सामाजिक, आर्थिक और क्षेत्रीय पिछड़ेपन के आधार पर मिलने वाले अंकों को शामिल कर दाखिला देने की इस नीति को छोड़ने की सिफारिश की तो इसका प्रतिवाद हुआ। पहली बार यह विश्वविद्यालय अनिश्चितकालीन बन्दी से गुजरा, सैंकड़ों छात्र-छात्राओं ने जेल यात्रा का अनुभव पाया और विश्वविद्यालय प्रशासन ने

कई छात्रों को निष्कासित किया।

छात्र किसी एक वर्ग से आने वाली जमात नहीं है फिर भी कुछ गुण हैं जिन्हें छात्रों अथवा युवजनों के सामान्य गुण कहा जाना चाहिए। पिछली पीढ़ी की बातों को आंख मूंद कर न मानना और जोखिम उठाने का साहस ऐसे दो प्रमुख गुण हैं। विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले युवाओं के मन में बेरोजगारी को लेकर भी दो प्रकार की तड़प उठती है। आम तौर पर जो तड़प पाई जाती है वह खुद के व्यवस्था का हिस्सा न बन पाने की तड़प होती है। यदि नर-नौकरी मिल गई तो इस किस्म की तड़प शान्त हो जाती है। दूसरे किस्म की तड़प कम तरुणों में जाग पाती है। यह व्यवस्था अधिकांश लोगों का उपयुक्त समायोजन नहीं कर सकती लिहाजा इसे बदल देने की तड़प - यह दूसरे किस्म की तड़प साथी सुनील में थी।

सुनील छात्र राजनीति से निकले उन युवाओं में था जिन्हें पता था कि इस व्यवस्था को बदलने के लिए उसे अपना सर्वस्व अर्पित करना है। अभिजात्यीकरण को चुनौती देने वाले जनेवि में समता युवजन सभा की रहनुमाई में चले आन्दोलन में सयुस, ए.आई.एस.एफ और पी.एस.ओ. की स्पष्ट समझ के साथ सहभागिता थी। एस.एफ.आई. को पहली किस्म की तड़प को तरजीह देना उचित लगा था इसलिए उनकी रहनुमाई में

प्रशासन से माफी मांग कर निष्कासन वापसी हुई। लम्बी अवधि के बाद पिछड़ेपन के अंक को तरजीह देते हुए दाखिले की व्यवस्था को हटाने की फिर जब कोशिश हुई तब उसका प्रतिवाद आइसा के नेतृत्व में हुआ।

यह सर्वविदित है कि भाषा के सवाल पर कम्युनिस्टों का दिमाग साफ होने में काफी समय लगा। सोशलिस्ट युनिटी सेन्टर जैसे समूह तो अब तक अंग्रेजी को तरजीह देने का उसूल अपनाये हुए हैं। श्रेष्ठ कवि केदारनाथ सिंह ने कुछ समय पहले काशी विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में हिंदी पर अपनी मशहूर कविता को सुनाने के पहले वामपंथियों की समझ बनने में इस विलम्ब के दर्द का बयान किया था। केदारनाथजी इस

कविता में कहते हैं -

अरबी तुर्की बांग्ला तेलुगु
यहाँ तक कि एक पत्ती के
हिलने की आवाज भी
सब बोलता हूँ जरा-जरा
जब बोलता हूँ हिंदी

जनेवि छात्र संघ के समता युवजन सभा के अध्यक्ष पद के प्रत्याशी ओडिया भाषी नलिनीरंजन महान्ती को चिसर्फ अंग्रेजी ही बोल सकते थेज्वाला कहना हिन्दी वालों के उस अहमकपने का द्योतक है जिसके कारण अन्य भारतीय भाषा-भाषी हिन्दी से आशंकित रहते हैं और इस प्रकार अंग्रेजी मजबूत होती चलती है।

समता युवजन सभा के नेतृत्व में जेल का अनुभव और निष्कासन का स्वाद जाहिरा तौर पर

कैरिअर को तरजीह देने वालों के लिए शिकायत की वजह बना। कम्युनिस्ट विचारधारा के निष्कासित छात्र नेता च्चविष्य में अनुशासनहीनता न करनेज्के लिखित माफीनामों को जमा कर बहाल हो गये। यह बताना बहुत जरूरी है कि जनेवि का छात्र संघ सही माने में छात्रों का, छात्रों द्वारा, छात्रों के लिए रहा है जिसके कार्यकलाप में प्रशासन का हस्तक्षेप न्यूनतम संभव था। सामान्य सभा में चुनाव आयुक्त का चुनाव होता था।

चुनाव आयुक्त के चुनाव की शर्त थी कि उसे निर्विरोध चुना जाना जरूरी था। इस आन्दोलन के बाद विश्वविद्यालय प्रशासन से माफी मांग कर दाखिला पा गए एस.एफ.आई के छात्र नेताओं से विपरीत चीनी भाषा के छात्र समता युवजन सभा के साथी अटल बिहारी शर्मा थे। विश्वविद्यालय प्रशासन ने इनका आजीवन निष्कासन किया था तथा छात्र संघ की सामान्य सभा ने इन्हें आजीवन छात्र-संघ की सदस्यता दी थी।

सुनील और लिंगराज जैसे युवाओं ने क्रांतिकारी जन राजनीति के लिए खुद को समर्पित किया। उनकी निष्ठा और समर्पण को नजरअंदाज करना जनेवि की छात्र राजनीति से मुख्यधारा की राजनीति में गए प्रकाश कारत, सीताराम येचुरी, सुमित चोपड़ा अथवा देवी प्रसाद त्रिपाठी जैसे नेताओं के लिए भी कठिन था एक आदिवासी गांव में शिक्षक के न आने के सवाल पर सुनील अपने साथी राजनारायण के साथ लम्बी जेल यात्रा पर रहे तब जनेवि के छात्र संघ तथा प्राध्यापकों ने इसका प्रतिवाद किया। इस विरोध में मुख्यधारा के ये नेता भी शामिल थे।

सबसे अलग

शरतचंद्र बेहार

सामाजिक संघर्ष के शब्द जाल से मुक्त होकर काम करने वाले लोग बिरले ही हैं। ऐसे लोगों में मैं सुनील का नाम सबसे पहले पर रखना चाहूंगा। उन्होंने अपनी सामाजिक प्रतिबद्धताओं के साथ राजनीतिक प्रतिबद्धता को हमेशा पारदर्शी रखा। उन्होंने कभी भी यह बताने की कोशिश नहीं की कि वे राजनीतिक रूप से निष्पक्ष थे। इसके ठीक विपरीत उन्होंने डंके की चोट पर यह घोषित किया कि वे समाजवादी जन परिषद के महत्वपूर्ण सक्रिय सदस्य रहे हैं और उसके जिम्मेदार पदाधिकारी भी रहे हैं। इतना ही नहीं चुनावी राजनीति में भी वे लगातार कूदते रहे हैं और यह बात स्पष्ट करते रहे कि वे केवल एक सामाजिक संघर्ष करने वाले व्यक्ति नहीं हैं वरन एक प्रतिबद्ध राजनीतिक कार्यकर्ता हैं।

मेरी समझ में सामाजिक संघर्ष के शब्द जाल को चीर कर सुनील राजनीतिक गतिविधि और सामाजिक संघर्ष के अद्भुत और विचित्र मिश्रण को आज की दुनिया में लगातार जीते रहे हैं जबकि इस तरह के सामाजिक संघर्ष में लगे हुए अधिकतर लोग या तो स्वयं स्पष्ट नहीं हैं कि वे सामाजिक गतिविधियों के साथ राजनीतिक संघर्ष में भी लगे हुए हैं या कम से कम इसको पारदर्शी ढंग से प्रदर्शित करने में हिचकिचाते रहते हैं। उनको दूसरों से अलग खड़ा करने के लिए इतना ही काफी है। मेरी नजर में तो उनकी और कई खूबियां हैं जो उनको अन्य सामाजिक संघर्ष करने वालों से अलग खड़ा करती हैं परंतु उनके संबंध में फिर कभी लिखूंगा।

किताबों की दुनिया से जुदा राह

पीके बसंत

सुनील जी के नहीं रहने से लगता है मेरा कोई हिस्सा मर गया – वो हिस्सा जो त्याग और आदर्श से जुड़ा था। मुझे याद आते हैं वे दिन जब हम जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। वे अर्थशास्त्र की पढ़ाई कर रहे थे और मैं इतिहास की। यह बात अनकही थी कि हम पढ़ाई सिर्फ एक डिग्री हासिल करने के लिए नहीं कर रहे थे। हमारे मन में यह संकल्पना थी कि किताबें दुनिया और समाज को समझने का एक माध्यम हैं। शायद यही कारण था कि वे अच्छे नम्बर लाने के लिए जितनी पढ़ाई की जरूरत थी उससे कहीं ज्यादा पढ़ते थे। हम एक ही छात्रावास में रहते थे लेकिन उनसे मुलाकात पुस्तकालय के दरवाजे पर ही होती थी। मुलाकात की दूसरी जगह थी विश्वविद्यालय के अन्दर बनी झुग्गी-झोपड़ी बस्तियां। वहां हम बच्चों को पढ़ाने का काम करते थे। शुरू से ही सुनील छात्र राजनीति से भी जुड़े थे। मैं छात्र राजनीति में सक्रिय नहीं था। अपने को गांधीवादी कहता था जो कि उस दौर में प्रचलन में नहीं था। सुनील के जीवन दर्शन से थोड़ा सम्बल मिलता था क्योंकि वे खुद को गांधी-लोहिया परंपरा से जोड़ते थे। एम. ए. करने के बाद सुनील राजनीति में और ज्यादा सक्रिय हो गए। मैं किताबों की आड़ लेता रहा।

शायद इसी भावना का असर था कि सुनील ने 1985 में केसला में बसने का निर्णय किया। यह अपने आप में अभूतपूर्व साहस का कदम था। मुझे जैसे लोग शिक्षा के ढांचे में खूब आसानी से ढल गए। कल्पना यह थी कि इस समझ को समाज में उतारा जाएगा। लेकिन जिस रूप में कल्पना साकार हुई उसमें किताबों का दायरा हमें समाज से जोड़ने की बजाय और अलग करता चला गया।

यहां मैं दो-एक घटनाओं का जिक्र करूंगा। 1985 में केसला गया। सुनील के साथ मैं भी एक साइकिल लेकर आसपास के इलाकों में निकल पड़ा। जंगल के इस इलाके में गांव अलग-थलग बसे हुए थे। हम अजनबी जब वहां पहुंचते थे तो कौतूहलवश काफी लोग इकट्ठे हो जाते थे। ऐसे ही एक गांव में लोगों से मुलाकात हुई। ज्यादातर लोगों से बातचीत नहीं हो सकती थी क्योंकि हम उनकी भाषा नहीं जानते थे। जो लोग बातचीत कर सकते थे उन्होंने बताया

कि गांव का कोई भी व्यक्ति कभी शहर नहीं गया था। जो व्यक्ति हमसे आसानी से बात कर सकता था उसने बताया कि वह एक बार शहर गया था। शहर की जो बात उसे सबसे ज्यादा आश्चर्यजनक लगी वह यह थी कि हर घर में एक ऐसी मशीन बनी थी जिसको खोलने से पानी आने लगता था। शहर में पले-बढ़े मुझ जैसे व्यक्ति ने नल में आने वाले पानी को एक सामान्य सी चीज समझ रखा था मानो प्रकृति ने ही इसका इंतजाम कर दिया था। पानी लाने वाला नल विस्मय या ईर्ष्या का कारण बने यह मेरे लिए कल्पनातीत था। इन गांवों में सरकारी व्यवस्था पहुंची ही नहीं थी। सरकारी व्यवस्था के नाम पर वे वनविभाग के कर्मचारियों से परिचित थे, जो उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित करते थे। सुनील के गांव में एक नौ-दस साल का बच्चा मिला जिसके सिर के बड़े हिस्से में बाल नहीं थे। पता चला कि उसके समुदाय के लोग कपड़ों के अभाव में टंड की रातों में आग जला कर उसके चारों तरफ सो जाते हैं। वैसे में कई बार लोग जल भी जाते हैं। उस बच्चे का सिर आग से जल गया था।

वहां की हालत देखकर मुझे जहां किताबों की दुनिया की सीमा का अहसास हुआ तो दूसरी तरफ सुनील के अदम्य साहस का भी अंदाज हुआ। सुनील गांव-गांव घूम कर लोगों की समस्याएं जानने की कोशिश करते। केसला के संदर्भ में सरकारी तंत्र के लोग या तो बिलकुल उदासीन थे या इन ग्रामीणों के माध्यम से जंगल-संपदा को लूटने में तल्लीन थे। दूसरी तरफ ग्रामीण अपनी छोटी सी दुनिया में डूबे हुए थे। गांवों, कबीलों और प्रजातियों में बंटी यह दुनिया किसी भी आधुनिक सार्वजनीन मूल्य-व्यवस्था से अछूती थी। ये गांव हमारी कल्पना के खुशहाल स्वावलंबी स्वर्ग नहीं थे। उन्हें बदलने की जरूरत थी। लेकिन जिस रूप में सरकारी तंत्र वहां आ रहा था वह उनकी हालत बदतर कर रहा था। जल, जंगल और जमीन की लड़ाई सुनील को सरकारी और ग्रामीण तंत्र के यथार्थ से संघर्ष करने को मजबूर करती। मुझे नहीं मालूम कि यह कहानी हार की है या जीत की लेकिन इतना पता है कि हमारे एक साथी में सपनों के लिये संघर्ष करने का साहस था।

लोहिया पथ का लौह पथिक

नवीन

डा. राममनोहर लोहिया सत्तावान वर्ष में गुजर गए तो सुनील महज चौवन वर्ष ही इस पृथ्वी पर रहे। आजादी के बाद देश को जब लोकतांत्रिक समाजवादी आंदोलन की राह को प्रशस्त करने का वक्त आया तो देश के मूर्धन्य समाजवादी नेताओं— जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, रामनंदन मिश्र, अशोक मेहता, अरुणा आसफ अली, मीनू मसानी या तो अध्यात्म की शरण में चले गए या फिर येन-केन-प्रकारेण व्यवस्था के सत्संगी हो गए। एकमात्र डा. लोहिया ही थे जिन्होंने देशज समाजवादी आंदोलन को धार दी। डा. लोहिया की मृत्यु के बाद उनके मुख्य शिष्यों— मधु लिमय, राजनारायण व जार्ज फर्णांडीस जब समाजवादी आंदोलन से विमुख हुए तो किशन पटनायक ही देशज समाजवादी आंदोलन को ताजिंदगी पूर्णकाम करने में लगे रहे। किशनजी के जीवन काल में ही उनके मुख्य शिष्यों— शिवानंद तिवारी, महेंद्र दुबे, नीतीश कुमार, रघुपति, अख्तर हुसैन, विजय प्रताप, बजरंग सिंह, के.बी. सहाय आदि ने समाजवादी राजनीति से दूरी बना ली थी। किशनजी की मृत्यु के बाद समाजवादी जनपरिषद के संस्थापक नेतागण— भाई वैद्य, पन्नालाल सुराणा, प्रो. केशव राव जाधव व प्रो.प्रेम सिंह ने पृथक सोशलिस्ट पार्टी (इंडिया) बना ली। 02 अक्टूबर 2012 को आम आदमी पार्टी का गठन होने के बाद समाजवादी जन परिषद के बहुतेरे नेतागण— शिवपूजन सिंह, सोमनाथ त्रिपाठी, योगेंद्र यादव, राजेंद्र बिंदल, घनश्याम शुक्ल, विश्वनाथ बागी, ओम प्रकाश, शिवजी सिंह, लिंगराज, अजीत झा, प्रो. प्रमोद कुमार जैसों ने आप पार्टी में अपनी जगह बनाई। एकमात्र सुनील ही थे जो अकेले अपने बल-बूते सजप को आगे बढ़ाते रहे। सुनील की मृत्यु के बाद तो दूर-दूर तक सिर्फ अंधकार ही नजर आता है।

सुनील के साथ तकरीबन पैंतीस वर्षों का सुदीर्घ सांगठनिक रिश्ता था। अधिकांशतः समव्यस्क और कम उम्र के साथियों के साथ बरसों-बरस काम करने के बाद भी 'तुम' का रिश्ता नहीं बन पाया है, मगर सुनील के साथ प्रारंभ से ही 'तुम' का रिश्ता था। अस्सी दशक के पूर्वार्द्ध में ही मुझे सुनील के साथ जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

के छात्रावास में तीन-चार दिन रहने का अवसर मिला। विश्वविद्यालय में सुनील, चेंगल रेड्डी और जसबीर सिंह की तिकड़ी मशहूर थी। मैंने देखा कि सुनील दिन भर आंदोलनात्मक कार्रवाइयों में सक्रिय रहते थे। मगर जब इम्तहान का नतीजा निकला तो सुनील ने कीर्तिमान स्थापित किया। ज्ञान के लिए पढ़ाई और व्यवस्था परिवर्तन के लिए लड़ाई का अद्भुत तालमेल सुनील में था।

दृढ़व्रती तपस्वी समाजवादी का जीवन सुनील ने जिया। इसके लिए स्मिताजी को श्रेय जाता है, जिन्होंने आदर्श जीवनसंगिनी की भूमिका निभाई। तथाकथित समाजवादियों ने तो अपने आचरण और कर्म से समाजवाद शब्द को ही जुगुप्साजनक बना दिया है। अंग्रेज विद्वान सी.इ.एम. जोड ने इसी प्रकार के समाजवादियों पर लिखा था, 'समाजवाद संक्षिप्ततः उस टोपी की भांति है, जिसे हर कोई पहन सकता है, जिसने अपना आकार खो दिया है'।

पता नहीं क्यों प्रतिभावान और रहबर अल्पायु को प्राप्त करते हैं? सुनील का तेज तो अब निखरना शुरू हुआ था। अर्थशास्त्र जैसे नीरस विषय को भी वह अत्यंत सरलता तथा प्रभावी तरीके से रखते थे। गत वर्ष अक्टूबर माह में सुनील सजप की राष्ट्रीय समिति की बैठक में भाग लने मुजफ्फरपुर आए थे। जयप्रकाश विश्वविद्यालय छपरा में 11 अक्टूबर को सुनील और प्रो. आनंद कुमार का भाषण था। मुजफ्फरपुर से मैं सुनील के साथ ट्रेन के साधारण दर्जे से छपरा आया था। विश्वविद्यालय ने तो हवाई जहाज से आने-जाने को कहा था। मगर सुनील ने साफ कहा 'हवाई-जहाज तो बड़ी ऊंची चीज है, मैं तो ट्रेन के ए.सी. क्लास में भी सफर नहीं करता'। प्रो. आनंद कुमार हवाई जहाज से ही आए और गए।

इसी साल सुनील 25 फरवरी को जलपाईगुड़ी से लौटते हुए मुजफ्फरपुर आए थे। सजप के बचे-खुचे साथियों की एक बैठक रखी गई थी। बैठक में उपस्थिति देखकर सुनील आश्चर्यचकित हुए थे। सुनील ने कहा भी कि सजप को बचाए रखने का निर्णय एकदम सही साबित हुआ। इसी बैठक में दरभंगा से रेणु झा आई थीं। रेणु झा का सुनील से

प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। सुनील के लेखों को पढ़कर उनसे मिलने आई थीं। सुनील के लेखों के असंख्य प्रशंसक पूरे देश में हैं। अशोक भारत (संप्रति सर्व सेवा संघ, प्रकाशन समिति के प्रमुख) 10 वर्ष पहले सुनील का लेख 'केनकुन का कृषि व्यापार' (सितंबर 2003 में प्रकाशित) पाने के लिए व्याकुल हो गए थे। सुनील ने इस लेख में खेती के अनुदान के लिए हरे-पीले बक्सों की श्रेणियों को विस्तार से समझाया था। अशोकजी को दूँढकर वह अंक उपलब्ध करवाया गया था। सितंबर 2012 से सुनील ने 'सामयिक वार्ता' के संपादन की जिम्मेवारी ली। सुनील के संपादन में निकलते ही वार्ता ने धूम मचा दी। पी.यू.सी.एल के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रो. प्रभाकर सिन्हा और प्रो. उदयशंकर ने दुबारा अपनी आजीवन ग्राहकी दी। वार्ता के इटारसी जाने पर भी खूब टीका-टिप्पणी हुई। दिल्ली के साथी वार्ता नियमित निकाल भी नहीं पा रहे थे और चाहते थे कि वो दिल्ली से बाहर न जाए। एक टिप्पणी जो मुझसे कही गई, "जिसे पत्रिका निकालनी चाहिए वह पार्टी चला रहे हैं और जिन्हें पार्टी चालानी चाहिए वह पत्रिका निकाल रहे हैं"।

किशन पटनायक की राह लोकपथ वाली कंटकाकीर्ण है, जिस पर साधक समाजवादी ही चल सकते हैं। 1991

का चुनाव किशनजी ने लड़ा था और पराजित हुए थे। उसके बाद समता संगठन का राष्ट्रीय सम्मेलन सीवान के पंजवार गांव में हुआ था। एक शाम घनश्याम भाई के घर में लिंगराजजी के साथ जा रहा था। रास्ते में बात चली तो लिंगराज जी ने बताया कि किशनजी पर पार्टी सिम्बल लेने का दबाव ज्यादा था बीजू पटनायक का। ईमानदारी से लिंगराजजी ने कहा था, "दबाव इतना ज्यादा था कि, यदि मैं रहता तो टूट जाता"। इसी तरह की टिप्पणी ईश्वरी प्रसादजी की भी थी, "किशन जी को सिंबल ले लेना चाहिए था"। पता नहीं लिंगराज भाई पर कितना दबाव पड़ा कि वह टूट गए।

किशनजी की मृत्यु से हम सब हतप्रभ और शोकाकुल हुए थे मगर अंधेरा नहीं व्यापा था। किशनजी के बाद नेतृत्व की दूसरी कतार तैयार थी। सुनील के न रहने से घनघोर अंधेरा छा गया है। किशनजी की मृत्यु पर प्रभाष जोशी ने श्रद्धांजलि देते हुए कहा था कि कोहरे को छांट कर क्षितिज के पार देख सकते थे। किशनजी के बाद यह दृष्टि सुनील के ही पास थी। मेरी तो राजनैतिक निर्भरता ही सुनील पर थी। सुनील जैसी प्रतिभा और क्षमता का शतांश भी आज मुझे किसी में नजर नहीं आता।

उनको प्रणाम

अनुराधा शंकर

पहली बार हमारे दफ्तर में एक सामान्य नागरिक की तरह एक दरखास्त लेकर कुछ लोगों के साथ आए केसला के सुनील। हमारे दफ्तरी ने कुछ अरुचि और कुछ आशंका के भाव से यही परिचय उद्घाटित किया। सर केसला के सुनील मुतके जना संगे आये हैं। बहुत गदर करात हैं साहेब।

एक सामान्य सी दरखास्त थी उनकी। एक बलात्कारी पर कार्रवाई में विलंब हो रहा था। सो वो जिला पुलिस अधीक्षक के नाते हमारा ध्यान आकर्षित करने आए थे। ऐसी शिकायत लगभग हर महिला से संबंधित अपराध में सुनते आ रहे थे हम। दस वर्षों की सेवा में अब अपने तई कार्रवाई सुनिश्चित करते थे। व्यवस्था की सहज दुरवस्था पर सर नहीं फोड़ते थे। किन्तु केसला के सुनील बेहद उद्वेलित थे। जब हमने कहा चिंता मत कीजिए हम एक हफ्ते में सारी

कार्रवाई पूरी कर देंगे तो उन्होंने जोरदार डांट पिलाई। आप का पहला जिला तो नहीं है? लड़की आदिवासी है, बलात्कारी सरकारी अफसर है। अरसे से मामला दर्ज है कोई कार्रवाई हुई नहीं। कृपया आप इसे गंभीरता से लीजिए। दरखास्त देकर कुछ अनमने से चले गए केसला के सुनील। हमने समय सीमा में उनकी दरखास्त का निपटारा कर दिया। न हमें अपेक्षा थी, न उन्होंने कोई संतोष इंगित किया। फिर जहां-तहां उनसे मुलाकात होने लगी। कलेक्टोरेट के सामने धरने पर, जिला पंचायत के बाहर आंदोलन करते हुए, कई तहसीलों में कई मुद्दों पर उनके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। कभी प्रशासनिक अधिकारी उनकी बात सुनने या ज्ञापन लेने नहीं आते। कहते थे जे एन यू वाले नक्सलाइट हैं। बिलावजह पब्लिक को भड़काना अपनी रोटी सेंकना। रोटी कहां सिंक

रही है पूछो तो ढेर कहानियां। इनके बच्चे महंगे स्कूलों में पढ़ रहे हैं। दो चार मकान बना लिए इन्होंने साहेब। इनकी आदर्शवादी बातों में न आ जाना। सब अपना खाना खर्चा चला रहे हैं शान से। आज ज्ञापन ले लेंगे तो सर पे बैठ जाएंगे। इनको जितना कम भाव दो सो अच्छा। हम सुनीलभाई से कहते हमको दे दीजिए ज्ञापन। नहीं जी ये आपका मसला नहीं है, थोड़ा खिन्न हो जाते वे। ये किसान ये आदिवासी अपनी बात जिनसे कहना चाहते हैं उनसे कहेंगे। आप बेजा लाठी न बरसाओ यही आपका काम है।

ऐसे ही धरना-आंदोलनों में मिलते जुलते कब उनको भैया कहने लग गए हमें ध्यान नहीं। उनके एक साथी ने एक बार कुछ कठोरता से कहा कि वे सुनील भाई हैं। मगर जो उद्धोधन हमारी बिहारी जवान से निकला सो टिक ही गया। इसका एक प्रतिफल ये हुआ कि गाहे बगाहे उनके अनुशासन की झिड़की मिलती रही।

हमारी टेबल पर सच्चिदानंद सिन्हा की किताब देख कर उन्होंने अपनी पुस्तिकाएं देना शुरू किया। हमारे साथ रहने वाले दर्जन भर बच्चों को अर्थशास्त्र और समाज के राजनैतिक परिदृश्य पर प्रवेशिका का काम किया उन दुबली पतली सहज वार्ताओं ने। गांधी, लोहिया और किशन पटनायक के साथ हमारे प्रभावक्षेत्र के किशोरों के लिए सुनीलभाई आवश्यक पाठ्यक्रम में शामिल हो गए।

होशंगाबाद में रहते हुए हमारे मछली प्रेमी ससुर जी पधारे। पूर्वी भारत के सच्चे पूत थे, एक टुकड़ी माछ थाली में हो ये अपेक्षा रखते थे। हमें पुत्रवधू कम, दुलारी नातिन की तरह अधिक स्नेह करते थे। ऐसे में उनकी जिह्वा का लोकतंत्र कायम रखना अपना भी दायित्व था। किन्तु मछली महंगी तो थी ही उन्हें कभी मटियाइन लगती तो कभी भसभस। कोई पोखर नहीं है तुम्हारे इस भदेस में भन्नाए ससुरजी। खोजबीन की तो पता चला कि विशाल जलाशय है तवा बांध के फलस्वरूप। उत्तम कोटि के माछ से भरा है जिसे एक सहकारी डिपो से उचित दाम में खरीदा जा सकता है।

जब हम पहली बार इस शुभ कार्य के लिए पहुंचे तो सहकारिता का अद्भुत सफल प्रयोग देखा। बांध के डूब में आए गावों के विस्थापित जन बने तवा मत्स्य संघ। पकड़ने से लेकर निर्यात तक का सारा कारोबार सहकार्य से। तारतम्य और तालमेल ऐसा कि जैसे मैहर वाद्य वृन्द जो एक सुर गलत न लगे। और इसके प्रेरक संयोजक सहचर सुनील केसला के। नाममात्र की तनख्वाह पर आंकिक जैसा कोई दायित्व भी संभाले थे। चुपचाप। सत्य का उनका प्रयोग।

उनसे आदेश लेकर हमने कई प्रशिक्षु अधिकारियों को इस अद्भुत सहकार्य और उसकी सुचारु व्यवस्था को देखने भेजा। वे सब मन के धनी हुए। आज भी संवेदनशील और सच्चे अफसर माने जाते हैं। उनसे आप गरीब-गुरबा पर लाठी नहीं चलवा सकते। वे सब मुग्ध हुए सरल स्पष्ट इस विचारक से, उनकी मेधामूर्ति सहयात्री स्मिता भाभी से, प्रखर संतान से और अनूठे उनके शिल्प फागराम से!

होशंगाबाद से हमारे तबादले के बाद सुनील भाई से संबंध अन्यतम हो गए। भोपाल में बैठकों में हमें जरूर बुलाते। फुर्सत मिलती तो लंबी बात भी होती। सामान्यतया उनका कोई न कोई काम होता ही। किसी न किसी मुद्दे पर चल रही उनकी लड़ाई का ब्यौरा देते और अपेक्षा करते कि हम शासन-तंत्र तक उनकी बात पहुंचाएं। हमारा व्यवस्था के अंदर होना जनता के लिए सर्वथा उपयोगी हो ऐसा उनका अव्यक्त आग्रह था। ऐसे में जब विचलित होकर कभी हमने व्यवस्था के बाहर आने की बात कही तो उन्होंने रोका।

सन्यास लेना है क्या? हिमालय चले जाना है? हमने संघर्ष की बात की तो कहा कि ये शासन क्या आसमान से टपका है? इसमें कौन दुनिया का काम हो रहा है? इसको अहिंसक रखना कैसे संभव होगा यदि सब भाग जाएंगे? यह व्यवस्था जो विरोध को विद्रोह समझती है क्या एकदम नासमझ लोगों के हाथ में छोड़ दी जाए?

उनके कई साथियों को सुनीलभाई रुक्ष और कट्टर लगते थे। कई सौम्य सुनीलगामी यात्रियों ने उनके सिद्धांतों के मारे घबराहट कबूल की थी। कुछ ने मार्ग बदल लिया, कुछ मार्ग के छायादार वृक्षों के नीचे पोटली धर के बैठ गए। किन्तु वे अविрам अपने कठिन पथ पर चलते रहे। उनके जीवन के व्यावहारिक पक्ष में कोई छुपाव नहीं था, कोई दुविधा नहीं थी। उनके सुचिंतित देसी परिवेश में हैरी पॉटर का प्रवेश हमारे दुष्ट हस्तक्षेप से हुआ। यद्यपि इल्म के लिए चीन तो क्या अमरीका जाने में उनकी कोई रोक नहीं थी। आग्रह था तो बस यही कि विद्या व्यवस्था पुत्रों का व्यसन न हो कर समान अवसर का कारक हो।

मालाखेड़ी से शराब दुकान हटाने के मसले पर बातचीत कर रहे थे कि अचानक समकालीन राजनीति की चर्चा करने लगे। पहले कभी हमने कोशिश भी की राजनीति पर बतियाने की तो टाल देते थे। इस बार लंबी बात की। निराश नहीं पर छटपटाते-से। राजनीति में लालसा, हिंसा, पैसा, अधीरता, बहाने, लुभावनापन, पहचान, साथ, कुटेव, छद्म आखिरी बात थी हमारे साथ।

एक राजनीति जिसमें मिट्टी की सुगंध थी

राहुल बनर्जी

मध्य प्रदेश के सुदूर आदिवासी क्षेत्र केसला में सुनील भाई ने जब 1985 में लोहिया अकादमी के खाली पड़े कार्यालय को पुनर्जीवित कर अपना राजनीतिक जीवन प्रारंभ किया था तब वे एक ऐसी राजनीति का आगाज कर रहे थे जिसमें लोगों एवं प्रकृति की भागीदारी प्रमुख थी। सुनील भाई, उनके साथी राजनारयण एवं स्थानीय आदिवासी भाई-बहनों की पहल से स्थापित किसान आदिवासी संगठन ने न केवल जल, जंगल और जमीन पर लोगों के अधिकार एवं उनके संरक्षण का मुद्दा उठाया। बल्कि इसके लिए संघर्ष के तौर-तरीके को लोग खुद तय करें इस पर भी जोर दिया। हम लोग भी अलीराजपुर में इन्हीं मुद्दों पर काम कर रहे थे एवं लोक राजनीति पर हमारा भी जोर था इसलिए शुरू से ही हमारा संपर्क बना रहा। वर्तमान में जब चुनावी राजनीति में पैसों का बोलबाला है एवं राजनीति की दिशा पूंजीपतियों द्वारा ही तय की जाती है तब लोक आधारित सागदीपूर्ण एवं संघर्ष प्रधान राजनीति करना कोई आसान काम नहीं है। परंतु तीन दशकों की लंबे राजनीतिक सफर में सुनील भाई कभी भी अपने सिद्धांतों से नहीं भटके एवं लगातार लोक राजनीति करते रहे। जिसके तहत कई बार उन्हें जेल का रास्ता देखना पड़ा एवं इस दौरान वे उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर कर विचाराधीन कैदियों को हथकड़ी न लगाए जाने पर भी आदेश निकाल लाए।

हालांकि संघर्ष की राजनीति इस देश में कई लोग कर रहे हैं परंतु संघर्ष के साथ-साथ निर्माण का कार्य करना इतना आसान नहीं है। सुनील भाई इस मायने में भी अव्वल थे। केसला के आदिवासी पहले तो प्रूफ रेंज के कारण बिना किसी पुनर्वास के विस्थापित हुए थे। उसके बाद उन्हें तवा बांध के जलाशय के कारण फिर से बिना किसी पुनर्वास के विस्थापित किया गया। इसके विरुद्ध संघर्ष कर किसान आदिवासी संगठन ने तवा जलाशय में व्यवस्थित मत्स्याखेट के अधिकार को इन विस्थापितों के लिए हासिल किया। परंतु इसके लिए एक विधिवत सहकारी समिति का निर्माण आवश्यक था। सुनील भाई के मार्गदर्शन में न केवल तवा मत्स्य संघ की स्थापना हुई बल्कि उसका कुशल प्रबंधन भी

होने लगा। जिसके तहत तवा जलाशय में मछली उत्पादन में अच्छी खासी बढ़ोत्तरी हुई एवं इस बढ़े हुए उत्पादन को वातानुकूलित वाहन द्वारा कलकत्ता में बेचे जाने लगा, जिससे संघ को भरपूर मुनाफा होने लगा। जलाशय से मछली चोरी पर भी कारगर अंकुश लगा। इस बारे में एक घटना काफी दिलचस्प है। एक बार दूर के गांव के कुछ आदिवासी जलाशय से कछुआ आखेट करने आए थे एवं उन्हें मत्स्य संघ के सदस्यों ने रोक दिया। सदस्यों ने इन लोगों से पूछा कि अगर हम आपको कछुआ ले जाने भी दें आगे तो सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान के वनरक्षकों से आप का पाला पड़ेगा तो उन्हें आप लोग कैसे पार करेंगे। तो उन लोगों ने कहा कि वन रक्षकों को पार करने के लिए घूस पर्याप्त है इसलिए वह कोई समस्या नहीं है परंतु संगठन की ईमानदारी को भेद करना नामुमकिन निकला!

मत्स्याखेट का यह अधिकार कड़े संघर्ष के बाद मिला था एवं इससे संगठन को काफी संसाधन प्राप्त हो रहा था परंतु सरकार ने इसे वापस छीन लिया। तवा जलाशय क्षेत्र को सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान में शामिल कर उसमें मत्स्याखेट प्रतिबंधित कर दिया गया। इस प्रकार देश में संघर्ष और निर्माण की एक बेजोड़ मिसाल, जिसे खड़ा करने के लिए स्थानीय लोगों ने सुनील भाई के नेतृत्व में अथक प्रयास किए थे, सरकार द्वारा ध्वस्त कर दी गई।

सुनील भाई एक कुशल संगठन-कर्मी होने के साथ साथ ही प्रखर विचारक एवं लेखक थे। केसला के स्थानीय समस्याओं से लेकर देश और दुनिया की व्यापक समस्याओं पर, विशेषकर अर्थव्यवस्था से जुड़े प्रश्नों पर, सुनील भाई का गहन अध्ययन एवं चिंतन था। वे अनेक पत्रिकाओं एवं अखबारों में विश्लेषणात्मक लेख लिखते थे। देशभर में घूम-घूमकर वे व्याख्यान एवं प्रशिक्षण भी देते थे जिससे अनेक लोगों को आज की विषम परिस्थितियों को समझने में काफी मदद मिलती थी।

सबसे सराहनीय बात यह है कि सुनील भाई इतने कर्मठ एवं प्रतिभाशाली कार्यकर्ता एवं विचारक होने के बावजूद भी किसी भी प्रकार के घमंड को नहीं पालते थे। हर

समय वे सभी के साथ बराबरी से पेश आते थे एवं अपने आपको एक साधारण कार्यकर्ता के रूप में प्रस्तुत करते थे। मुझे आज भी याद है कि एक बार 1993 में हमने अलीराजपुर में एक कार्यशाला आयोजित की थी, उस समय की भारत सरकार द्वारा लाए गए उदारीकरण की नीतियों को समझने के लिए। सुनील भाई को हमने विशेषज्ञ के रूप में आमंत्रित किया था। वे कुछ पहले ही पहुंच गए थे जब हम टेंट हाउस से कार्यशाला के लिए दरी, तकिया, रजाई आदि लाने जा रहे थे। वो बेहचक हमारे साथ टेंट हाउस गए और सारा सामान ठेले पर लादने में मदद की और फिर हमारे साथ ठेले को धकाकर कार्यशाला स्थल पर ले आए।

सुनील भाई स्पष्टवादी भी थे। जो उन्हें गलत लगता था उसे वह तुरंत कह देते थे। सभी को मालूम है कि जमीनी स्तर पर संगठन का कार्य करने के लिए संसाधन जुटाना एक बड़ी समस्या है। हमने कई सालों तक मिर्ची रोटी खाकर न्यूनतम स्तर पर संगठन का कार्य करने के बाद जब देखा कि इस प्रकार जीवित रहना ही दुश्वार हो रहा है एवं शीघ्र ही कार्य बंद करना होगा, तब अलीराजपुर एवं पश्चिमी मध्य प्रदेश में कार्य करने हेतु हम देशी-विदेशी दानदाता संस्थाओं से अनुदान लेने लगे। इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था से ही मदद लेकर उसके खिलाफ काम करने की एक विरोधाभासी स्थिति उत्पन्न हुई जो आज भी जारी है। सुनील भाई ने दो टूक शब्दों में हमें समझा दिया कि यह सिद्धांत से भटकाव है एवं ऐसा करने से हम दूरगामी परिवर्तन से मुंह मोड़ रहे हैं। बात उनकी बिलकुल सही थी परंतु वर्तमान परिस्थितियों में हमारे

पास और कोई चारा नहीं था। संगठन के खर्चे बहुत बढ़ गए थे एवं केवल शुभचिंतकों और संगठन के सदस्यों के चंदों से कार्य को जारी रखना संभव नहीं था। हमने सुनील भाई की बेबाकी की कद्र की पर उनकी टिप्पणी पर अमल करना मुनासिब नहीं समझा!

1980 का दशक एक स्वर्णिम काल था जब मध्य प्रदेश में बहुत से युवा-युवती अपने कैरियर को तिलांजलि

भारत आज भी गांवों में ही बसता है जहां अधिकतर लोग तमाम परेशानियों के बावजूद मिट्टी में से असली सोना उगाते हैं जिसके सेवन से हम सब जिंदा रह पाते हैं। सुनील भाई की राजनीति उसी मिट्टी की सुगंध से भरी हुई थी।

देकर जन आंदोलनों में पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में शामिल हुए और उन्होंने इस देश में एक वैकल्पिक राजनीति का खाका तैयार करने में अहम भूमिका निभाई, जिसके कारण आज देशभर में जगह जगह पर विनाशकारी विकास के

खिलाफ जमीनी एवं वैचारिक स्तर पर संघर्ष जारी है। उसी दशक का एक अग्रणी देन थे सुनील भाई। हाल के समय में इन सब संघर्षों को दिशा देने में सुनील भाई अथक प्रयास कर रहे थे जब अचानक उन्हें जाना पड़ा। इस देश की राजनीति के इस निर्णायक दौर में सुनील भाई का चले जाना एक अपूरणीय क्षति है जिससे उबरने में वैकल्पिक राजनीति करनेवाले संगठनों को काफी वक्त लगेगा। भारत आज भी गांवों में ही बसता है जहां अधिकतर लोग तमाम परेशानियों के बावजूद मिट्टी में से असली सोना उगाते हैं जिसके सेवन से हम सब जिंदा रह पाते हैं। सुनील भाई की राजनीति उसी मिट्टी की सुगंध से भरी हुई थी। एक दिन जरूर आएगा जब इनसान और विशेषकर पूंजीपति यह महसूस करेंगे कि प्रकृति और समाज के बेतहाशा दोहन का रास्ता एक अंधी गली है।

उपनिवेशों के आजाद होने के बाद भी नव-औपनिवेशिक और नव-साम्राज्यवादी तरीकों से यह लूट व शोषण चालू है और इसलिए पूंजीवाद फल-फूल रहा है। यह शोषण सिर्फ औपनिवेशिक श्रम का ही नहीं है। इसमें पूरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों का बढ़ता हुआ दोहन, लूट और विनाश भी अनिवार्य रूप से छिपा है। इसलिए आज दुनिया के सबसे ज्यादा झगड़े प्राकृतिक संसाधनों को लेकर हो रहे हैं। इसलिए पर्यावरण के संकट भी पैदा हो रहे हैं।

औपनिवेशिक शोषण की जरूरत पूंजीवादी विकास के लिए इतनी जरूरी है कि तीसरी दुनिया के जिन देशों ने इस तरह का विकास करने की कोशिश की, बाहरी उपनिवेश न होने पर उन्होंने आंतरिक उपनिवेश विकसित किए। आंतरिक उपनिवेश सिर्फ क्षेत्रीय व भौगोलिक ही नहीं होते हैं। अर्थव्यवस्था के कुछ हिस्से भी (जैसे गांव या खेती) आंतरिक उपनिवेश बन जाते हैं। भारतीय खेती के अभूतपूर्व संकट और किसानों की आत्महत्याओं के पीछे आंतरिक उपनिवेश की व्यवस्था ही है। -सुनील

सृजन करेंगी यादें

राजेंद्र चौधरी

करीब डेढ़ साल बाद नवंबर, 2008 में काशी विश्व विद्यालय (काशी हिन्दू विश्व विद्यालय नहीं क्योंकि इसकी स्थापना काशी विश्व विद्यालय के नाम से ही हुई थी) स्थित अर्थशास्त्र विभाग की प्रमुख प्रो. किरन वर्मन और सामाजिक कार्यकर्ता लोलारक द्विवेदी के संयुक्त प्रयास से “इंडियन इकोनॉमी इन दी ट्वेन्टी फर्स्ट सेंचुरी: प्रॉस्पेक्टिव ऐंड चैलेंजेज” विषयक एक गोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें मुख्य वक्ता के रूप में समाजवादी चिंतक सुनील ने शिरकत की। परिचर्चा में साथी सुनील ने आर्थिक मंदी और उसके विभिन्न कारणों का बखूबी विश्लेषण किया। आगे रास्ता क्या होगा? संभवतः इसकी परिकल्पना भी उनके दिमाग में थी।

दुनिया में पहली बार आई विश्वव्यापी आर्थिक मंदी (1929) और वर्तमान आर्थिक मंदी (2009) के बीच अंतराल लगभग 100 वर्ष का है। इसलिए दोनों आर्थिक मंदियों के कारणों की

चर्चा की जाए। इसके लिए जरूरी है कि उनका तथ्यात्मक परीक्षण भी किया जाए।

द्वितीय विश्वव्यापी आर्थिक मंदी (2009) के कारण बड़े अजीब हैं। इस बार कोई युद्ध नहीं हुआ लेकिन सोवियत रूस ने वैज्ञानिक समाजवाद के जिस सिद्धांत को लागू किया था, वह मिखाइल गोर्वाचोव के राष्ट्रपति बनने के बाद कमजोर पड़ने लगा था। कारण था, मिखाइल गोर्वाचोव ने पूरे वैज्ञानिक समाजवाद को बदल दिया और नवउदारवाद-वैश्वीकरण-बाजारीकरण की मिश्रित अर्थव्यवस्था के नए स्वरूप को अपनाया। संभवतः यह सोवियत रूस का आंतरिक कारण रहा होगा। दूसरी ओर चीन माओत्से तुंग के दर्शन से हट कर संघर्ष मॉडल की तरफ अग्रसर हो चुका था।

दुनिया में बाजार का दौर शुरू हो चुका था। वैज्ञानिक समाजवाद पीछे छूट गया था। राष्ट्र अपनी-अपनी पूंजी बढ़ाने में लगे थे। चाहे वह अमेरिका रहा हो या फिर सोवियत संघ!

तीसरी दुनिया के देशों में भी इस नवउदारवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। संभवतः यह बड़े राष्ट्रों द्वारा छोटे राष्ट्रों के शोषण की शुरुआत थी।

इसी बहस को आगे बढ़ते हुए साथी सुनील ने गोष्ठी में भारतीय मॉडल को पेश किया। उन्होंने कहा कि आगे रास्ता बंद है और बाजार समता नहीं ला सकती। कुछ लोगों को लूट के जरिए आगे बढ़ाने से अच्छा है कि हम पीछे लौटें। हमको पीछे लौटने में क्या गुरेज है? कटोरा लेकर भीख मांगने से अच्छा है, हम पीछे लौट लें। संभवतः सुनील अर्थशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मार्क्स-गांधी-लोहिया के संयुक्त सिद्धांत को आगे बढ़ाने की बात कह रहे थे।

साथी सुनील से मेरी एक और मुलाकात चंचल मुखर्जी की किताब की दुकान पर हुई जो बहुत महत्वपूर्ण और जरूरत की थी। अर्जक संघ के साथियों के साथ संभवतः उनकी अंतिम

मुलाकात थी। इस मुलाकात में समाजवादी चिंतक सुनील की बहुत सारी बातें सामने आईं। अर्जक संघ के साथियों ने भी उन्हें काफी प्रभावित किया। साथी सुनील ने कबीर के एक दोहे से अपनी बात खत्म की-

“साधु ऐसा चाहिए जैसा सूप स्वभाव,
सार-सार को गहि रहै, थोता देहि उड़ाए।”

आज मैं उनके विश्लेषण का आकलन करता हूँ कि “प्रयोगधर्मी के रूप में सुनील ने समाज में एक नया आयाम पैदा किया। कल क्या होगा, परिस्थितियां क्या बनेंगी, कैसे बनेंगी, यह गर्भ में है! लेकिन रास्ते की तलाश में सुनील भी हैं? और उनका रुचिकर ध्येय है!”

बंद रास्ते की तलाश अधूरी है या पूर्ण होगी, यह गांधी के शिष्यों पर निर्भर करेगा।

“सुनील नहीं हैं, परन्तु यादें हैं।”

यादें नई सृजन की जमीन तय करेंगी?



देशज विचार का अन्वेषक

अमनदीप वशिष्ठ

गांधी-लोहिया-जेपी की विचार परंपरा की मशाल को आगे बढ़ाने का कार्य पहले किशन पटनायक और फिर सुनील ने किया। सुनील की वैचारिक भूमि में कुछ तत्व उन्हें परंपरा से मिले और कुछ तत्व उन्होंने स्वयं सृजित किए। औद्योगिक सभ्यता की आलोचना करते समय सुनील गांधी की परंपरा के वाहक लगते हैं जबकि मार्क्सवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना उन्हें लोहिया के नजदीक ले जाती है। दूसरी ओर सुनील के वैचारिक ढांचे में जो गणितीय शुद्धता का निर्वाह है, वह अनायास ही हमें मार्क्स की याद दिलाता है। नवंबर 2007 में जनसत्ता में प्रकाशित 'कैसा उद्योग कैसा विकास' से लेकर नवंबर 2013 में वार्ता में छपे 'गलत विकास के भंवर में' सुनील का सामाजिक चिंतन ठोस आंकड़ों की जमीन पर खड़ा रहा है। अंधाधुंध औद्योगिक विकास के संदर्भ में सुनील को दो मुख्य आपत्तियां हमेशा बनी रही। एक, रोजगार रहित विकास और दूसरा 'मानवीय विस्थापन'। संगठित क्षेत्र के आंकड़े स्पष्ट रूप से यह दिखाते हैं कि पिछले दशक में रोजगार बढ़ने की बजाय कम हो गया, जबकि वृद्धि दर यानी 'ग्रोथ रेट' की सफलता के खूब गुणगान हुए। विस्थापन के बारे में तो कहा जा सकता है कि जमीन से उखड़े लोगों की पीड़ा का सही निदान औद्योगिक सभ्यता शायद ही खोज पाए।

सुनील ने लोहिया को आधार बनाकर पूंजीवाद का जो विश्लेषण किया, उसमें उन्होंने रोजा लक्जमबर्ग सरीखी मार्क्सवादी क्रांतिकारी को शामिल किया। समीर अमीन और आंद्रे गुंदर फ्रैंक के काम को वर्तमान स्थिति की समझ को पैना करने के लिए, सुनील ने बखूबी प्रयोग किया। यह सारे वैचारिक कार्य बिल्कुल भी आसान नहीं रहा होगा। खासकर उत्तर-आधुनिक विमर्श के उभरने के बाद विचारधाराओं का जिस तरह मजाक उड़ाया गया, उससे विचार के क्षेत्र में नये विकल्प तलाशने का कार्य मुश्किल ही हुआ है। समाज परिवर्तन के लिए काम करने वाली मुक्तिकामी धाराओं को बीते जमाने की बात बताया गया, तो कभी 'इतिहास के अंत' की घोषणा की गयी। इस सबके बीच (ग्राम्शी के अनुसार) एक ऑर्गेनिक बुद्धिजीवी की

भूमिका निभाते हुए सुनील ने 'वैकल्पिक विकास की राह' की तलाश जारी रखी।

सुनील और उनके समानधर्मा लोगों के चिंतन के सामने कठिनाई यह है कि वो इन सूत्रों को जमीन पर कैसे उतारें। इंटरनेट, वाट्स एप, शॉपिंग मॉल, ऑनलाइन मार्केटिंग के इस दौर में सरल जीवन का सिद्धान्त प्रासंगिक कैसे बनाया जाए। शक्ति के मुकाबले अहिंसक विमर्श को स्थापित कैसे किया जाए। सुनील भाई ने जीवन में एक सात्विक हठ के साथ वैचारिक शुद्धता का आग्रह बनाए रखा। इसी काल में उनके कुछ साथी तात्कालिकता के प्रभाव में थोड़े व्यावहारिक हो गए और इसी से शुद्धता के आग्रह की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न भी लगा। आज सुनील भाई के चिंतन और कर्म से इतना तो सिद्ध हुआ ही है कि एक मूल्य के रूप में शुद्धता का पालन कठिन तो है पर असंभव नहीं।

सुनील को सच्ची आदरांजलि क्या हो? यह केवल गुणगान तो नहीं हो सकती और होनी भी नहीं चाहिए। सुनील के पूरे चिंतन के पीछे पूंजीवाद के मुकाबले एक वैकल्पिक व्यवस्था की संभावना की उर्जा कार्य कर रही है। हमें याद रखना चाहिए कि पूंजीवाद की एक सुसंगत और व्यवस्थित आलोचना 19वीं शताब्दी में मार्क्स की कैपिटल के रूप में आई थी। उसके बाद टुकड़ों में तो बहुत से विचार आए हैं। पर ईमानदारी से स्वीकार करें तो 'कैपिटल' के स्तर की रचना अब तक नहीं आई है। आज सूचनाओं, जानकारियों और आंकड़ों का इतना विस्तार हो चला है कि एक नये वैकल्पिक वैचारिक ढांचे की रचना किसी एक व्यक्ति विशेष के वश की बात नहीं है। समानधर्मा लोगों का एक पूरा समूह एकनिष्ठ होकर यदि अनुसंधान के कार्य में लगे तो ही कुछ उम्मीद बंध सकती है। परिवार, व्यक्तिगत जिम्मेदारियां और आमदनी के दबाव में जूझता व्यक्ति एक-आध चमकदार विचार तो पैदा कर सकता है पर उससे आगे की संभावनाएं क्षीण ही होती हैं। परंतु अगर सचमुच वैकल्पिक व्यवस्था के वैचारिक आधारों का निर्माण फलीभूत हो सके तो यह सुनील भाई की पुण्य स्मृतियों को मात्र आदरांजलि नहीं अपितु कार्यांजलि भी होगी।

चिंतक बनते देखना

डॉ. तपन भट्टाचार्य

पिछले दिनों आजादी बचाओ आंदोलन की गतिविधियों के संदर्भ में डॉ. बनवारीलाल शर्मा का इंदौर में आना-जाना कई बार हुआ। सुनील भाई, आजादी बचाओ आंदोलन और डॉ. बनवारीलाल शर्मा के प्रशंसकों में रहे हैं और उनके मुद्दों पर काम भी करते रहे हैं। जब मैंने सुनील भाई को यह बताया कि दिनांक 2 से 4 नवंबर 2012 को इंदौर में आजादी बचाओ आंदोलन का राष्ट्रीय अधिवेशन कर रहे हैं तब सुनील भाई ने मुझे आश्चर्य किया था कि मैं इस राष्ट्रीय अधिवेशन में पूरे तीन दिन रहेंगे। सुनील भाई तीनों दिन राष्ट्रीय अधिवेशन में रहे। जैसा कि उनका अभ्यास था कि वे अपने साथ जनसंगठनों को चलाने के लिए बिक्री के लिए समाजवादी साहित्य रखते थे। वे झोला भरकर साहित्य लेकर आए थे। वहां मैंने भी सुनील भाई के सहयोगी के नाते सामयिक वार्ता की बहुत सारे साथियों को सदस्यता दिलवाई। सुनील भाई ने यहां पर भी यह सिद्ध किया कि वे जिस काम को उठाते हैं उसमें वे मन-प्राण से लग जाते हैं। सामयिक वार्ता के इतिहास में उनके द्वारा संपादित अंक निश्चित ही नायाब माने जाएंगे। लातीनी अमरीका वाले वार्ता के विशेष अंक पर इंदौर में हमने गोष्ठी का आयोजन किया। उस दिन सुनील भाई ने अपने वक्तव्य से हम साथियों के मन में राजनीति के विकल्प के रूप में लातीनी अमरीका के विभिन्न देशों में चल रहे वैकल्पिक राजनीति और उनको चलाने वाले जन नेताओं के बारे में अविस्मरणीय जानकारी दी थी।

डॉ. बनवारीलाल शर्मा की मृत्यु अधिवेशन के लगभग एक महीना पूर्व ही हो चुकी थी उसके बावजूद हम लोग इस सम्मेलन को कर रहे थे। सुनील भाई का कहना था कि डॉ. शर्मा के न रहने पर भी इंदौर के साथियों का यह सम्मेलन करना उनकी आजादी बचाओ आंदोलन के प्रति अगाध प्रतिबद्धता का प्रतीक है और यह सम्मेलन इंदौर के साथियों ने ऐतिहासिक रूप से संपन्न किया है और इसमें देशव्यापी मुद्दे निकले हैं तथा इंदौर घोषणापत्र आगामी दिनों में कार्यकर्ताओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण दस्तावेज सिद्ध होगा।

आजादी बचाओ आंदोलन की गतिविधियों में सुनील भाई की सहभागिता इंदौर के साथियों के बीच बढ़ती ही जा रही थी। उसके दो कारण थे उनके पिता के कारण उनका आना जाना उज्जैन की ओर लगातार होता था और दूसरा आजादी बचाओ आंदोलन की इंदौर में बढ़ती हुई गतिविधियां एवं साथियों से उनका करीबी रिश्ता।

मध्य प्रदेश की बदतर होती हुई स्थिति के कारण सुनील भाई मध्य प्रदेश के साथियों के साथ उन दिनों कुछ करने की सोचने लगे थे। लगभग हर दूसरे तीसरे दिन सबेरे उनका फोन मेरे पास आ जाया करता था और वे चाहते थे कि हम इंदौर या उज्जैन में कहीं मिल लिया करें और बातचीत हो जावे। एक-दो बार हम लोग उज्जैन तथा इंदौर में मिले भी। सामयिक वार्ता की सदस्यता को बढ़ाने की बातचीत के बहाने सुनील भाई मध्य प्रदेश की बदतर स्थितियों की चर्चा करते रहते थे और उस पर कुछ कदम उठाए जाएं इस पर भी सोचा करते थे। उनकी इस सोच के साथ आजादी बचाओ आंदोलन ने मध्य प्रदेश की स्थिति पर उनके साथ दो कार्यक्रम स्थानीय विसर्जन आश्रम, नवलखा, इंदौर में आयोजित भी किए।

अन्ना आंदोलन और आप पार्टी को लेकर भी हमारे बीच में चर्चाएं हुईं। इटारसी में अन्ना हजारों से मिलने के बाद उनको क्या अनुभव हुआ यह भी उन्होंने मुझे विस्तार से बताया था जो कि आखिरकार सच ही निकला। आप पार्टी में उनके तमाम साथियों के चले जाने के बाद भी निराश नहीं हुए थे और यही कहते रहे कि संसद के चुनाव के बाद हम सब लोग एक बार बैठेंगे और बातचीत करेंगे। कोई न कोई रास्ता वैकल्पिक राजनीति का निकालेंगे ही। अचानक पता चला कि सुनील भाई हमारे बीच नहीं रहे जबकि मृत्यु से एक सप्ताह पूर्व केसला से इटारसी जाते हुए उन्होंने मुझसे बस में ही बात की थी पर शोरगुल के बीच में हमारी ठीक से बात नहीं हो पाई थी। वही वार्तालाप मेरे और सुनील भाई के बीच का आज आखरी संवाद बन गया है।

मैंने सुनील भाई को इंदौर में 1980 में जनता पार्टी के

टूटने के बाद पहली बार देखा था। इंदौर के कुछ साथियों ने समता संगठन की एक बैठक जेलरोड स्थित श्रीराम धर्मशाला में रखी थी। जिसमें किशन पटनायक आए थे। समता संगठन की बैठक में ही समता युवजन सभा के साथी भी शामिल हुए थे और उसी के नेतृत्वकर्ता के रूप में सुनीलभाई भी शामिल हुए थे।

उन दिनों किशनजी की इटारसी के पास सहेली गांव में एक जमीन पर समता केंद्र बनाने की योजना चल रही थी। इटारसी के साथी भाई राजनारायण को उस जमीन पर रहने एवं आसपास के गांवों में समता संगठन का काम खड़ा करने की सलाह किशनजी ने दी थी। उन दिनों मैं विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था। मुझे भी वह केंद्र देखना था। मैं इंदौर से इटारसी पहुंचा। मैंने और राजनारायण दोनों ने ही एक साथ सहेली गांव की उस जमीन पर डॉ. मल्होत्रा के द्वारा बनाई गई झोपड़ी में एक रात बिताई थी।

वह दो दिन मेरे लिए अविस्मरणीय है। मैं उस केंद्र में 4-5 बार गया था। वहां समता संगठन का काम काफी बढ़ा। समता संगठन के काम के बढ़ जाने के कारण सुनील भाई, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली से अपना अर्थशास्त्र का शोध कार्य छोड़कर केसला में ही आ बसे। सुनीलजी की टीम काफी बढ़ गई।

इसी दौरान हमारे क्रांतिकारी साथी राजनारायण भाई की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई। राजनारायण के जाने के बाद सुनील भाई के ऊपर ही सारा भार आ गया। संगठन, चिंतन और आंदोलन पर सुनील भाई बहुत ज्यादा खरे उतरे वे अपने छात्र जीवन में अपने मित्रों के बीच जेएनयू के गांधी तो कहलाते थे पर उनके अंदर का असली गांधी इटारसी, केसला, बैतूल, हरदा के आदिवासियों के बीच में ही जन आंदोलनों के माध्यम से पैना हुआ।

चूंकि हम लोग इंदौर विश्वविद्यालय की छात्र राजनीति में बहुत ज्यादा सक्रिय थे। अतः हम लोगों का ज्यादातर समय तत्कालीन जनता पार्टी के अध्यक्ष चंद्रशेखरजी के नेतृत्व में युवा जनता की राष्ट्रीय गतिविधियों में ही चला जाया करता था। कन्याकुमारी से दिल्ली तक की पदयात्रा के दौरान भी मेरे और सुनील भाई के बीच पत्राचार चले। मैं समता संगठन और समता युवजन सभा की गतिविधियों से

भावनात्मक रूप से बहुत करीब से जुड़ा रहा। ये बात सही है कि 1993 के बाद में बार-बार हमारे राजनैतिक दलों के बिखराव को लेकर परेशान होकर मैं, मामा बालेश्वर दयाल के नेतृत्व में मध्य प्रदेश के पश्चिम क्षेत्र के आदिवासी अंचल में स्वैच्छिक कार्य करने के लिए चला गया। पर सुनील भाई से मेरी मित्रता लगातार बनी रही। उनके आंदोलनों के समाचार और उनके लेख पत्र पत्रिकाओं में हम लगातार पढ़ते रहे। मैं सुनील भाई से इसलिए भी प्रभावित था कि वे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर बहुत ही स्पष्ट रूप से अपनी बात को रखते थे। नफा-नुकसान की चिंता नहीं करते थे। उनका व्यक्तित्व निश्चित ही एक संन्यासी की तरह ही था। मेरी मुलाकात सुनील भाई से दिल्ली, बड़वानी, सेंधवा, भोपाल के विभिन्न कार्यक्रमों में होती रही। उनकी पुस्तिकाओं को मैंने निरंतर पढ़ा भी और बेचा भी। आज भी मेरा यह काम निरंतर जारी है।

आप पार्टी और जन आंदोलनों के रिश्ते पर जो भी बैठकें देश में हुईं उनमें वे गए जरूर पर वहां से लौटकर कुछ विशेष टिप्पणी उन्होंने नहीं की। पूछने पर इतना ही कहते थे कि अभी इस पार्टी में स्पष्टता की कमी है। कई मुद्दों पर उनको अपनी लाइन साफ करनी चाहिए।

इन दिनों हम कुछ साथियों की यह इच्छा थी कि हम लोग आनेवाले समय में सुनील भाई का साथ ज्यादा से ज्यादा पाएं और वैचारिक रूप से साथियों को मजबूती प्रदान करें।

एक अजीब सी बैचेनी और अकेलापन उनके अंदर इन दिनों घुमड़ रहा था। आप पार्टी और जन आंदोलनों के रिश्ते पर

जो भी बैठकें देश में हुईं उनमें वे गए जरूर पर वहां से लौटकर कुछ विशेष टिप्पणी उन्होंने नहीं की। पूछने पर इतना ही कहते थे कि अभी इस पार्टी में स्पष्टता की कमी है। कई मुद्दों पर उनको अपनी लाइन साफ करनी चाहिए। ऐसे में हम सब समाजवादी सोच के लोग उनके साथ अभी से ही कैसे जाएं।

समाजवादी जन परिषद के आगामी समय को लेकर भी चिंतित थे। आज सुनील भाई अगर हमारे बीच अपने अंदाज में खड़े होते तो विशेषकर मध्य प्रदेश के साथियों को काफी संबल मिलता क्योंकि उनके व्यक्तित्व में सादगी से भरा एक जोड़नेवाला तत्व था जो अभी कई बड़े-बड़े व्यक्तित्वों में नहीं है। डॉ. बनवारीलाल शर्मा के चले जाने के बाद दर्द को सुनील भाई ने नासूर बनने नहीं दिया था पर सुनील भाई के जाने के बाद के तमाम उम्रवाले इस दर्द को कैसे झेलें।

आंदोलन की राह पर

गुलियाबाई

संगठन से जुड़ने का साल तो याद नहीं आता। पर जो पहली घटना याद आती है वो राजनारायण स्मृति मेला की है। राजनारायणजी की मौत के बाद हर साल उनकी बरसी पर संगठन कार्यालय और केसला के आम के बगीचे में रामसत्ता (रात भर चलने वाला लोक-मंडलियों का गीत-संगीत का) आयोजन होता था। एक बार मैं अपने गांव चकपुरा के बाइयों के साथ रामसत्ता में आई थी। रातभर हमने रामसत्ता देखी। उसके बाद भाषण होने लगे और सुनीलजी ने कहा कि विभिन्न गांवों से आए लोग अपने गांव की परेशानी के बारे में बता सकते हैं। तब मेरे गांव के लोगों ने मुझे आगे कर दिया। मैं अपने गांव की समस्याओं के बारे में बताने लगी। हमारा गांव तवा बांध से विस्थापित था लेकिन किसी को भी मुआवजे में जमीन नहीं मिली थी। कुछ लोग डूब की खेती करते थे उस पर भी सरकार लगान लेती थी। तवा जलाशय की मछली मारने का ठेका पानेवाला ठेकेदार बाहर से मजदूर लाता था। हमारे आदिवासी लोग यदि मछली पकड़ने जाते तो ठेकेदार उनको बुरी तरह से मारता, मछली की हंडी चूल्हे पर से उठा लेते थे। बहुत मुसीबतें थीं। सुनील भैया ने सुना और कहा कि हम बुधवार को चलेंगे भोपाल, मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह से मिलेंगे और इस विषय पर बात रखेंगे। गांव में लौटकर हमने इस बाबत सलाह की फिर कल्लू दादा व अन्य लोगों के साथ नियत दिन केसला पहुंची। भोपाल ट्रक से पहुंचे। क्षेत्र के दूसरे गांवों के कई सारे लोग अपनी समस्याओं को लेकर हमारे साथ थे। हम जब वल्लभ भवन पहुंचे तो हमें सुनीलजी ने मुख्यमंत्री को जाते हुए दिखाया। मुख्यमंत्री के पीछे बहुत सारी भीड़ थी तो मुझे चिंता हुई कि इतने लोगों की बात सुनने में इसे कितना समय लगेगा? सुनीलजी ने कहा कि वो पांच मिनट में पूरा निपटा देगा। हमने जल्दी-जल्दी चलकर मुख्यमंत्री को नमस्ते किया। यह कहने पर कि हम बोरी अभयारण्य क्षेत्र से आए हैं उसने चौकीदार से हमें दूसरे एक कमरे में बिठाने के लिए कहा, हम लोग जाकर बैठ गए। सुनीलजी ने मुझसे कहा, “जब मुख्यमंत्री आएगा तो पहले मैं बोलूंगा। मेरी बात खत्म होने पर आप बोलिएगा”। सही में 5 मिनट के

अंदर मुख्यमंत्री सारी भीड़ को निपटा कर आ गया। वो हमारे लिए पानी-चाय मंगवाने लगा। मंशा यह थी कि लोग चाय-पानी पीते रहें और बात न कर पाएं। मैंने जल्दी-जल्दी अपनी चाय पी, मेरे साथ के दूसरे लोग धीरे-धीरे चाय पीते रहे और सुनीलजी ने पहले मुख्यमंत्री से बात की और अपनी चाय ठंडी होने दी। सुनीलजी की बात समाप्त होते ही मुख्यमंत्री जाने लगा। मैंने उसे रोककर अपनी बात सुनाई। मैंने उनसे तवा जलाशय से विस्थापित किंतु सिंचाई के पानी, खेती की जमीन को तरस रहे मछली मारने के हक से वंचित, सरकारी लगान के बोझ से दबे अपने अंचल के लोगों की कथा सुनाई। मैंने जोर देकर कहा कि आपको हमें पानी देना होगा।

इस तरह से मीटिंगों में आना-जाना शुरू हो गया। मेरे पति को इस तरह मेरा संगठन में आना पसंद नहीं था। मेरे पति ने मेरे संगठन में आने में कई दिक्कतें पैदा कीं, कई बार मुझे मारता भी था। इसमें संगठन ने मेरी मदद की, गांव में मीटिंग बुलाई और मेरे पति को समझाया। मुझे गरीबों के लिए लड़ने में मजा आता था सो मैं आती रही संगठन में।

एक बार हमारे गांव में एक आदिवासी महिला के घर में वन विभाग के लोग लकड़ी उठाकर ले गए, उसे घूंसा मारा और पैसा चोरी कर गए। गांववालों ने नाराज होकर वन विभाग के लोगों को भगा दिया। इस बात से क्रुद्ध होकर वन विभाग के लोग अगले दिन ज्यादा गाड़ियां लेकर आए और जो भी लकड़ी मिली उसे उठाकर ले गए। ये उस घर की जलावन की लकड़ी थी। लोग केसला आकर सुनीलजी से मिले तो उन्होंने चकपुरा और सिलवानी गांव के लोगों को इकट्ठा होकर आने और सुखतवा में प्रदर्शन व भोपाल-नागपुर राजमार्ग पर चक्का जाम करना तय किया। मैं तब पत्थर की खदान में काम कर रही थी। मुझे थोड़ी देर बाद में इस सबकी जानकारी मिली। हम सब गांव की महिलाओं के साथ शामिल हुए। इस मौके पर मैं पहली बार माइक से बोली। नाकेदार इस क्षेत्र से बाहर से आकर यहां नौकरी करता है। किंतु वो जंगल का रक्षक



और कर्ताधर्ता हो जाता है। जो लोग इन जंगलों में सौ-सौ सालों से रह रहे हैं, जंगलों को बचा के रखे हुए हैं, वो आज चोर हो गए हैं। घर की मरम्मत के लिए, खाना बनाने के लिए, टंड में आग सेंकने के लिए लकड़ी लाना दुश्वार हो गया है? जबकि मेज, कुर्सी, पलंग, सब लकड़ी के सामानों पर ये लोग अपनी जिंदगियां जी रहे हैं। हमारे घरों में ये लोग घुसते हैं, हमारी महिलाओं के साथ बदतमीजी करते हैं। इतनी दादागिरी हम नहीं सहेंगे।

इस प्रदर्शन के बाद वन विभाग का बड़ा अधिकारी सिलवानी गांव में आया। गांव के लोगों पर बेवजह और बेबुनियाद केस वन विभाग के लोगों द्वारा ठोके गए थे। एक जंगली मुर्गी के अंडे पाकर यदि कोई व्यक्ति उसे सेत कर पालतू मुर्गी के साथ पाल रहा है तो वन विभाग के लोग मुर्गी उठाकर ले गए, दो सौ रुपए लिए और उसके ऊपर केस भी बना दिया। पीपलपुरा के किसी व्यक्ति से जलावन की एक गाड़ी लकड़ी जब्त की, 1100 रुपए लिए और उसके ऊपर केस बना दिया। इस तरह के अनेक केस इस इलाके के गांव के लोगों पर थे। तब हमारी मांग पर वन विभाग के बड़े अधिकारी ने इन केसों को रद्द किया। हमने उसे कई बातें भी सुनाई। उस दिन से जो मैं संगठन से जुड़ी तो आज तक इसके साथ हूं। आज भी संगठन का काम करने लिए बहुत उत्साह है मुझमें।

संगठन के काम के दौरान मैं तीन बार जेल गई हूं। एक बार भोपाल जेल और दो बार होशंगाबाद जेल गई। एक बार जब केसला पुलिस ने गांव के लोगों को थाने में बहुत पीटा था तब थाना प्रभारी और दूसरे सिपाहियों को

बर्खास्त करने के लिए हमने केसला पुलिस पर चक्का जाम किया था। तब हमें इस प्रदर्शन से रोकने के लिए नौ जिलों की पुलिस आई थी। वो हमें गिरफ्तार करके होशंगाबाद जेल ले गए।

इतनी बार जेल जाने पर भी हम घबराए नहीं। सुनीलजी थे तो हमें उनकी हिम्मत थी। उनके चले जाने से ऐसा लगता है कि हमें अब हिम्मत देनेवाला, अक्ल बतानेवाला, रास्ता बतानेवाला कोई नहीं है।

गांववालों की जिंदगी में संगठन के रहने से बहुत फर्क आया है। उसके बावजूद लोग अपनी लड़ाइयां खुद लड़ने के लिए तैयार नहीं दिखते हैं। जागरूकता, पहल और वैचारिक समझ की कमी लोगों में लगती है।

अभी भी इस क्षेत्र में बहुत समस्याएं हैं। लोगों का गरीबी रेखा की सूची में नाम नहीं है, पेंशन की सूची में नाम नहीं है, रोजगार की कमी है, जमीन विस्थापितों को नहीं मिली है, पट्टा है पर जमीन नहीं है, वनभूमि पर बसे लोगों के पास पट्टा नहीं है, मजदूरी कम है, तेंदू पत्ता का रेट कम है आदि। इन सारी समस्याओं को हल करने के लिए लड़ना होगा। हम लोग सब मिलकर इस संगठन और उसके काम को आगे ले जाएंगे।

हम रैली, धरने, जुलूस मीटिंग, कार्यकर्ता शिविर करेंगे और किसी तरह के अन्याय को नहीं सहेंगे। सुनीलजी ने अपना सारा जीवन गरीबों और अदिवासियों के उत्थान में लगाया अपने परिवार की समृद्धि में नहीं। उनके इस त्याग को हम व्यर्थ नहीं जाने देंगे।

लड़ाई जारी है

फागराम

सुनाई भाई और किसान आदिवासी संगठन से मेरा संपर्क 1992-93 में हुआ जब वे बांसलाखेड़ा/सहेली छोड़कर हमारे गांव भुमकापुरा में रहने आए। उन्होंने हमारे पड़ोसी और पूर्व सरपंच बतीबाई के घर में किराए पर रहना शुरू किया। हमारे गांव के मनीराम, बिहारी, छोटेराम और जुगन भैया संगठन में आते-जाते थे। वे हमें भी इसकी बैठकों में ले जाने लगे। सुनील से चर्चाएं होने लगीं। उस समय केसला क्षेत्र के आदिवासियों के पास पीने और खेती के लिए पानी की बड़ी समस्या थी। पहला आंदोलन जिसकी मुझे याद पड़ती है वो था 'पानी लाओ आंदोलन'। पर व्यक्तिगत रूप से जिस घटना ने मुझे संगठन और सुनीलजी से जोड़ा वो डंकल प्रस्ताव के पुतला दहन कार्यक्रम से जुड़ी हुई है। तब हमें संगठन और उसके कार्यों की समझ न के बराबर थी पर हम कौतूहल भरी निगाहों से देखते थे इस। सुनीलजी ने एक दिन हमसे पूछा, 'पुतला बनाना जानते हो?' हमने जब हामी भरी तो उन्होंने हमें एक पुतला बनाकर केसला के होली चौक पर लाने के लिए कहा। हमने मक्के की कड़पी (कट जाने के बाद के सूखे पौधे)का पुतला बनाया, उसे होली चौक ले गए। वहां पुतले में आग लगाई गई। सुनीलजी ने भाषण दिया जो हमें कुछ खास समझ में नहीं आया। पर संगठन के कार्यक्रमों में हमारी भागीदारी की शुरुआत यहीं से हुई। संगठन की मासिक बैठक में मैं लगातार जाने लगा और 1994-95 से मैं सक्रिय रूप से इसमें काम करने लगा। क्षेत्र की छोटी-छोटी समस्याओं जैसे जमीन के पट्टे, मजदूरी, मुआवजे को पाने की लड़ाइयां चलती रहीं।

संगठन के शुरुआत के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने पूरे क्षेत्र में पैदल घूम-घूमकर संगठन बनाया। सन् 1985 में केसला के आम के बगीचे में लगभग 2000 लोगों ने मिलकर किसान आदिवासी संगठन की स्थापना की। उस समय संगठन के प्रमुख कार्यकर्ता राजनारायण, सुनील, स्मिता, सुरेंद्र झा, लखन मालवीय, गिन्नी झा, आलोक सागर, नंदकिशोर जायसवल, जुगन, पुरुषोत्तम नायक, जमनालाल परते, सब्बर सिंह मंडलोई इत्यादि थे। सुखतवा में 1993-94 में नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा पुनासा बांध के विस्थापितों का एक

कार्यक्रम हुआ, उसमें हमने लोगों की कहानी सुनी, पुलिस प्रशासन के अत्याचार की बात सुनी। हमें लोगों पर हो रहे जुल्म अत्याचार की जानकारी मिली और संगठन के काम के औचित्य और आवश्यकता का अंदाजा हुआ।

हमारे इलाके में किसान आदिवासी संगठन ने अनेक लड़ाइयां लड़ीं। वन विभाग, राजस्व विभाग और पुलिस आदि गरीब आदिवासियों से बेगार करवाते थे। मारपीट, पैसा, दारू, मुर्गा मांगते थे। संगठन और गांवों की एकता के बल पर इसे बंद करवाया गया। क्षेत्र के कई स्कूलों में मास्टर (शिक्षक) नहीं आते थे। इसके लिए जब आंदोलन किया तो स्थानीय प्रशासन ने मास्टर बुलाने के बजाय प्रदर्शनकारियों को जेल में डाल दिया। इसमें सुनीलजी भी जेल गए इस नारे के साथ - 'मांगते मास्टर, मिलती जेल'।

संगठन के साथियों और गांव वालों के कहने पर मैंने पंचायत में पंच के पद के लिए पर्चा भरा और जीत गया। एक बार पंचायत की बैठक में किसी मुद्दे को लेकर बहस हो गई और कांग्रेस-भाजपा के पंच सुनीलजी पर टूट पड़े। हमें समझ में नहीं आया कि क्या मुद्दा था? मीटिंग के बाद सुनीलजी हम पर थोड़ा नाराज हुए। हमने उनसे कहा कि जिस दिन हमें बात क्या है यह समझ में आ जाएगी उस दिन हम सब काम कर देंगे। वो दिन जल्द ही आ गया। संगठन की लड़ाई तब तेज हुई जब 1994-95 में सरकार ने नए फरमान जारी किए- शेर पालने के नाम पर गांव खाली कराने के, डूब की खेती के, लगान बढ़ाने के।

तवा जलाशय में मछली पकड़ने का अधिकार विस्थापितों के हाथ में न होकर ठेकेदारों के हाथ में था। तवा बांध विस्थापितों की लड़ाई 5 सूत्री मांगों को लेकर हुई- (1) डूब की खेती का लगान माफ हो (2) तवा जलाशय में मछली पकड़ने का अधिकार स्थानीय लोगों को मिले (3) टाइगर प्रोजेक्ट के नाम पर लोगों को न उजाड़ें (4) विस्थापित लोगों को जमीन के बदले 5 एकड़ जमीन मिले (5) दो लिफ्ट इरीगेशन प्रोजेक्ट ग्राम बारधाव व सिलवानी में चालू करें। पुराना चनागढ़ गांव में एक सम्मेलन हुआ उसमें मध्य प्रदेश के अन्य जनांदोलनों के कई लोग पहुंचे जैसे

नर्मदा बचाओ आंदोलन की मेधा पाटकर। कई जगह रैलियां, धरने, नाव रैली, और संबंधित विभागों से पत्राचार चलता रहा। जब काफी लंबे समय तक यह सब चलने के बावजूद सरकार ने ध्यान नहीं दिया तो 9 दिसंबर 1995 में केसला पुल पर चक्का जाम किया गया।

डेढ़-दो हजार लोग सुबह 8 बजे से शाम चार बजे तक सड़क पर बैठे रहे। यह सड़क भोपाल-नागपुर राष्ट्रीय मार्ग है। 3 बजे स्थानीय विधायक डॉ. सीतासरन शर्मा, जिला पंचायत अध्यक्ष शीला यादव और जिला पंचायत सदस्य चंद्रगोपाल मलैया आए और हमें बात करने का आश्वासन देकर चक्का जाम हटाने को कहा। हमारी साथी और नेता बालोबाई ने अपने थैले से सूखी रोटी निकालकर विधायक महोदय से पूछा कि 'क्या वो इसे खा सकते हैं?' इस तरह के और प्रश्न और उस लड़ाई के कारणों को बताने पर विधायक निरुत्तर होकर वापस चले गए। उनके जाने के आधे घंटे बाद पुलिस ने एकदम से आंदोलनकारियों पर लाठी चार्ज किया। बूढ़ी महिलाओं पर बेरहमी से लाठी चलाई। कई लोगों को पीटा। सुनील भाई को बहुत पीटा। राजनारायण के छोटे भाई विजय का हाथ तोड़ दिया। मध्य प्रदेश के विधायक, छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के जनकलाल ठाकुर ने विधानसभा में इस लाठी चार्ज और आंदोलनकारियों पर अत्याचार की बात को उठाया। आंदोलन लगातार चलता रहा और अक्टूबर 1996 में मध्य प्रदेश मंत्रिमंडल को विस्थापितों की मांगों को मानना पड़ा। बोरी रेंज के लोगों को जबरदस्ती नहीं हटाने का, तवा जलाशय में मछली पालन का अधिकार स्थानीय लोगों के हाथ में देने का, डूब की खेती का लगान 5 वर्ष माफ करने व लिफ्ट इरीगेशन की योजनाओं को मंजूरी देने के निर्णय हुए। 10 साल तक तवा मत्स्य संघ के अंतर्गत स्थानीय लोगों द्वारा मछली पालन का काम चला। सहकारिता के माध्यम से स्थानीय संसाधनों पर स्थानीय लोगों को अधिकार मिला। तवा मत्स्य संघ का 'काम गरीबों को मौका मिलने पर काम कर दिखाने' की मिसाल बना।

बीते 25 सालों में संगठन का काम करते-करते मैं तीन-चार बार जेल गया। पहली बार समाजवादी जन परिषद के सीवान कार्यक्रम से लौटते वक्त बगैर टिकट यात्रा करने के कारण नैनी (उत्तरप्रदेश) जेल में 3-4 दिन रहे। हम लगभग 150 लोग थे। सुनीलजी को जज ने कहा कि मैं आपको छोड़ दूंगा पर बाकी लोगों को जेल में रखूंगा। सुनीलजी ने जवाब दिया कि हम साथ ही जेल से जाएंगे।

नतीजा यह हुआ कि हमें तीन दिन की सजा हुई और सुनीलजी को 6 दिन जेल में रखा। लोग अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए बगैर टिकट यात्रा करते हैं तो उन्हें जेल भेज दिया जाता है जबकि होना यह चाहिए कि उनकी समस्याओं का समाधान कर दिया जाए ताकि उन्हें इधर-उधर भटकना ही न पड़े।

इसके बाद 1999 में जेल गए, केसला थाने के थानेदार और सिपाहियों की बर्खास्तगी की मांग को लेकर। केसला थाने में पास के गांव के कुछ लोगों को थाने में लाकर बेरहमी से पीटा गया था। इसके विरोध में प्रदर्शन और चक्का जाम करते 250-300 लोगों को गिरफ्तार कर होशंगाबाद जेल ले जाया गया। अगर पुलिस के इस तरह के व्यवहार को नहीं रोका जाता तो उनका जुल्म और अत्याचार बढ़ता ही जाता।

तीसरी बार का किस्सा सोहागपुर क्षेत्र का है। वन विभाग के नाकेदार ने जंगल से लकड़ी का गट्टर ला रही महिलाओं से लकड़ी का गट्टर छीन लिए, साथ ही छेड़खानी और गाली-गलौज भी की। बाद में लोगों ने इसके खिलाफ जुलूस निकाला, लकड़ी वापस उठा ली और नाकेदार से माफी मंगवाई। इस सबमें उस क्षेत्र के संगठन के आदिवासी नेता मोतीराम तेकाम शामिल थे, मैं वहां था भी नहीं। पर मेरे ऊपर लूटपाट और जान से मारने की धमकी देने के झूठे केस लगा के मुझे गिरफ्तार कर लिया और पिपरिया जेल में रखा। जेल के अंदर अन्य कैदियों द्वारा मुझे बेल्ट से पीटवाया गया और मिर्ची खिलवाई गई। बाद में समझ में आया कि जान बूझकर मुझे डराने के लिए प्रशासन और सरकार ने ऐसा किया था।

1995 में समाजवादी जन परिषद के साथ जुड़कर हम चुनावी राजनीति में आए। पंचायत, जनपद, जिला पंचायत, विधानसभा, लोकसभा सभी चुनाव मैंने और अन्य संगठन के साथियों ने इस क्षेत्र में सजप के बैनर तले लड़े। जिला पंचायत स्तर तक हमें जीत भी हासिल हुई। विधानसभा-लोकसभा चुनाव में हम जीते नहीं पर हमारे क्षेत्र में हमारी तीसरी स्थिति बनी रही। मैंने 1998, 2004, 2009 और 2014 में विधानसभा चुनाव सजप के उम्मीदवार के रूप में लड़ा। साथ ही इस बार का लोकसभा चुनाव मैंने पड़ोसी जिला बैतूल, जहां हमारी पार्टी का काम है, वहां से लड़ा।

सुनीलजी को हम अपना राजनैतिक गुरु मानते हैं। सुनीलजी से हमने बहुत कुछ सीखा। सादगी से जीवन

जीना, ईमानदारी से राजनीति करना, सामूहिक नेतृत्व को प्राथमिकता देना, संगठन की मजबूती पर ध्यान देना, विज्ञप्ति लिखना, पर्चे बनाना, लगातार नए कार्यकर्ताओं की तलाश करना, आंदोलन के साथ-साथ विचारों का फैलाव करना, महिलाओं का सम्मान करना इत्यादि।

मैं ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं हूँ पर सुनीलजी ने मुझे हमेशा पढ़ने-लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। कई बार इतनी सारी पुस्तकें, लेख पढ़ने के लिए दे देते कि शुरुआत में घबराहट होती थी। पर धीरे-धीरे पढ़ने की, लिखने की आदत हो गई। सुनीलजी सदैव पार्टी एवं संगठन के विचारों को फैलाने के लिए छोटी-छोटी पुस्तिकाएं निकालते, उनकी बिक्री के लिए स्टाल लगाते, रैली-धरने-मीटिंगों में किताब बिक्री नियमित रूप से होती, जिसका हिसाब भी हम लोग रखते।

वे छोटे से छोटे कार्यकर्ता और छोटी से छोटी समस्या पर समान ध्यान और महत्व देते। वे कहते थे कि जब तक ऊपर से नीचे तक व्यवस्था नहीं बदलेगी तब तक यह लड़ाई चलती रहेगी। इस इलाके में जागृति आई है। पहले लोग सरकारी लोगों से डरते थे। आज संगठन ने लोगों को बोलना

सिखा दिया है। अन्याय के खिलाफ खड़ा होना सिखा दिया है। हमने कई आंदोलन किए, लड़ाइयां लड़ीं लेकिन विचारधारा और सिद्धांत को लोगों को समझाने, वैचारिक समझ बनाने में हम लोग सफल नहीं हो पाए हैं। लोगों की जिंदगी में गुणात्मक परिवर्तन हुआ है। मकान, खान-पान, रहन-सहन, खेती-बाड़ी, शिक्षा इत्यादि में सकारात्मक बदलाव आया है। लेकिन समानता और सादगी वाली समाजवादी विचारधारा से लोगों को हम जोड़ नहीं पाए हैं।

सुनीलजी के अचानक जाने से संगठन, पार्टी और इलाके में एक शून्यता आई है। लेकिन हिम्मत हारे बगैर हमारी विचारधारा के आधार पर हम पार्टी और संगठन के काम को अपने क्षेत्र में आगे बढ़ाते रहेंगे। सुनीलजी पिछले कुछ समय से इटारसी और होशंगाबाद के पास मालाखेड़ी में नशाबंदी आंदोलन को खड़ा करने में लगे हुए थे। नारी जागृति मंच नामक संगठन भी उन्होंने मिलकर बनाया था, उसे भी आगे बढ़ाने का प्रयास हम करते रहेंगे। अब नए सिरे से संगठन और पार्टी को खड़ा करने की जिम्मेदारी नई पीढ़ी पर है। इसे करने के लिए हमारी कोशिश जारी रहेगी। लड़ाई जारी रहेगी।

झोलावाले लोग

जुगन

राजनारायणजी पहले इस क्षेत्र में आदिवासियों और गरीबों के हित में काम करने के लिए आए। वो गांव-गांव लोगों की समस्याएं जानने और उसके बारे में गांव के लोगों से सलाह-मशविरा करते। इसी तरह वो हमारे गांव में आए। थाने में, सरकारी दफ्तरों में, झंडा-बैनर लेकर हम इन समस्याओं पर आंदोलन करने लगे। ऐसा करते हुए छह महीना-एक साल हुआ होगा तब सुनीलजी भी आकर हमसे जुड़ गए। वन विभाग के लोग किसानों को जंगल से लकड़ी लाने, पशु चराने, वनोपज बीनने आदि से रोकते थे। कई बार लगान लगाते थे, मारते थे और लकड़ी जब्त कर लेते थे। इस समस्या को लेकर हम वनाधिकारी के कार्यालय और वहां से रैली लेकर केसला थाने पहुंचे। केसला में साप्ताहिक बाजार हर रविवार को लगता है। इस धरना-आंदोलन की शुरुआत करके हर रविवार हम लोग केसला में अलग-अलग समस्याओं को लेकर रैली-जुलूस निकालने

लगे। यह लगभग तीस साल पुरानी बात है। उसी समय एक पैदल यात्रा भौरा से भोपाल, उस समय के मुख्यमंत्री मोतीलाल बोरा से मिलने और अपनी मांगों को रखने के लिए निकाली गई। उसमें हम लोग शामिल हुए। हमारी मुख्य मांगें पानी, रोजगार, खेती के लिए जमीन आदि की व्यवस्था की थी जिससे हमारे क्षेत्र में व्याप्त भुखमरी दूर हो। मुख्यमंत्री ने हमारी मांगें मानी। कई छोटी-छोटी नदियों पर छोटे-छोटे बांध बनाए गए, जिससे खेती के लिए पानी की समस्या दूर हुई। पीने के पानी, गांवों में स्कूल और सरकारी अस्पतालों की व्यवस्था पहले से बेहतर हुई। चौदह दिन के अंदर राहत कार्य शुरू किया गया।

सुनीलजी से पहली मुलाकात की बात सोचने पर वह समय याद आता है जब भुमकापुरा (हमारा गांव या मोहल्ला) में बिजली नहीं थी। मिट्टी का तेल भी राशन की दुकान से ठीक से मिलता नहीं था और एक दिया जलाना मुश्किल था।

सुनीलजी और राजनारायणजी के साथ मिलकर हमने बिजली लाने की लड़ाई लड़ी। सिर्फ हमारे गांव के लिए ही नहीं बल्कि इस इलाके के अन्य गांवों में भी बिजली आए यह हमारी मांग थी। सबसे पहला लट्टू भुमकापुरा में लगा।

उसके कुछ दिन बात राजनारायणजी की रोड दुर्घटना में मौत हो गई। तब सुनीलजी ने संगठन का काम संभाला। सुनील और राजनारायणजी से मिलकर हमें बहुत उत्साह-ऊर्जा मिली और संगठन से जुड़कर मैंने और मेरी पत्नी फूलाबाई ने तेजी से इसके काम को बढ़ाया। शांतिबाई, गुलियाबाई को भी संगठन से जोड़ा गया। सुनीलजी का कहना था कि राजनीति करने के लिए लगातार नए-नए कार्यकर्ताओं को जोड़ना होगा। बाद में मेरे बच्चे भी संगठन के काम से जुड़े।

जब संगठन का काम शुरू हुआ तब काफी लोग डरते थे। मुझसे कहते कि 'झोलावाले लोग' के पीछे क्यों घूमते हो? तुम पिट जाओगे, जेल चले जाओगे। धीरे-धीरे संगठन में लोग इस सबके बावजूद जुड़ते गए। संगठन के आने से यहां की स्थिति में सुधार आया है। खेती के लिए सिंचाई की व्यवस्था होने से लोग खुद उगाया हुआ अनाज खा रहे हैं, भुखमरी की स्थिति अब नहीं के बराबर है।

सुनीलजी के नहीं रहने से भी संगठन के काम को हम आगे ले जाएंगे। इस जगह से अब पांच सुनीलजी और निकलेंगे। सुनीलजी के न रहने से एक सत्राटे का पहरा जैसा तो है पर हम गांव-गांव में सूचना देकर मीटिंग करने और आंदोलन को आगे बढ़ाने की रणनीति हमारी है।

एक घटना याद आती है। यहां पर तवा जलाशय में ठेकेदार मछली पकड़ कर ले जाते थे। तवा विस्थापित गांव के लोगों ने पांच तारीख को संगठन की मासिक बैठक में आकर यह तय किया कि मत्स्याखेट का अधिकार हमारे हाथ में हो।

सुनील भाई ने इस बात को सुनकर हम सबको यह साहस दिया कि हम तवा में मत्स्य पालन की लड़ाई लड़ सकते हैं। हमारा नारा था 'जान जाए तो जाए, पर हक्क मेरा न जाए'। जब केसला पुल पर चक्का जाम किया तो पुलिस हम निहत्थे आंदोलनकारियों पर लाठी चार्ज करने लगी। सुनीलजी को निशाना बनाकर पुलिस ने इतना पीटा कि उनका हाल-बेहाल हो जाए। इस बात से हममें और जोश चढ़ा और हमने प्रण लिया कि हम इस लड़ाई को मंजिल तक पहुंचाएंगे। सारे मुख्य कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार करके पुलिस जेल ले गई। मैं और चार-पांच साथी बाहर बचे। हमने तय किया कि भोपाल में विधानसभा चल रही है वहीं जाकर कुछ हंगामा किया जाए। जगह-जगह नाकेबंदी थी और लोगों को आगे जाने से रोका जा रहा था। हम लोगों ने कई बार रास्ता बदला। भोपाल पहुंचकर हम कई विधायकों से मिले और उनसे विधानसभा में हमारी बात रखने को कहा। भोपाल गैस पीड़ितों के संगठन और जन-संघर्ष मोर्चा के अन्य साथियों के साथ हमने विधानसभा के बाहर धरना देना शुरू किया। विधानसभा में छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के जनकलाल ठाकुरजी ने हमारी बात रखी। आखिरकार मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह को हमारी बात माननी पड़ी और तवा मत्स्य सहकारी संघ को मछलीपालन का अधिकार मिला। गांव में झगड़े होते तो गांव की अपनी बैठक में समझौते होना ठीक रहता है। जब ये बात पुलिस तक पहुंचती तो वो दोनों तरफ से घूस लेती। पुलिस-प्रशासन की ज्यादतियों के खिलाफ कई लड़ाई संगठन ने लड़ी।

राजनारायण के गुजर जाने के बाद, सुनीलजी की अगुवाई में 11 लोगों ने उनकी स्मृति में संगठन का कार्यकर्ता बनने और ताउम्र संगठन का काम करने का प्रण लिया था। मैं उन ग्यारह में से एक था। सुनीलजी के गुजरने के बाद भी इस काम को आगे बढ़ाने के लिए ऐसी ही कार्यकर्ताओं की एक टीम बननी चाहिए।



बांसलाखेड़ा वाले नेता

राजीव बामने

बचपन में मैंने अक्सर अपने गांव के लोगों के मुंह से सुना था कि बांसलाखेड़ा वाले नेता रैलियां निकालते हैं और सादा जीवन बिताते हैं। पांव में टायर की चप्पल पहनते हैं तथा हमेशा झोला लेकर घूमते रहते हैं। पहली बार उनके कार्यक्रम में जाने का मौका रीवा में एक सीमेंट फैक्ट्री के विरोध में आयोजित रैली में मिला। करीब 14-15 साल पुरानी बात है। हम अपने साथियों के साथ घूमने इस रैली में गए थे हालांकि कार्यक्रम में कुछ समझ में नहीं आया था। फिर एक लंबे अंतराल के बाद काम के चक्कर में मैं भूमकापुरा में कमरा ले के रह रहा था। तब वहां से अक्सर सुनीलजी थैला टांगे, मोबाईल पर बात करते हुए निकलते दिख जाते। उस समय हमारे कुछ साथी विद्यार्थी युवजन सभा के संपर्क में थे। उन्होंने मुझे एक बार मीटिंग में बुलाया और उसका सदस्य बना दिया। धीरे-धीरे सुनीलजी से मेरा संपर्क बढ़ा और व्यक्तिगत तौर पर भी मुलाकातें और चर्चाएं होने लगीं। उनसे नित नई-नई बातें सुनने को मिलतीं, ऐसी बातें जो और कहीं नहीं मिलती। मेरे मन में और जानने की जिज्ञासा रहती तो सुनीलजी किताबें पढ़ने को प्रेरित करते तथा अपने लेख पढ़ने को देते। इतना ही नहीं मुझे भी कुछ विषयों पर लेख लिखने के लिए प्रोत्साहित करते जो मैं अपने बस से बाहर की बात समझता था।

सुनीलजी के मार्गदर्शन में विद्यार्थी युवजन सभा की गतिविधियों को समझने का मौका मिला। विद्यार्थी युवजन सभा के उद्देश्य को ध्यान में रखकर धीरे-धीरे क्षेत्रीय स्तर पर गतिविधियों का आयोजन होने लगा। इस दौरान विद्यार्थियों और नौजवानों से संपर्क बढ़ा और पता चला कि इन्हें छोटी-छोटी समस्याओं से बहुत परेशान होना पड़ता है जैसे जाति प्रमाण पत्र और आय प्रमाण पत्र बनवाने के लिए, फीस भरवाने और दाखिला करवाने के लिए, घर से दूर पढ़ने जाते समय सरकारी अनुदान से चलनेवाले छात्रावासों के अभाव में बाहर रहने से आदि। जगह-जगह घूस देना पड़ रहा था इन गरीब आदिवासी-दलित बच्चों को। इन समस्याओं को दूर करने के लिए विद्यार्थियों को संगठित कर उनको स्वयं संघर्ष के लिए आगे लाने की कोशिश की गई, विद्यार्थी

युवजन सभा के बैनर तले। इसका मकसद उन्हें इस शोषणकारी व्यवस्था की जटिलताएं और उनसे मुक्ति के रास्ते समझाना भी था। इस काम में अधिकांश मुद्दों पर हमें सफलता मिली और विद्यार्थियों के अंदर संगठन की भावना तथा संगठित होकर काम करने में विश्वास पैदा हुआ।

कई बार भावुक होकर विद्यार्थियों की समस्या को तुरंत हल कराने के चक्कर में हम रहते तो सुनीलजी कहते थे कि किसी भी समस्या पर पहले मीटिंग बुलाकर संबंधित व्यक्ति को पूरी प्रक्रिया से अवगत कराना चाहिए। उनकी समस्या को दूर करने की लड़ाई में उन्हें खुद शामिल होना चाहिए।

समय के साथ मैं संगठन का एक सक्रिय कार्यकर्ता बन गया। संगठन कार्यालय में रहकर मैं संगठन का काम भी करता और अपनी पढ़ाई भी। वहीं सुनीलजी के साथ काम करते हुए मैंने प्रेस विज्ञप्ति बनाना, उसे बांटने जाना, ज्ञापन लिखना जैसे काम सीखे। सुनीलजी के साथ कई बार सेमिनारों में जाने का मौका मिला। वहां ऐसी बातें भी सुनने को मिलतीं जो और कहीं नहीं मिलती थी। मुझे उन्होंने साहित्य बिक्री का काम भी सिखाया। कई बार उनके साथ रूमाल फैलाकर चंदा मांगने का अनुभव रहा। हम अगर इस कार्य में संकोच करते तो वो स्वयं रूमाल का एक सिरा पकड़कर एक-एक, दो-दो रुपया इकट्ठा करते। शहरों में भी सुनीलजी बिना किसी झिझक के घर-घर चंदा मांगने चले जाते थे। मैंने जो कुछ भी सुनीलजी से सीखा वो उनके समुद्र जैसे ज्ञान और आंदोलनकारिता से एक बूंद पानी के समान रहा होगा।

संगठन का लगातार प्रयास हमारे इलाके में रहा कि काम सही तरीके से होना चाहिए। गलत तरीके अपना कर सही काम नहीं किया जा सकता, भले ही सही तरीके में थोड़ा समय ज्यादा क्यों न लगे। संगठन के सिद्धांतों और कार्य के चलते इस इलाके में संगठन की एक विशिष्ट पहचान है। संगठन की ताकत की वजह से नाकेदार, पुलिस, पटवारी लोग बेवजह लोगों को परेशान करने से डरते हैं। संगठन जहां है वहां लोग सरकारी नौकरशाही से मुक्त हैं। इस क्षेत्र में चाहे नौकरशाही हो या राजनेता या मीडिया, इन सबके समक्ष समाजवादी जन परिषद एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

वे और नारी जागृति मंच

विद्या मिश्रा

सुनील भैया व्यक्ति नहीं, विचारों के अनवरत प्रवाह थे। उनके जाने से विचारों की अनवरत धारा प्रभावित हुई है। सुनील भैया की चिंता सभी विषयों पर थी चाहे किसानों, आदिवासियों की दशा हो, गरीबी-बेरोजगारी हो, शिक्षा-स्वास्थ्य का गिरता स्तर हो या देश के तेजी से बदलते राजनैतिक हालात उनके कृतित्व और व्यक्तित्व को कागज पर पंक्तिबद्ध नहीं किया जा सकता।

हम अक्सर समस्या के समाधान पर चर्चा करते हैं पर सुनीलजी की सोच के केंद्र में समस्याएं पैदा ही न हों इसके लिए लोगों में सजगता लाना होता था। उनके निधन का समाचार आने के बाद 22 अप्रैल को सामयिक वार्ता के दफ्तर में शोकसभा हुई। इसमें कश्मीर उप्पल जी ने कहा कि 'सुनील हजार लोगों का काम अकेले ही करते थे। उनके जाने के बाद हमें भी हजारों की संख्या में इकट्ठा होकर आगे आना और संगठित होकर देश के लिए काम करना है।' सुनील भैया से एक बार मैंने अपनी बेटी विधि की शिकायत करते हुए कहा कि 'विधि पढ़ती नहीं है। बड़े होकर कंडे थोपेगी क्या?' उन्होंने जवाब दिया- 'कंडे थोपना कौन सी बुरी बात है, वो भी एक जरूरी काम है।' इस घटना से मुझे समझ में आया कि वे छोटे से छोटे कार्य को कितना महत्व देते थे।

16 दिसंबर 2012 को दिल्ली में हुए निर्भया कांड के बाद सारा देश गुस्से में था। तब सुनील भैया ने इस गुस्से से आगे जाकर महिलाओं के हित में आंदोलन और संगठन बनाने की बात चलाई। तत्पश्चात 23 दिसंबर 2012 को वार्ता कार्यालय में बैठक रखी गई। इस बैठक में नशाखोरी, महिलाओं पर बढ़ते अत्याचार, भेदभाव पूर्ण व्यवहार के विरोध में एक संगठन का निर्माण होना चाहिए, यह तय हुआ। इसके बाद और कुछ बैठकें इस सिलसिले में हुईं। नतीजा 6 जनवरी 2013 को नारी जागृति मंच के गठन के रूप में हुआ। नारी जागृति मंच ने इटारसी में हर वार्ड में बैठक बुलाई और इकाईयां बनाकर महिलाओं के हित में काम करना शुरु किया। 8 मार्च 2013 को मंच ने 350 महिलाओं के साथ लंबी रैली निकालकर अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाया।

जब इस कार्यक्रम की तैयारी चल रही थी, तब स्मिताजी की छोटी बहन बहुत बीमार थी और उन्हें एंबूलेंस से ले जाया जा रहा था। मैंने उन्हें तैयारी के संदर्भ में फोन किया तब उन्होंने बहुत ही सहजता से मुझसे बात की। मुझे

जब उस विशेष परिस्थिति का पता चला तो मैं उनकी असहज परिस्थितियों में सहज रहने और काम के प्रति समर्पण को देखकर दंग रह गई। कभी वार्ता कार्यालय में तो कभी घर में बैठकर उनके साथ वार्ता का लंबा समय गुजरता था। गांधी जी को तो मैंने पढ़ा और सुना है पर जेएनयू के गांधी सुनील को देखा, सुना, सीखा और उनके साथ काम करने का अवसर मिला।

तेरे लिए हैं सारे जतन

लखनलाल मालवीय

किसान आदिवासी संगठन इस क्षेत्र में राजनारायण और सुनीलजी के आने के बाद बना। तब डूब की जमीन पर खेती के लिए 50 रुपए सालाना लगान लिया जाता था। विस्थापित लोग आकर वन विभाग की भूमि पर घर बनाके रहते थे और उन्हें वन विभागवाले बार-बार खदेड़ते थे। संगठन की मीटिंग में यह सब लोग आने लगे। स्थानीय लोगों की मांगों को लेकर लड़ाइयां लड़ी, जेल भी गए, बदलाव भी आया। इसका असर आज भी देखने को मिलता है इस इलाके में। बाद में तवा मत्स्य संघ बना। जिसमें सुनीलजी ने सारे महत्वपूर्ण काम और पद आदिवासियों के हाथ में सौंपे। उसके सलाहकार के रूप में वे कार्य करते थे। यह एक सफल प्रयोग था। लेकिन बाद में सरकार ने इसे बंद कर दिया क्योंकि उसे इसमें पैसा खाने को नहीं मिल रहा था। एक बार कोई मंत्री आया तो कहने लगा कि, 'इन आदिवासियों को इतना पैसा (मछली का दाम) और भत्ता-बोनस देने की क्या जरूरत है। इन्हें 4-5 रुपए दे दो मछली के, काफी हैं।' सुनीलजी सिद्धांत के बिल्कुल मजबूत थे। मेरे पास पहले घर नहीं था, मैं किराए के घर में रहता था। उस समय वन विभाग के लोग जंगल से लकड़ी लाकर घर नहीं बनाने देते थे। तब सुनीलजी और फागराम दोनों मेरे गांव आए थे। गेड़े (छत की लकड़ी) इन लोगों ने ही ठोंके। और वन विभाग के लोगों की हिम्मत नहीं हुई हमें रोकने की। संगठन और आंदोलन के दौरान मैंने कई गीत भी लिखे जैसे

'मेरे वतन ओ मेरे वतन, तेरे लिए है सारे जतन।

अंधियारी रातों को भई, कभी तो ढलना होगा।

कांटे हैं इन राहों पर, राह तो चलना होगा।

साथ चलेंगे हम कदम कदम, तेरे लिए हैं सारे जतन।'

तो साथी सुनील तेरी दिखाई इस समाजवाद की राह पर हम लगातार चलते रहेंगे जब तक हममें जान है। यही हमारी श्रद्धांजलि है।

प्रधानमंत्री के नाम जेल से खुला पत्र

सुनील और उनके साथी राजनारायण का प्रधानमंत्री को जेल से लिखा गया पत्र यहां दिया जा रहा है। यह जेल में बंद किन्हीं दो कैदियों का कोई शिकायती पत्र नहीं है। यह पत्र उन हजारों किस्सों में से कुछ किस्सों को बयान करता है जिससे हम जान पाते हैं कि हमारे देश में गरीब-आदिवासी किस प्रकार के अपमान, दमन और छलावे में जीवन व्यतीत कर रहे हैं और दूसरी तरफ इसके खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। 26 अप्रैल 1990 को राजनारायण के निधन के बाद 'किसान आदिवासी संगठन' के तब तक के आंदोलन और संघर्ष की कहानी को समेटते हुए 'लड़त जा रे' नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित की गई थी। यह पत्र उस पुस्तिका में शामिल था।

सेवा में,
श्री राजीव गांधी
प्रधानमंत्री, भारत सरकार, नई दिल्ली

महोदय,
हम यह पत्र आपको होशंगाबाद जेल से लिख रहे हैं। हम नहीं जानते हैं कि यह पत्र आप तक पहुंचेगा या नहीं क्योंकि आप इतने दरबारियों, मातहतों, चमचों और सुरक्षाकर्मियों से घिरे रहते हैं कि आम लोगों की कोई भी आवाज आप तक पहुंचना मुश्किल ही लगता है।

हम यह भी नहीं जानते हैं कि आपका कोई जवाब हमें मिलेगा या नहीं। लगभग साढ़े तीन साल पहले भी, 25 दिसंबर, 1985 को, जब केसला में पहला किसान आदिवासी सम्मेलन हुआ था और किसान आदिवासी संगठन की स्थापना हुई थी, आपको एक पत्र भेजा था जिसमें अपनी तमाम तकलीफों और मांगों का बयान किया था। आपके कार्यालय से पावती तो मिली, लेकिन कोई जवाब आज तक नहीं मिला, और न ही आदिवासी क्षेत्र के लोगों की तकलीफों में कोई कमी आई, उल्टे इस बीच में तकलीफें बढ़ती गईं। फिर भी यह चिट्ठी लिख रहे हैं कि शायद आप और आपकी सरकार में बैठे लोगों की अंतरात्मा कुछ हिले।

जब आप नए-नए प्रधानमंत्री बने थे तो आपने आदिवासी इलाकों का खूब दौरा किया, आदिवासियों के साथ तस्वीरें खिंचवाईं और उनके साथ भोज किया। इसके बाद आप आदिवासियों के बारे में भूल गए। अब, जब चुनाव नजदीक आ गए हैं, आपको फिर उनकी याद आई

और आप फिर से हरिजन-आदिवासियों के हितों में लंबी-चौड़ी बातें करने लगे हैं। लेकिन हम आपको बताना चाहते हैं कि होशंगाबाद और बैतूल जिले के आदिवासी व अन्य किसानों का शोषण, उत्पीड़न, लूट और उन पर अत्याचार लगातार बढ़ते जा रहे हैं।

हमें याद है कि आपने एक बार आदिवासियों के बीच कहा था कि जंगलों पर पहला हक आदिवासियों का है। दूसरी ओर आपकी सरकार का वन विभाग लगातार आदिवासियों पर जंगल से अपनी जरूरत की लकड़ी लाने के एवज में जुल्म ढा रहा है और उन्हीं के जंगलों में उन्हीं को चोर ठहराया जा रहा है। हम आपसे पूछना चाहते हैं कि आप व आपके दरबारी तो करोड़ों रुपयों की आलीशान कोठियों में रहते हैं, क्या आदिवासी को अपनी मेहनत से लकड़ी की झोपड़ी बनाने का भी हक नहीं है? आप तो वातानुकूलित महलों और कारों में रहते हैं, क्या उन्हें ठंड दूर करने के लिए लकड़ी का अलाव भी जलाने का हक नहीं है?

मानो आदिवासियों की लूट से आपके लोगों का मन नहीं भरा था, उन्होंने दो साल पहले, एक और नया टैक्स- 'रानवा' (जंगलों में चराई का शुल्क) शुरू कर दिया और उसके बहाने अनाप-शनाप लूटना व ढोरों को कांजी हाउस में बंद करना शुरू कर दिया। आपको तो यहां के गौरवशाली इतिहास की जानकारी नहीं होगी, लेकिन हम आपको बताना चाहते हैं कि आजादी की लड़ाई के दौरान इसी टैक्स और लकड़ी के निस्तार के हक को लेकर यहां के आदिवासियों ने विद्रोह किया था और बंजारीदाल में अंग्रेजों की फौज से

लोहा लिया था। हमें यह बताने में शर्म आती है कि जिस टैक्स को अंग्रेजों ने खत्म कर दिया था उसे आपके राज में फिर शुरू कर दिया गया।

हम आपको यह भी बताना चाहते हैं कि जिस प्लानिशन कार्यक्रम की आप चर्चा करते हैं, वह हमारे इलाकों में आदिवासियों के खेत छुड़ाने और उनके ढोरों की चराई की जमीन पर वन विभाग द्वारा कब्जा करने का एक कार्यक्रम बन गया है। नजरपुर, सारादेह, बांदरी, झिरना आदि अनेक गांवों में ऐसा हुआ है। तवा बांध, प्रूफ रेंज, आर्डिनंस फैक्ट्री से उजड़े लोग आपके इस कार्यक्रम से एक बार फिर उजड़ने की आशंका से त्रस्त हो गए हैं। हमें समझ में नहीं आता कि एक ओर खुद आपके लोगों ने कानूनी व गैरकानूनी तौर पर यहां के घने जंगल कटवा दिए हैं और अभी भी कटवा रहे हैं, दूसरी ओर आप ये पेड़ लगाने का नाटक क्यों कर रहे हैं।

आपके शासन के ही द्वारा दिए गए प्रमाण पत्रों के आधार पर बीस साल से प्रूफ रेंज विस्थापितों को जमीन व पट्टे नहीं मिले, और पिछले साल उन्हें कई-कई दिनों तक भूखा-प्यासा रहकर धरना करना पड़ा, जेल जाना पड़ा, फिर भी आज अनेक परिवारों को जमीन व पट्टे नहीं मिले। पिपरिया खुर्द के दो आदिवासी ननकीराम व अमरसिंह पिछले एक साल से अपनी जमीन पर कब्जा पाने के लिए तहसील के चक्कर काट रहे हैं लेकिन उन्हें मिली सिर्फ निराशा, झिड़कियां और गालियां। यही नहीं, बरसों से खेती करते आ रहे हरिजनों-आदिवासियों को 'अतिक्रमण' बताकर उन्हें तरह-तरह से तंग किया जा रहा है, और उनसे जुर्माना व घूस ली जा रही है। आपके शासन ने 'पट्टे' नामक चीज को गरीब लोगों को डराने, धमकाने, ललचाने, लूटने, खरीदने व ब्लैकमेल करने का धंधा बना लिया है। यहां तक कि बुढ़ों और विधवाओं की नसबंदी करने के लिए भी इसका इस्तेमाल पिछले वर्षों में किया गया है।

हम दो महीनों से होशंगाबाद जेल में बंद हैं। हमारा जुर्म इतना है कि हमने लगातार इलाके के गरीब किसानों-मजदूरों के संगठन का काम किया है और लूट, अत्याचार, भ्रष्टाचार व गांव की तकलीफों के संबंध में गांववासियों की लड़ाई में उनका साथ दिया है। बदले में आपकी सरकार ने यह 'पुरस्कार' हमें दिया है कि हमारे अनेक कार्यकर्ताओं पर अनेक मुकदमे लाद दिए गए हैं। हमें इसका कोई रंज नहीं है क्योंकि आपकी सरकार के चरित्र को जानते हुए हमें यही उम्मीद थी। लेकिन हम आपसे कुछ सवाल उन गुनाहों के बारे में भी पूछना चाहते हैं कि

जो आपके लोगों ने किए हैं।

25 नवंबर, 1986 को मुख्यमंत्री श्री मोतीलाल वोरा ने अपने निवास पर एक हजार गांववासियों के बीच, जो पांच दिन पैदल चलकर वहां पहुंचे थे, घोषणा की थी कि केसला की छह लघु सिंचाई योजनाएं स्वीकृत कर दी गई हैं और 15 दिन के अंदर उन पर काम लग जाएगा। काम लगना तो दूर, बाद में पता चला कि उनकी मंजूरी भी नहीं दी गई।

श्री वोरा ने सूखाग्रस्त किसानों की वसूली माफ करने, विस्थापितों को पट्टे देने और आदिवासियों को तंग करनेवाले कर्मचारियों के खिलाफ कार्रवाई की घोषणा भी की थी जो झूठी साबित हुई। इसी प्रकार इटारसी के विधायक जो अब उपमंत्री बन गए हैं, ने भी समय-समय पर छह लघु सिंचाई योजनाओं की मंजूरी की झूठी घोषणा की। केसला में इन्होंने राशन बढ़ाने की घोषणा की, वह भी बंद हो गया। क्या श्री वोरा और श्री काकूभाई के खिलाफ धोखाधड़ी और झूठ बोलने के लिए दफा 420 का प्रकरण कायम किया जाएगा?

21 नवंबर, 1987 को इटारसी जयस्तंभ पर आदिवासी पदयात्रियों की सभा में धक्का-मुक्की, गाली गलौच करने और माइक छीननेवाले कांग्रेसी छुटभैये व उसके गुंडों के खिलाफ कोई मुकदमा क्यों नहीं बनाया गया? इटारसी के एसडीएम तथा एसडीओपी की जिनकी मौजूदगी और जिनके निर्देशन में यह काम हुआ, और जिनकी शिकायत मुख्यमंत्री, कलेक्टर व एसपी से की गई, के खिलाफ कोई कार्रवाई क्यों नहीं की गई?

सहेली गांव में दर्जनों हरिजनों-आदिवासियों के नाम पर बैंक से पैसा निकालने और कमीशन व दलाली लेने के कांड में शामिल बैंक कर्मचारियों व दलालों को गिरफ्तार नहीं किया गया जबकि इसकी शिकायत मुख्यमंत्री से की गई थी, आखिर क्यों?

25 नवंबर, 1987 को अपनी मांगों के समर्थन में केसला ब्लाक दफ्तर पर धरना दे रहे आदिवासी स्त्री-पुरुषों के साथ धक्का-मुक्की और दुर्व्यवहार करनेवाले कांग्रेसी गुंडों, पुलिसवालों और कर्मचारियों के खिलाफ कोई मुकदमा क्यों नहीं किया गया, जबकि सैकड़ों लोगों ने अपने अंगूठे-दस्तखत से इसकी शिकायत केसला थाने में की थी? उल्टे किसान आदिवासी संगठन के कार्यकर्ताओं पर फर्जी मुकदमों क्यों कायम किए गए?

जुलाई 1987 में सिवनीमालवा ब्लाक के सालई गांव के आदिवासियों के साथ बुरी तरह मारपीट करनेवाले, पूरे

गांव में लूटपाट करनेवाले और गांव की एक आदिवासी स्त्री के साथ सामूहिक बलात्कार करनेवाले वनकर्मियों और एसएफ के जवानों के खिलाफ कोई भी कार्रवाई क्यों नहीं की गई? क्या उनके लिए अलग कानून बने हैं?

जून 1988 में वन विभाग के नाकेदार ने पिपरियाखुर्द के मूलचंद का हाथ तोड़ दिया और उसकी कुल्हाड़ी, गाड़ी, बैल व लकड़ी रख ली। इससे पहले आप लोगों ने उसके बाप-दादों की जमीन पूर्फरेंज में हड़प ली थी। हमने केसला थाने में रिपोर्ट दर्ज करवाई, डाक्टरी जांच करवाई, होशंगाबाद डीएफओ व कंजर्वेटर से मिले। इन चक्करों में मूलचंद का डेढ़ साल का बच्चा बीमार होकर मर गया। हाथ तोड़ने का और बच्चे की हत्या का जिम्मेदार वन विभाग है। लेकिन नाकेदार बरखास्त तक नहीं हुआ, जेल में बंद तक नहीं हुआ। मूलचंद को हर्जाना तक नहीं मिला। पिपरिया के पास कुसीखापा गांव के आदिवासियों को अमानवीय यातनाएं देनेवाले और अपनी चोरी छुपाने के लिए उन पर झूठे मुकदमे बनानेवाले वनकर्मियों के खिलाफ कोई कार्रवाई क्यों नहीं की गई?

केसला में सहकारी समिति की उचित मूल्य की दुकान से कालाबजारी के लिए चावल ले जाते रंगे हाथों पकड़ने पर भी समिति सेवक और सेल्समेन के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं होती है उल्टे इस चोरी को पकड़नेवाले किसान आदिवासी संगठन के कार्यकर्ता और केसला के सरपंच पुरुषोत्तम नायक पर एक झूठा मुकदमा बना दिया जाता है, क्यों?

पिपरिया के पास बुधनी गांव के सारे आदमियों, स्त्रियों, बुजुर्गों को एक हवलदार की हत्या के झूठे केस में पुलिस अमानवीय यातनाएं देती है और मार-मारकर झूठा कबूल भी करवा लेती है जबकि वह हवलदार बाद में जिंदा मिल जाता है और न उसके खिलाफ फौजदारी मुकदमे बनाए जाते हैं, क्यों? बेलावाड़ा आदिवासी पंचायत के चुनाव बागड़ा के एक गिरोह द्वारा कर्मचारियों व स्थानीय नाकेदार डिप्टी रेंजर के सहयोग से खुलेआम बटकुई मतदान केंद्र पर कब्जा किया गया और आदिवासियों से मतपत्र छुड़ाकर जबरदस्ती मोहर लगाई गई। इसकी शिकायत एसडीपीओ से मौके पर करने पर भी कोई कार्रवाई नहीं की जाती है उल्टे शिकायत करनेवालों को धमकियां दी जाती हैं, क्या यही कानून का राज है? इस गिरोह के द्वारा जो अवैध काम किए जा रहे हैं वे फिर प्रकाश में आते हैं जब बटकुई में लाखों की सागौन की लकड़ियां पकड़ती हैं फिर भी उन पर हाथ नहीं डाला जाता है। लकड़ी तस्करों के इस गिरोह के

सरगना को कुछ साल पहले भी राष्ट्रीय सुरक्षा कानून में गिरफ्तार किया गया था, लेकिन रातो-रात दौड़-भाग हुई और उसे छोड़ दिया गया। ऐसा किसके इशारों पर होता है और किनके प्रयासों से होता है? ऐसे लोगों के लिए क्या भारत के कानून, पुलिस व जेलें नहीं हैं?

जो शिक्षक गांव के स्कूल में सालों से नहीं आते हैं और स्कूल इंस्पेक्टर उनको संरक्षण देते हैं, उनका कोई जुर्म नहीं बनता है और जो इस अनियमितता के बारे में आवाज उठाते हैं उन्हें सजा हो जाती है, क्यों?

आपके इस राज में, जिसके एकछत्र राजा आप हैं, अपराध करनेवाले बड़े-बड़े पदों पर आसीन हैं और जो इस अंधेरे राज के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत करता है, उसे अपराधी ठहरा दिया जाता है। अपराध की परिभाषाएं बदल दी गई हैं। यह जेल भी बहुत सारे बेगुनाह लोगों से भरी हुई है जो आपकी पुलिस, वनकर्मियों और अन्य सरकारी नौकरों के कुचक्रों और साजिशों के शिकार हुए हैं। जेल में उन्हें डालने के बाद महीनों उन्हें न्यायालय में पेश नहीं किया जाता और वे न्याय के इंतजार में तड़पते रहते हैं। शायद आपको अंदाज भी नहीं होगा कि आपके आने के उपलक्ष में यहां के कुछ बंदियों की जेल हिरासत एक महीना और बढ़ जाएगी, क्योंकि आप जनता से इतना डरते हैं कि सारी पुलिस आपकी सुरक्षा में लगा दी जाएगी और पांच-छह दिन तक बंदियों को न्यायालय ले जाने के लिए सिपाही नहीं मिलेंगे और उनकी पेशियां एक महीने के लिए टल जाएंगी। क्या यही आपका स्वच्छ प्रशासन है जिसमें एक सामान्य आदमी की जिंदगी और उसकी न्याय की उम्मीदों का इतना ही मूल्य है?

हो सकता है कि ये सवाल आपको और आपके दरबारियों, चमचों को बुरे लगें। हो सकता है कि इन सवालों का कोई जवाब आपके पास न हो। कोई बात नहीं। हमें विश्वास है कि इस देश की गरीब जनता एक दिन सवालों का जवाब खुद ढूंढ लेगी। फिलहाल यह चिट्ठी तो आपको आगाह करने और आपकी अंतरात्मा को टटोलने का एक मौका देने के लिए लिख रहे हैं।

जय राम जी की।

दिनांक 24 जून, 1989
होशंगाबाद जेल

आपके
राजनारायण एवं सुनील
किसान आदिवासी संगठन
केसला-सिवनीमालवा,
जिला-होशंगाबाद

सुनील के लेख

सुनील के लेखों में वर्तमान आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक परिदृश्य की समझ और एक समतामूलक समाजवादी दृष्टि से उसका विश्लेषण झलकता है। लेख और विचार कैसे व्यवस्था परिवर्तन के बीज हो सकते हैं, यह सुनील को पढ़ने से मालूम होता है। यहां दिए गए तीन लेख उनकी विचारदृष्टि के विभिन्न आयामों में से कुछ की झलकी प्रस्तुत करते हैं। यह तीनों ही लेख अपने इस रूप में पढ़े नहीं गए हैं हालांकि इन विषयों पर किसी और रूप में उनके लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

अर्थशास्त्र मार्क्स व लोहिया के आगे

मानव इतिहास के हर दौर में दुनिया को बदलने और बेहतर बनाने की कोशिशें हुई हैं। ऐसी हर कोशिश के पीछे दुनिया की मौजूदा व्यवस्था और उसके विकास की एक समझ रहती है। मार्क्स और गांधी आधुनिक युग के दो प्रमुख विचारक रहे हैं, जिनकी सोच व समझ परिवर्तनकारियों के प्रेरणा और शक्ति का स्रोत रही है। डॉ. राममनोहर लोहिया को मार्क्स और गांधी के बीच एक वैचारिक पुल बनानेवाला माना जा सकता है।

कार्ल मार्क्स ने हमें बताया कि किस प्रकार पूंजीवाद का पूरा ढांचा मजदूरों के शोषण पर टिका है। मजदूर की मेहनत से जो पैदा होता है, उसका एक हिस्सा ही उसको मजदूरी के रूप में दिया जाता है। शेष हिस्सा 'अतिरिक्त मूल्य' होता है। यही मुनाफा पूंजीवादी विकास का आधार होता है। मार्क्स ने कल्पना की थी कि औद्योगीकरण के साथ बड़े-बड़े कारखानों में बहुत सारे मजदूर एक जगह काम करेंगे। वर्ग चेतना के विकास के साथ ही वे संगठित होंगे, ज्यादा मजदूरी पाने के लिए आंदोलन करेंगे। लेकिन मुनाफा और मजदूरी एक साथ नहीं बढ़ सकते। यही वर्ग-संघर्ष बढ़ते-बढ़ते क्रांति का रूप ले लेगा और तब समाजवाद आएगा। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि पश्चिम यूरोप में जहां पूंजीवादी औद्योगीकरण सबसे पहले व ज्यादा हुआ है, वहीं क्रांति सबसे पहले होगी।

किंतु मार्क्स की भविष्यवाणी सही साबित नहीं हुई। क्रांति हुई भी तो रूस में, जो अपेक्षाकृत पिछड़ा, सामंती और कम औद्योगीकृत देश था। इसके बाद चीन में क्रांति हुई, वहां तो औद्योगीकरण नहीं के बराबर हुआ था। चीन

की क्रांति तो पूरी की पूरी किसानों की क्रांति थी, जबकि मार्क्स की कल्पना थी कि सर्वहारा मजदूर वर्ग क्रांति का अगुआ होगा। पश्चिमी यूरोप में पूंजीवादी औद्योगीकरण के दो सौ वर्षों बाद भी क्रांति नहीं हुई। पूंजीवाद भी इस दौर में नष्ट होने के बजाय, संकटों को पार करते हुए, फलता-फूलता गया।

मार्क्सवाद की इस उलझन को सुलझाने का एक सूत्र तब मिला, जब 1943 में राममनोहर लोहिया का निबंध 'अर्थशास्त्र मार्क्स के आगे' प्रकाशित हुआ। इसे दुनिया के गरीब-पिछड़े मुल्कों के नजरिए से मार्क्सवाद मीमांसा भी कहा जा सकता है। लोहिया ने बताया कि पूंजीवाद का मूल-आधार पूंजीवादी देशों में पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों का शोषण नहीं, बल्कि उपनिवेशों के किसानों, कारीगरों और मजदूरों का शोषण है। यही 'अतिरिक्त मूल्य' का मुख्य स्रोत है। इसी के कारण पूंजीवादी देशों में मुनाफा-मजदूरी का द्वंद्व टलता गया, क्योंकि दुनिया के विशाल औपनिवेशिक हिस्सों की लूट का एक हिस्सा पूंजीवादी देशों के मजदूरों को भी मिल गया। यह संभव हुआ कि मजदूरी और मुनाफा दोनों साथ-साथ बढ़ें। इसीलिए पश्चिम यूरोप में क्रांति नहीं हुई।

इसी के साथ लोहिया ने लेनिन की इस बात को भी काटा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अंतिम अवस्था है। लोहिया ने कहा कि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का प्रारंभ और विकास एक साथ हुआ। बिना साम्राज्यवाद के पूंजीवाद का विकास हो ही नहीं सकता। मार्क्स की ही एक शिष्या रोजा लक्जमबर्ग की तरह लोहिया ने बताया कि पूंजीवाद

के विकास के लिए एक बाहरी उपनिवेश जरूरी है, जहां के बाजारों में माल बेचा जा सके और जहां से सस्ता कच्चा माल व सस्ता श्रम मिल सके। इसी विश्लेषण के आधार पर लोहिया ने कहा कि असली सर्वहारा तो तीसरी दुनिया के किसान-मजदूर हैं। वे ही पूंजीवाद की कब्र खोदेंगे।

जब लोहिया ने यह निबंध लिखा, तब दूसरा, विश्वयुद्ध चल रहा था और उसके पहले जबरदस्त मंदी का दौर आ चुका था। पूंजीवाद के संकटों को समझने के लिए भी लोहिया ने एक नई दृष्टि दी। कीन्स और मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों के मुताबिक पूंजीवादी देशों की उत्पादन क्षमता और मांग या क्रयशक्ति के अंतर से ये संकट आते हैं। लोहिया के मुताबिक सिर्फ इतना कहना अर्ध-सत्य है। इन संकटों का असली स्रोत साम्राज्यवादी प्रक्रिया में है। लोहिया के शब्दों में, 'उत्पादन के पुराने तरीके से किसी खास साम्राज्यवादी क्षेत्र की शोषण-सीमा के समाप्त होने पर आर्थिक संकट उत्पन्न होता है, जो किसी नए क्षेत्र की खोज के उपरांत समाप्त होता है, जहां नए अविष्कारों को उपयोग किया जा सके।'

इसी विश्लेषण के आधार पर लोहिया ने उस निबंध में कहा कि चूंकि पूरी दुनिया को उपनिवेश बनाया जा चुका है, अब कोई नया भू-भाग उपनिवेश बनाने के लिए बचा नहीं है, पूंजीवाद स्थाई संकट की अवस्था में पहुंच गया है। इसकी वृद्धि का मार्ग बंद हो चुका है, इसकी सीमा आ चुकी है। या तो यह टूट जाएगा या धन के निम्न स्तर पर स्थायित्व प्राप्त कर लेगा। पूंजीवाद के सिरमौर के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका के उदय और पश्चिमी यूरोप की जगह लेने को लोहिया नोट करते हैं, लेकिन उसके नेतृत्व में पूंजीवाद के संकट का हल हो सकेगा, इसमें वे गहरी शंका जाहिर करते हैं।

जाहिर है कि लोहिया का यह निष्कर्ष गलत साबित हुआ। पूंजीवाद ज्यादा स्थायी और ज्यादा दीर्घायु साबित हुआ तथा कई संकटों को पार कर गया। मार्क्स की ही तरह, लोहिया की भविष्यवाणी भी गलत साबित हुई। दरअसल, लोहिया इस निबंध को पच्चीस-तीस साल बाद लिखते, तो आसानी से देख लेते कि उपनिवेशों के आजाद होने के साथ औपनिवेशिक शोषण और साम्राज्यवाद खतम नहीं हुआ, बल्कि उसने नव-औपनिवेशिक रूप धारण कर लिया। अंतरराष्ट्रीय व्यापार, अंतरराष्ट्रीय कर्ज, विदेशी निवेश और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विस्तार के जरिए यह शोषण चलता ही नहीं रहा, बल्कि बढ़ता गया। सुदूर क्षेत्रों तक

घुसपैठ व कमाई के नए जरिए पूंजीवाद को मिले। नतीजतन पूंजीवाद फलता-फूलता गया। भूमंडलीकरण का नया दौर इसी नव-औपनिवेशिक शोषण को और ज्यादा बढ़ाने के लिए लाया गया है।

औपनिवेशिक प्रक्रिया का एक और रूप सामने आया है, वह है आंतरिक उपनिवेशों का निर्माण। सच्चिदानंद सिन्हा जैसे समाजवादी विचारकों ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। दुनिया के गरीब देशों में जो सीमित औद्योगीकरण हुआ है, वह इसी प्रक्रिया के साथ हुआ है। जब बाहरी उपनिवेश बनाना संभव नहीं होता, तो पूंजीवादी विकास देश के अंदर ही उपनिवेश इन्हें सिर्फ हैं। सिर्फ बनाता है। जैसे भारत के पिछड़े एवं आदिवासी इलाके एक तरह के आंतरिक उपनिवेश ही थे। पूर्व सोवियत संघ के एशियाई हिस्से भी आंतरिक उपनिवेश हैं। इन्हें सिर्फ भौगोलिक रूप में होना जरूरी नहीं है। अर्थव्यवस्था एवं समाज के विभिन्न हिस्से को भी आंतरिक उपनिवेश बनाकर रखा गया है, जिन्हें वंचित, शोषित एवं कंगाल रखकर ही उद्योगों व शहरों का विकास होता है। भारत जैसे देशों का विशाल असंगठित क्षेत्र भी एक प्रकार का आंतरिक उपनिवेश है, जिसके बारे में सेनगुप्ता आयोग ने हाल में बताया कि वह 20 रुपए रोज से कम पर गुजारा करता है। लेकिन यह भी नोट करना चाहिए कि पूंजीवादी विकास की औपनिवेशिक शोषण की जरूरत इतनी ज्यादा है कि सिर्फ आंतरिक उपनिवेशों से एक सीमा तक, अधिकचरा, औद्योगीकरण ही हो सकता है। भारत इसका सबसे बढ़िया उदाहरण है, जहां औद्योगीकरण की एक सदी के बावजूद देश का बहुत बड़ा हिस्सा बहिष्कृत और हाशिए पर है तथा देश की श्रमशक्ति का 8 फीसदी भी संगठित क्षेत्र में नहीं लग पाया है।

इस प्रकार नव-औपनिवेशिक शोषण और आंतरिक उपनिवेश की इन प्रक्रियाओं से पूंजीवाद ने न केवल अपने को जिंदा रखा है, बल्कि बढ़ाया व फैलाया है। लेकिन इससे लोहिया की मूल स्थापना खारिज नहीं होती है, बल्कि और पुष्ट होती है। वह यह कि पूंजीवाद के लिए देश के अंदर कारखानों-खदानों के मजदूरों का शोषण पर्याप्त नहीं है। इसके लिए शोषण के बाहरी स्रोत जरूरी हैं। उपनिवेश हों- बाहरी उपनिवेश या आंतरिक उपनिवेश, उनके शोषण पर ही पूंजीवाद टिका है। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद पूंजीवाद के अनन्य सखा-सहोदर हैं। इसी से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि आधुनिक पूंजीवादी औद्योगिक विकास कभी भी सबके लिए खुशहाली नहीं ला सकता है। बड़े

हिस्से की कीमत पर कुछ लोगों का ही विकास हो सकता है। यदि दुनिया के सारे इलाकों व सारे लोगों का विकास चाहिए, तो पूंजीवाद का विकल्प खोजना होगा।

पूंजीवाद का एक और आयाम है, जो तेजी से उभर कर आ रहा है। धरती का गरम होना, बढ़ता प्रदूषण, नष्ट होती प्रजातियाँ, पर्यावरण का बढ़ता संकट, प्राकृतिक संसाधनों के बढ़ते संघर्ष आदि इस बात की ओर इंगित कर रहे हैं कि पूंजीवादी विकास में प्रकृति भी एक बहुत महत्वपूर्ण कारक है। जैसे श्रम का सीधे और अप्रत्यक्ष (औपनिवेशिक) शोषण पूंजीवाद में अनिवार्य रूप से नीहित है, वैसे ही प्रकृति के लगातार बढ़ते दोहन व शोषण के बिना पूंजीवादी विकास नहीं हो सकता। जैसे-जैसे पूंजीवाद का विकास एवं विस्तार हो रहा है, प्रकृति के साथ छेड़छाड़ और एक तरह का अघोषित युद्ध बढ़ता जा रहा है। जिन पारंपरिक समाजों व समुदायों की जिंदगियाँ प्रकृति के साथ ज्यादा जुड़ी हैं, जैसे आदिवासी, पशुपालक, मछुआरे, किसान आदि, उनके ऊपर भी हमला बढ़ता जा रहा है। पूंजीवाद के महल का निर्माण उनकी बलि देकर किया जा रहा है।

पिछले दिनों भारत में सिंगूर, नंदीग्राम, कलिंगनगर आदि के संघर्षों ने औद्योगीकरण की प्रकृति व जरूरत पर एक बहस खड़ी की, तो कई लोगों को इंग्लैंड में पूंजीवाद की शुरुआती घटनाओं की याद आई, जिसे कार्ल मार्क्स ने 'पूंजी का आदिम संचय' नाम दिया था। दोनों में काफी समानताएं दिखाई दे रही थीं। इंग्लैंड में तब बड़े पैमाने पर किसानों को अपनी जमीन पर से बेदखल किया गया था, ताकि ऊनी वस्त्र उद्योग के लिए भेड़पालन हेतु चरागाह बनाए जा सके और बेदखल किसानों से बेरोजगारों की सस्ती श्रम-फौज, नए उभर रहे कारखानों को मिल सके। कई लोगों ने कहा कि भारत में वही हो रहा है। लेकिन मार्क्स के मुताबिक तो वह पूंजीवाद की प्रारंभिक अवस्था थी। क्या यह माना जाए कि भारत में अभी भी पूंजीवाद प्रारंभिक अवस्था में है? यह कब परिपक्व होगा?

इस सैद्धांतिक अंतर्विरोध का हल खोजने की कोशिश में हम एक नए सत्य पर पहुंचते हैं। दरअसल पूंजीवाद का तीन-चार सौ सालों का पूरा इतिहास देखें, तो वह लगातार प्राकृतिक संसाधनों पर बलात कब्जा करने और उससे लोगों को बेदखल करने का इतिहास है। एशिया व अफ्रीका के देशों को उपनिवेश बनाने के पीछे वहां के श्रम के साथ-साथ वहां के प्राकृतिक संसाधनों की लूट का आकर्षण प्रमुख रहा है। दोनों अमरीकी महाद्वीपों और आस्ट्रेलिया

महाद्वीप के मूल निवासियों को नष्ट करके वहां के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे की लालसा ही यूरोपीय गोरे लोगों को वहां खींच लाई। जिसे मार्क्स ने 'पूंजी का आदिम संचय' कहा है, वह दरअसल पूंजीवाद की निरंतर चलनेवाली प्रक्रिया है। इसके बगैर पूंजीवाद चल भी नहीं सकता। मजदूरों के शोषण की तरह प्रकृति के संसाधनों की लूट भी पूंजी के संचय का अनिवार्य हिस्सा है।

पूंजीवादी औद्योगीकरण एवं विकास के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीके से कितने बड़े पैमाने पर जंगल नष्ट किया गया, कितने बड़े पैमाने पर जमीन की जरूरत है, कितने बड़े पैमाने पर पानी चाहिए, कितने बड़े पैमाने पर खनिज निकालना होगा, कितने बड़े पैमाने पर ऊर्जा चाहिए—ये बातें अब धीरे-धीरे साफ हो रही हैं और उनका अहसास बढ़ रहा है। यदि यह पूंजीवाद की अनिवार्यता है तो पूंजीवाद के विश्लेषण में इसे शामिल करना होगा। जो मूल्य का श्रम-सिद्धांत मार्क्स ने अपनाया, वह इसमें बाधक होता है। श्रम के शोषण को समझने और उत्पादन प्रक्रिया में श्रम के महत्व को बताने के लिए तो यह सिद्धांत ठीक है, किंतु प्राकृतिक संसाधनों का इसमें कोई स्थान नहीं है। ऐसा शायद इसलिए भी है कि प्राकृतिक संसाधनों को तो प्रकृति का मुफ्त उपहार मान लिया जाता है। लेकिन सच्चाई यह है कि प्रकृति को बड़े पैमाने पर लूटे बगैर तथा उस पर निर्भर समुदायों को उजाड़े-मिटाए बगैर पूंजीवादी व्यवस्था के 'मूल्य' का सृजन हो ही नहीं सकता। 'अतिरिक्त मूल्य' का एक स्रोत श्रम के शोषण में है, तो एक स्रोत प्रकृति की लूट में भी है। जिसे पूंजीवादी मुनाफा कहा जाता है, उसमें प्राकृतिक संसाधनों पर बलात कब्जे, एकाधिकार व लूट से उत्पन्न 'लगान' का भी बड़ा हिस्सा छिपा है।

प्राकृतिक संसाधनों की यह लूट कोई नव-औपनिवेशिक शोषण या आंतरिक उपनिवेश की लूट से स्वतंत्र नहीं है, बल्कि उसी का हिस्सा है। शोषण व लूट के इस आयाम को पूंजीवाद के विश्लेषण के अंदर शामिल करना जरूरी हो गया है। मार्क्स और लोहिया के समय में यह उभरकर नहीं आया था। इसलिए अब पूंजीवाद को समझने के अर्थशास्त्र को मार्क्स और लोहिया से आगे ले जाना होगा। गांधी जो शायद ज्यादा दूरदर्शी व युगद्रष्टा थे, इसमें हमारे मददगार हो सकते हैं।

पूंजीवाद एक बार फिर गहरे संकट में है। वित्तीय संकट, विश्वव्यापी मंदी, बेरोजगारी आदि इसका एक आयाम है। यह भी गरीब दुनिया के मेहनतकश लोगों की मेहनत के

फल को हड़पने के लिए शेयरबाजार, सट्टा, बीमा, कर्ज का व्यापार जैसी चालों का नतीजा है, जिसमें कृत्रिम समृद्धि का एक गुब्बारा फुलाया गया था। वह गुब्बारा फूट चुका है। लेकिन इस संकट का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम पर्यावरण का संकट, भोजन का संकट और प्राकृतिक संसाधनों का संघर्ष है। दुनिया के अनेक संघर्ष जल, जंगल, जमीन, तेल

और खनिजों को लेकर हो रहे हैं। इन संकटों से पूंजीवादी विकास की प्रक्रियाओं का सम्यक विश्लेषण करके, उस पर निर्णायक प्रहार करने का यह सही मौका है। यदि हम ऐसा कर सकें, तो जिसे 'इतिहास का अंत' बताया जा रहा है, वह एक नए इतिहास को गढ़ने की शुरुआत बन सकता है।

भूमंडलीकरण का भ्रष्टाचार

भारत में भ्रष्टाचार की भीषण बीमारी के खिलाफ पिछले दिनों दो शिखरों की अगुआई में झंडा उठाया गया। दोनों को काफी जनसमर्थन मिला है। इसका कारण यह है कि पिछले कुछ समय से देश में भ्रष्टाचार और घोटालों की बाढ़ आ गई है, जिससे देश का आम नागरिक हैरान, परेशान, बेचैन और त्रस्त हो गया है। इस समर्थन में कई तबके व समूह अपने-अपने नजरिए से शामिल हुए हैं। जब अन्ना हजारे के नेतृत्व में अप्रैल माह में जंतर-मंतर पर अनशन हुआ तो भारतीय उद्योगपति अजीम प्रेमजी ने कहा कि भ्रष्टाचार के कारण ऊंची विकास दर का फायदा देश को नहीं मिल पा रहा है। भारतीय पूंजीतियों के संगठन सीआईआई ने एक बयान में कहा कि भ्रष्टाचार के कारण देश में पर्याप्त विदेशी पूंजी निवेश नहीं हो पा रहा है। इस संगठन ने भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई में मदद देने के लिए उद्योगपति आदि गोदरेज की अध्यक्षता में एक समिति का गठन भी किया। दिलचस्प बात यह है कि लगभग इन्हीं दिनों देश के कई बड़े-बड़े उद्योगपतियों के कई तरह के भ्रष्ट कारनामों में लिप्त होने के मामले सामने आए और कुछ कंपनी पदाधिकारी तो जेल भी पहुंच गए।

जाहिर है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ जो सहमति दिखाई देती है, वह काफी सतही है। एक कानून बनाने या विदेशों में छुपे भारत के दो-नंबरी धन (इसे काला धन कहना उचित नहीं है, क्योंकि काले रंग को बुराई का प्रतीक मानना मूलतः एक यूरोपीय पूर्वाग्रह है) को वापस लाने की मांग तक तो बात ठीक है, परंतु जैसे ही इस अभियान और विश्लेषण को आगे बढ़ाते हैं, कई समस्याएं पैदा होती हैं।

उदाहरण के लिए गरीबी, बेरोजगारी, विस्थापन, कुपोषण व महंगाई से त्रस्त भारत के किसानों-मजदूरों के संगठन तो उन्हीं नीतियों को अपनी मुसीबत का कारण मानते हैं, जिनके तहत देश में विदेशी पूंजी आ रही है तथा ऊंची विकास दर हासिल हुई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसी सतही सहमति के टूटने के डर से भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान चलानेवाले लोग इन नीतियों की ज्यादा चर्चा नहीं करते। कई बार ऐसा दिखाते हैं मानो देश की मौजूदा आर्थिक नीतियां, गलत विकास पद्धति, सड़े हुए औपनिवेशिक प्रशासनिक ढांचे और पतनशील राजनीति के रहते हुए भी देश में भ्रष्टाचार खतम किया जा सकता है और ईमानदारी व सदाचार को कायम किया जा सकता है। कई भोले लोग तो यह भी कहते हैं कि नीतियां व योजनाएं सब अच्छी होती हैं, दोष उनके अमल में होता है। मौजूदा व्यवस्था एवं नीतियों से अलग करने पर भ्रष्टाचार महज अच्छे प्रशासन व अच्छे चरित्र की समस्या बनकर रह जाता है। ढांचे, व्यवस्था और नीतियों से हटकर हमारा ध्यान व्यक्तियों की ईमानदारी व बेईमानी पर केंद्रित हो जाता है।

यदि मामला महज इतना होता तो काम आसान हो जाता। देश के सर्वोच्च पदों पर किसी तरह सच्चरित्र व्यक्तियों को बिठाने और भ्रष्ट लोगों के खिलाफ कड़ा कानून बनाने से भ्रष्टाचार की समस्या हल हो जाती। सदाचार का उपदेश देने तथा स्कूलों में नैतिक शिक्षा का पाठ पढ़ाने से भी शायद काम बन जाता। किंतु अफसोस की बात है कि भ्रष्टाचार की समस्या की जड़ें

ज्यादा गहरी और ज्यादा व्यापक हैं।

देखने वाले देख सकते हैं कि भारत में घोटालों व घपलों की संख्या, उनके आकार व आयाम में 1991 के बाद से काफी बढ़ोत्तरी हुई है। यह वही वर्ष था, जब भारत सरकार ने अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज लिया था तथा खुलकर उदारीकरण, निजीकरण, बाजारीकरण, विदेशीकरण, विनियंत्रण तथा विनियमन का रास्ता पकड़ लिया था। अगले ही वर्ष हर्षद मेहता- भूपेन दलालवाला विशाल शेयर-प्रतिभूति घोटाला सामने आया, जिससे सब हक्के-बक्के रह गए। इसके पहले का सबसे बड़ा घोटाला बोफोर्स तोपों के सौदे का था, जिसमें करीब 55 करोड़ की दलाली के आरोप लगे थे। किंतु इस नए घोटाले का निचला अनुमान 5000 करोड़ यानी उससे करीब 100 गुना था। यह महाघोटाला नई व्यवस्था एवं नई नीतियों के बारे में एक बड़ी चेतावनी था, किंतु भूमंडलीकरण के नशे में डूबी सरकार ऐसी चेतावनियों को अनदेखा करती गई। नतीजा यह हुआ कि एक के बाद एक बड़े और बड़े घोटाले होते गए। स्वयं शेयर बाजार में ही फिर से केतन पारेख वाला घोटाला हुआ। फिर तो सरकार ने ही नियमों व नीतियों को बदलकर कई तरह की सट्टात्मक गतिविधियों और अवैध कामों को कानूनी रूप दे दिया। वस्तुओं का वायदा बाजार इसका एक उदाहरण है। भारत में ही नहीं, अमरीका-यूरोप में भी वित्तीय उदारीकरण से एनर्शन, सत्यम और मेडॉफ जैसे नटवरलालों, उठाईगीरों व गबनकर्ताओं के पूंजीवाद के नए संस्करण का विकास हुआ।

निजीकरण और विनिवेश से तो लूट और घोटालों के नए दरवाजे खुल गए। घाटेवाले सरकारी उपक्रमों को सरकारें बेचती तो फिर भी कुछ समझ में आता। हालांकि यह भी आम जानकारी है कि किस तरह शीर्ष पर बैठे अफसरों-मंत्रियों ने जानबूझकर इनकी हालत बिगाड़ी ताकि निजीकरण के पक्ष में माहौल बने। किंतु सरकारें तो मुनाफा देनेवाले उद्यमों और नवरत्नों को भी बेचने में लगी हैं। यह सही है कि पहले भ्रष्ट अफसरों-नेताओं ने सरकारी उपक्रमों को घर की गाय की तरह दुहने का काम किया था। किंतु अब उन्हें या उनके शेयर बेचने में लूट की नई विशाल संभावनाएं नजर आने लगीं। सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी का किस्सा यहां भी लागू होता है जिसमें लालची किंतु मूर्ख मालिक ने सोचा कि मुर्गी को मारने से इकट्टा बहुत सोना मिल जाएगा। फर्क यही है कि देश व सरकारी राजस्व के हिसाब से यह मूर्खता व अदूरदर्शिता हो सकती है, किंतु भ्रष्ट अफसरों-मंत्रियों-निगम अध्यक्षों के

व्यक्तिगत स्वार्थ के हिसाब से यह समझदारी है, क्योंकि वे कल उस पद पर रहेंगे या नहीं, इसका कोई ठिकाना नहीं। इसलिए जितना बटोर सकते हो, बटोर लो। यह उनका सिद्धांत है। कुल मिलाकर भूमंडलीकरण के दौर में खोटी नीयत और खोटी नीति का मेल हुआ है जो एक-दूसरों को पुष्ट व मदद करती है।

‘बीओटी’ (बनाओ-चलाओ-वापस कर दो) तथा ‘पीपीपी’ (निजी-सरकारी भागीदारी) जैसे निजी कंपनियों के साथ मिलकर लूट के नए-नए तरीके विश्व बैंक की मदद से ईजाद किए गए। एक तरह से देखें तो 2 जी स्पेक्ट्रम घोटाला हो या इसरो का घोटाला, आईपीएल का घपला हो या निजी मेडिकल को मान्यता देने के बदले केतन देसाई को दो करोड़ रुपए की घूस लेते पकड़ने का मामला, कर्नाटक के बेल्लारी (रेड्डी) बंधुओं का खनिज साम्राज्य हो या मधु कोड़ा की बेहिसाब कमाई-ज्यादातर घोटालों के तार निजीकरण की प्रक्रिया से जुड़े हैं। पहले सरकारीकरण तथा लाईसेंस-परमिट राज को भ्रष्टाचार का कारण माना जाता था, किंतु निजीकरण-विनियंत्रण में तो भ्रष्टाचार उससे कई गुना बढ़ गया।

मुक्त व्यापार का सिद्धांत तथा आयात-निर्यात को बढ़ाने का आग्रह भी भारत में बड़े-बड़े घोटालों का माध्यम बना है। पिछले कुछ वर्षों में ऐसा कई बार हुआ कि पहले सरकार ने गेहूं, चीनी या प्याज का बड़ी मात्रा में सस्ती दरों पर निर्यात किया, जिससे देश में अभाव के हालात बने और वापस महंगी कीमतों पर उसी का आयात किया।

भ्रष्टाचार सिर्फ सरकारी तंत्र में ही नहीं होता। बाजार का भी बड़ा भ्रष्टाचार होता है। इसे शिक्षा व स्वास्थ्य के बढ़ते हुए बाजार में देखा जा सकता है। सेवा भावना, मर्यादाओं, मानवीय संवेदनाओं, पुरानी आचार संहिताओं और नैतिकता के सारे मानदंडों को पीछे छोड़ते हुए शिक्षा-स्वास्थ्य की नई दुकानें पालकों व मरीजों को लूटते हुए बेहिसाब वैध-अवैध कमाई में लग गई हैं। पिछले दिनों बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा भारत के गरीब मरीजों पर नई दवाइयों के अनैतिक प्रयोगों के कई कांड सामने आए, जिनमें स्वयं संसद में सरकार द्वारा दी गई जानकारी के मुताबिक दो वर्ष आठ माह में 1514 मौतें हुई हैं। फिर भी इनमें लिप्त डॉक्टरों तथा कंपनियों के दलालों पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। न ही बाजारवाद के चैंपियनों के चेहरे पर कोई शिकन आई।

इस वैध-अवैध लूट का एक बड़ा क्षेत्र प्राकृतिक

संसाधनों के मामले में विकसित हुआ है। जमीन, जल, जंगल, खनिज आदि के निजीकरण, बाजारीकरण और विनियंत्रण ने इनकी लूटमार मचा दी है। शिक्षा, चिकित्सा, दूरसंचार के साथ जमीन-जायदाद, निर्माण तथा खनन को जोड़ दें तो ये आज के सबसे ज्यादा कमाईवाले और रातों-रात अमीर बनानेवाले धंधे बन गए हैं। इनमें पूंजी, अपराध, दलाली, राजनीति और अफसरशाही का नया कुत्सित गठजोड़ विकसित हुआ है। पहले हम शराब माफिया, सट्टा माफिया और ड्रग माफिया के बारे में सुनते थे। अब शिक्षा माफिया, चिकित्सा माफिया, जमीन माफिया और खनन माफिया के चेहरे सामने आने लगे हैं। भारत ही नहीं, चीन जैसे देशों में भी जमीन हड़पने के लिए किसानों-गरीबों के उत्पीड़न व भ्रष्टाचार का विशाल सिलसिला चल पड़ा है।

भारत के अंदर और बाहर जमा जिस दो-नंबरी धन का मुद्दा इन दिनों काफी उछला है, उसमें भी कथित आर्थिक सुधारों और उदारीकरण के साथ बेहताशा बढ़ोत्तरी हुई है। ग्लोबल फाईनेंशियल इंटीग्रिटी के श्री देव कर के एक अध्ययन से यह बात सामने आई है। अर्थव्यवस्था के उदारीकरण एवं विनियमन से, विदेश व्यापार-विदेशी पूंजी लेनदेन-विदेशी मुद्रा विनियम को खुला करने एवं बढ़ाने से, धन व आय के कुछ हाथों में संकेंद्रित होने से इसका नजदीकी रिश्ता रहा है। हमें पहले बताया जाता है कि अत्यधिक नियंत्रण, पाबंदियों व ज्यादा करारोपण से लोग दो नंबर में व्यवसाय करने को मजबूर होते हैं। आयात-निर्यात एवं विदेशी मुद्रा विनियम पर अत्यधिक पाबंदियों व शुल्कों के कारण तस्करी व हवाला कारोबार को बढ़ावा मिलता है। यदि इन्हें हटा दिया जाएगा तो भारत में काले धन, तस्करी व अवैध कारोबारों की समस्या बहुत कम रह जाएगी। लेकिन इससे ठीक उल्टा हुआ है। आर्थिक सुधारों ने भारतीय समाज में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक विकृतियां तो पैदा की ही हैं, इसका नैतिक नक्शा ही बिगाड़ दिया है। नवउदारवादी अर्थशास्त्र के कई अन्य सिद्धांतों व शिक्षाओं की तरह यह भी एक बड़ा झूठ निकला है।

भारतीय समाज में बढ़ते भ्रष्टाचार का गहरा संबंध जबरदस्त बढ़ती गैरबराबरी, विलासिता के नंगे नाच और उपभोक्ता संस्कृति से भी है। इन्हें भी नई नीतियों ने काफी बढ़ाया है। एक ओर अंबानी से लेकर सचिन तेंडुलकर तक, विधायक-मंत्री से लेकर अफसर तक, बेहिसाब कमाई करते हुए विलासिता में आकंड डूबने का प्रदर्शन करते हैं और उन्हें भारतीय समाज के हीरो के रूप में पेश किया

जाता है। दूसरी ओर होश संभालते ही छोटे बच्चों के अबोध मन पर टीवी के द्वारा उपभोक्ता माल के विज्ञापनों का दिन-रात हमला शुरू हो जाता है। अधिकाधिक उपभोग, भौतिक सुखों की ललक, लालच, स्वार्थ, ईर्ष्या, होड़ व गलाकाट प्रतिस्पर्धा को प्रगति के लिए जरूरी मानकर उन्हें वांछनीय गुणों व लक्ष्यों का दर्जा दिया जाता है, आधुनिक विकास के मंदिर में देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। ऐसे हालात में ईमानदारी, सादगी, संयम, भाईचारा, भलमनसाहत, नैतिकता व देशप्रेम की ज्यादा गुंजाईश कहां रहती है? भ्रष्टाचार एक तरह से पूंजीवादी सभ्यता तथा विकास के आधुनिक मॉडल में नीहित है।

श्रष्टाचार बने भ्रष्टाचार का एक रिश्ता प्रशासन के उस विकेंद्रीकृत औपनिवेशिक ढांचे से भी है, जिसे मूलतः अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य की जरूरत के हिसाब से खड़ा किया था। जनता से दूरी, जनता के प्रति हिकारत, ऊंच-नीच की सीढ़ियां, साहबीपन, खुशामद, जी-हजुरी, घूसखोरी, लालफीताशाही आदि की नींव ब्रिटिश राज में ही पड़ गई थी। जिसकी एक अच्छी झलक नब्बे साल पहले लिखी प्रेमचंद की कहानी 'नमक का दरोगा' में मिलती है। प्रशासन के ढांचे को बुनियादी रूप में बदले बगैर तथा सत्ता के ढांचे को सही मायने में विकेंद्रित करके जनता के अधीन किए बगैर भ्रष्टाचार की व्यापक बीमारी के इलाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यह साफ है कि यदि भारत को भ्रष्टाचार से मुक्त करना है तो मौजूदा नीतियों और आर्थिक-प्रशासनिक-सांस्कृतिक ढांचे में बड़े व बुनियादी बदलाव करने पड़ेंगे। यह एक क्रांतिकारी राजनीति का काम है। इसलिए राजनीति को महज कोसने या गाली देने से काम नहीं चलेगा। एक नई वैकल्पिक क्रांतिकारी राजनीति को नीचे से खड़ा करने और उसे एक नए समतावादी भारत के निर्माण की विचारधारा से लैस करने की जरूरत होगी। इस नजरिये से भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन को शोषण, गरीबी, गैरबराबरी, महंगाई और विस्थापन के खिलाफ चल रहे आंदोलन के साथ स्वयं को जोड़ना होगा। उद्योगपतियों या इंटरनेट में डूबे उच्च मध्यम वर्ग के दम पर या मात्र योग शिविरों के बल पर भ्रष्टाचार के खिलाफ कोई भी जिहाद ज्यादा दिन नहीं चल सकता और उसमें अंतर्विरोध पैदा होना लाजमी है।

यह एक बड़ा काम व बड़ी चुनौती है। क्या अरविंद केजरीवाल, अन्ना हजारे, बाबा रामदेव और उनके साथी इसके लिए तैयार हैं?

सभ्यता का कचरा

मेरा दिल्ली जाना कभी-कभी होता है। इस बार तो इतवार का अखबार देखकर हैरान रह गया। दिल्ली का प्रमुख अंग्रेजी अखबार उस दिन बहुत मोटा 74 पृष्ठ का था। यह अलग बात है कि उसमें पठनीय सामग्री बहुत कम थी, पूरा विज्ञापनों से भरा हुआ था। इस मोटे अखबार को क्या माना जाए? नए जमाने का एक और चमत्कार? भूमंडलीकरण की एक और उपलब्धि? लेकिन मैं सोचने लगा कि देश के करोड़ों बच्चों के अभिभावक उनकी कापी-किताब के लिए पैसा नहीं जुटा पाते हैं। यदि इस कागज से उन्हें कापी-किताब उपलब्ध करा दी जाती, तो क्या यह बेहतर उपयोग नहीं होता? इतने मोटे अखबारों के कागज के लिए कच्चा माल भी काफ़ी जंगलों को काटकर या प्लांटेशनों, खेतों से आया होगा। जो हासिल हुआ वो हैं विज्ञापन, जिनकी सामाजिक उपयोगिता बहुत संदिग्ध है। अधिकांशतः वे भ्रम, लालसा और एक विलासितापूर्ण उपभोक्ता संस्कृति को ही फैलाने का काम करते हैं।

पंद्रह-बीस साल पहले मैंने इंग्लैंड घूमकर आए एक भारतीय का संस्मरण पढ़ा। वहां की लोकल ट्रेन में वह यात्रा कर रहा था। उसके बगल में बैठा अंग्रेज अपना स्टेशन आने पर उठकर जाने लगा तो अपना अखबार सीट पर ही छोड़ दिया। इस भोले भारतवासी को लगा कि अखबार गलती से छूट गया है। उसने आवाज देकर बताया। जवाब में पता लगा कि उस अंग्रेज ने जानबूझकर अखबार छोड़ा है। वहां यह आम रिवाज है कि लोग अखबार पढ़कर रेलगाड़ी, बस या पार्क में छोड़ देते हैं। वह उनके लिए कचरा बन जाता है।

वक्त इतनी तेजी से बदल रहा है कि आज भारत जैसे गरीब एवं अभावग्रस्त देश में वही हालत आ गई है। अखबार भी इतना मोटा और वजनी हो गया है कि उसे उठाकर ले जाना भी एक झंझट है। पढ़कर फेंकना ही बेहतर है। 'यूज एंड थ्रो' की फेंको संस्कृति यहां भी आ गई है और अपने पूरे शबाब पर है।

इस सिलसिले में एक और प्रसंग याद आ रहा है। छः-सात साल पहले की बात होगी। मैं रेलगाड़ी से केरल जा रहा था। तब बोतलबंद पानी का नया-नया प्रचलन शुरू हुआ था। मेरी बगल का एक सहयात्री, पानी की बोतलें खरीदता जा रहा था। केरल का गंतव्य स्टेशन आया, तो वह

पांच-छः खाली बोतलें छोड़कर उतर गया। इस कचरे को मैं हैरानी से देखता रह गया। मेरे लिए यह नया अनुभव था। हिसाब लगाने लगा कि केरल एक्सप्रेस के सारे यात्री यदि इस यात्रा में पांच-पांच पानी की बोतले फेंके तो कुल कितना कचरा होगा। पानी पीने में भी इतना कचरा पैदा होगा, यह एक नई चीज थी, पहले अकल्पनीय थी।

बरबादी, फिजूलखर्च और विशाल कचरा-आधुनिक सभ्यता की यह खासियत है। भारतीय रेलगाड़ियां जहां भी जाती हैं, कचरा फैलाती जाती हैं। जंगलों, पहाड़ों और खेतों से गुजरती रेल पटरियों के दोनों तरफ इस कचरे को देखा जा सकता है। ऐतिहासिक इमारतों, तीर्थ स्थानों, हिल स्टेशनों, राष्ट्रीय उद्यानों व अभयारण्यों में भी पर्यटकों की बदौलत इस दिन-दूने, रात-चौगुने बढ़ते कचरे को देखा जा सकता है। नगरों में आधुनिक अस्पताल खुलते जा रहे हैं, लेकिन अस्पतालों का कचरा भी एक समस्या हो जाएगा, यह हमने सोचा भी न था। महानगरों व नगरों में 'अपशिष्ट प्रबंधन' और 'मल-मूत्र निपटारे' के नाम से बड़ी-बड़ी परियोजनाएं बन रही हैं, जिनके लिए विदेशी विशेषज्ञ आ रहे हैं, विश्व बैंक और एशियाई विकास बैंक कर्ज दे रहे हैं और साथ में अपनी शर्तें लाद रहे हैं। कचरा उठाने एवं सफाई के लिए मशीनें विदेशों से बुलाई जा रही हैं, कर्मचारियों की छटनी हो रही है, निजी फर्मों को ठेके दिए जा रहे हैं, जिनमें घोटाले भी हो रहे हैं। लेकिन कचरे की समस्या से निजात नहीं मिल रही है। नालियां व गटरें प्लास्टिक-पॉलीथिन के कचरे से अटी रहती हैं, बंद हो जाती हैं और थोड़ी-सी बारिश में गंदे पानी की बाढ़ आ जाती है। नदियों की कुदरती बाढ़ से अलग यह मानवनिर्मित, कचरा बाढ़ होती है। शहरों में गंदगी, बदबू और मच्छरों की भरमार हो गई है।

औद्योगिक कचरा इसके अतिरिक्त है, जो औद्योगीकरण के साथ बढ़ता जा रहा है। कारखानों से निकलने वाले दूषित जल, कचरा, रसायन और धुंआ, आसपास रहनेवाले लोगों का जीना हराम कर देते हैं। अब यह समझ में आ रहा है कि किसी इलाके में बड़ा कारखाना लगना विकास का दूत बनने के बजाए अभिशाप बन जाता है।

पेकिंग व पेकेजिंग में प्लास्टिक, पॉलीथिन, एल्यूमीनियम कोईल आदि के उपयोग से एक क्रांति आई

है। दूध, पानी, फलों के रस, शीतल पेय, शरबत, अचार, मुरब्बा, सॉस, नमकीन, चाय, कॉफी, शराब, पान मसाला-लगभग हर चीज को छोटे-बड़े, टिकाऊ सुरक्षित व आकर्षक पाउच-पैकेट बोतलों में भरकर बेचना व परिवहन संभव हुआ है। गांव का जो गरीब आदमी पहले शेम्पू की बोतल नहीं खरीद सकता था, उसके लिए अब शेम्पू का पाउच हाजिर है। गुटका-पान मसाला पाउच के प्रसार का तो विस्फोट ही हो गया है। अर्थशास्त्र, बाणिज्य, विपणन व मेनेजमेंट के गुरु इसे एक जबरदस्त इन्वोल्यूशन एवं क्रांति ही बताएंगे। लेकिन एक कचरा-क्रांति भी साथ में आएगी, यइ किसी ने सोचा भी न था। पश्चिम देशों में कचरे की इस समस्या ने पहले ही दस्तक दे दी थी। लेकिन पश्चिम की अंधी नकल करने वाले हमारे कर्णधारों ने उस पर विचार करने एवं वहां के अनुभव से सीखने की जरूरत भी नहीं समझी।

कचरा पहले भी होता था, लेकिन कुछ फरक थे। एक तो, कचरे की मात्रा इतनी ज्यादा नहीं थी। आधुनिक भोगवाद और उपभोक्ता संस्कृति ने मनुष्य की जरूरतें बढ़ाई, नई-नई वस्तुएं बनाई और उनके साथ कचरा बढ़ता गया। दूसरा, नई जीवनशैली एवं तकनालाजी ने नए-नए कचरे को जन्म दिया। जैसे, जब तक फाउंटैन पेन थे, तब तक एक ही पेन में स्याही भर-भर कर महीनों-सालों काम चल जाता है। अब हर रिफिल या बॉलपेन को इस्तेमाल करके फेंकना ही है। इसी तरह, पहले खेत में अनाज के साथ निकलने वाली कड़पी व भूसे का भी पूरा उपयोग पशुओं के आहार में होता था। अब हार्वेस्टकर की कटाई में सिर्फ दाने को ही उपयोगी माना गया है, शेष को कचरे के रूप में यह दैत्याकार मशीन खेतों में ही छोड़ देती या फेंक देती है, जिसे जलाने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता है। तीसरी बात यह है कि पहलेवाला कचरा सड़कर मिट्टी का हिस्सा बन जाता था, नया कचरा सैंकड़ों-हजारों सालों तक सड़ता नहीं है तथा हवा-पानी-मिट्टी को प्रदूषित करता रहता है।

जब महानगरों में दूध के पैकेट नए-नए शुरू हुए थे, तब गृहणियां प्लास्टिक की खाली थैलियों को धोकर-सहेजकर रखती थी व दुबारा इस्तेमाल करती थी। कुछ महिलाएं उन थैलियों से कलात्मक सजावटी चीजें भी बनाती थीं। लेकिन धीरे-धीरे इतनी प्लास्टिक थैलियों हो गईं और नगरी जीवन भी इतना दौड़-धूप वाला हो गया कि अब कोई ये सब 'फालतू' काम नहीं करता। प्लास्टिक की थैलियां अब पीछे कचरों के डब्बे में फेंक दी जाती हैं।

कचरे का दुबारा उपयोग या 'रिसायकलिंग' की एक सीमा है। भारत जैसे देशों की गरीबी व बेरोजगारी के कारण काफी हद तक वस्तुओं का दुबारा इस्तेमाल हो जाता है। अखबार की रद्दी हो, प्लास्टिक के जूते-चप्पल हों, गाड़ियों के घिसे टायर हों या पुराने कपड़े हों- उन्हें इक्ठ्ठा व खरीदकर दुबारा इस्तेमाल करने वाले गरीब लोग मिल जाते हैं। कचरे के ढेर में पन्नी बीनने वाले निर्धनतम और अभागे बच्चे-औरतों को हर जगह देखा जा सकता है। महाकवि निराला आज होते तो पत्थर तोड़ती महिला पर नहीं, शायद इन कचरा बीनने वालों पर कविता लिखते। रिसायकलिंग के ये धंधे कोई अच्छे, स्वस्थ, सम्मानजनक या मानवीय तो नहीं हैं, ये तो मजदूरी का अभिशाप है।

अमीर देशों में श्रम मंहगा होने तथा वस्तुओं की बहुलता के कारण यह सब नहीं होता। 'सेकण्डस' का बाजार वहां नहीं है, वह तो भारत जैसे गरीब देशों में ही पाया जाता है। अमरीका में लोग पुरानी कारों को सड़क के किनारे छोड़कर चले जाते हैं, क्योंकि उन्हें खरीदने वाला वहां कोई नहीं होता। एक कोशिश यह भी हो रही है कि भारत सरकार सेकेण्ड-हेण्ड कारों के आयात की अनुमति दे दे। भारत की कार-निर्माता कंपनियों के प्रतिरोध के कारण यह अनुमति रुकी हुई है। लेकिन वह दिन दूर नहीं, जब पुरानी कारें, कंप्यूटर, मोबाईल आदि जो अमीर देशों के लिए समस्या बने हुए हैं, भारत जैसे देशों को बेच दिए जाएंगे। यहां के साधारण लोग उन्हें चाव से खरीदेंगे। व्यापार भी होगा और कचरे से भी मुक्ति उन देशों को मिलेगी। 'आम के आम और गुठली के दाम'- इसी को कहते हैं।

कचरे की अंतरराष्ट्रीय रिसायकलिंग का यह भी एक पहलू है। गरीब देशों को अमीर दुनिया का कचराघर बना दिया जाता है। गुजरात के समुद्र तट पर शिपब्रेकिंग यार्ड एक उदाहरण है। कुछ साल पहले डेनमार्क के जहरीले गोबर को भारत में आयात करने का मामला भी काफी चर्चित रहा था। चेर्नोबिल की आणविक दुर्घटना से जब यूरोप के बड़े हिस्से की फसल, चारा, आदि जहरीला हो गया था, तो उससे उत्पन्न दूध-पाउडर, मक्खन, दालों व खाद्यतेलों को भारत ने खरीद लिया था। जो चीजें यूरोपीय लोगों के खाने लायक नहीं समझी गईं, भारतीयों को उन्हें खिलाने में किसी को कोई हर्ज नहीं समझ में आया।

आधुनिक सभ्यता के कचरे की दुर्दांत समस्या का एक उदाहरण अणु-ऊर्जा का कचरा है। अणुबिजली के कारखानों की मशीनें, उपकरण, कल-पुर्जे, दीवारें, सीड़ियां,

कर्मचारियों की वर्दियां आदि धीरे-धीरे इतने जहरीले हो जाते हैं कि उनको सुरक्षित ढंग से ठिकाने से ठिकाने लगाने का कोई तरीका अभी तक वैज्ञानिक नहीं ढूंढ पाए हैं। उनमें कुछ तत्व हजारों वर्षों तक जहरीले रूप से सक्रिय बने रहते हैं। उन्हें कितने ही मोटे इस्पात के बक्सों में बंद करके जमीन में गहरे गाड़ा जाय या समुद्र में फेंका जाए, दो-तीन सौ सालों में वे बक्से सड़ जाएंगे और फिर ये रेडियोधर्मी जहरीले तत्व भूजल या समुद्रीजल में मिलकर प्राणीजगत एवं वनस्पति को नुकसान पहुंचाएंगे।

इसी तरह से अंतरिक्ष में फैलते कचरे की खबरें भी आने लगी है। मनुष्य अब पृथ्वी के बाद अंतरिक्ष को भी नहीं छोड़ रहा है।

सुरसा-मुख की तरह बढ़ती कचरे की इस समस्या के कई समाधान बताए व आजमाए जा रहे हैं। कई जग पतले पॉलीथिन पर प्रतिबंध लगाए गए हैं, हालांकि ये प्रतिबंध प्रभावी नहीं हो पाते हैं। दुनिया के कुछ नगरों व कालोनियों में कचरे को शुरु से बायोडिग्रेडेबल एवं नॉन-बायोडिग्रेडेबल में विभाजित करने की व्यवस्था की गई है। कचरे से बायोगैस बनाने के प्रयोग भी किए जा रहे हैं। कोयले के तापबिजलीघरों से निकलने वाली राख का उपयोग सीमेंट के रूप में और प्लास्टिक कचरे का उपयोग सड़क निर्माण में करने के चमत्कारिक प्रयोग भी हो रहे हैं। कभी-कभी यह भी दिलासा दी जाती है कि विज्ञान व तकनालाजी में हर समस्या का समाधान खोज लिया जाएगा। जैसे कंप्यूटर और इंटरनेट से कागज की जरूरत व खपत बहुत कम रह जाएगी, कुछ साल पहले हमें बताया गया

था। लेकिन कुल मिलाकर कागज की खपत कम नहीं हुई, बल्कि बढ़ती जा रही है। ऊपर से प्लास्टिक, पॉलीथिन, फ्लेक्स, इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं की जबरदस्त खपत व कचरे-प्रदूषण की नई समस्या सामने आ गई। दरअसल में ये सब आंशिक समाधान हैं। समस्या को समग्रता से देखेंगे तो पता चलेगा कि आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता में इसकी जड़ें हैं। इसकी दिशा, सोच व इसके बुनियादी तंत्र से यह जुड़ी है।

एक, मनुष्य के निरंतर बढ़ते उपभोग को इसमें प्रगति का लक्षण माना गया है। कंपनियों के बढ़ते धंधे, निवेश व मुनाफे के लिए यह जरूरी भी है। अंतहीन उपभोग से अंतहीन कचरा तो पैदा होगा ही। दो, आधुनिक अर्थशास्त्र में विज्ञापन, पेकेजिंग आदि को राष्ट्रीय आय बढ़ानेवाला एवं विकास का सूचक माना गया है। कचरा, प्रदूषण, बरबादी की इसमें कोई गिनती नहीं है, वे बाहरी चीजें हैं। तीन, आधुनिक विज्ञान व तकनालाजी के दम पर यह दंभ पाल लिया गया है कि प्रकृति को जीतना है, जीता जा सकता है। जिसे जीतना है, उसे रौंदना व उस पर अत्याचार करना भी जायज माना जाता है। कुदरत भी अपना बदला ले सकती है, यह हम भूल गए।

आधुनिक सभ्यता की कई उपलब्धियां गिनाई जा सकती हैं। लेकिन इसमें सामुदायिक जीवन, मानव स्वास्थ्य, पर्यावरण और नैतिक मूल्यों की बलि चढ़ती जा रही है। कचरे की समस्या इस बड़े संकट का ही एक आयाम है। इससे मुक्ति पाने के लिए हमें इसकी पूरी दिशा एवं विचारधारा पर पुनर्विचार करना होगा।



मूल्य
25 रुपए
प्रकाशक
किशोर भारती
ई 8/29 सहकार नगर
भोपाल- 462039
10 या उससे ज्यादा प्रतियां
मंगाने पर 20 प्रतिशत की
छूट है।

यह किताब हिंद स्वराज की तरह सवाल-जवाब के रूप में लिखी गई है। शिक्षा को लेकर भारत में आज जिस तरह के सवाल उठते हैं या उठ सकते हैं उनका जवाब प्रस्तुत करती हुई यह भारतीय शिक्षा व्यवस्था की एक समग्र तस्वीर पेश करती है। हाल में प्रकाशित इस पुस्तक के तीसरे संस्करण में सुनील द्वारा 7 अप्रैल 2014 को भोपाल में 'राजनैतिक दलों से शिक्षा नीति एवं उससे उभरे राष्ट्रीय शैक्षिक संकट पर संवाद' के कार्यक्रम में दिए गए अंतिम भाषण को शामिल किया गया है।

जलपाईगुड़ी में सजप की बैठक

संघर्ष और निर्माण

23, 24, 25 मई 2014 को समता केंद्र, जलपाईगुड़ी (प. बंगाल), में समाजवादी जनपरिषद की राष्ट्रीय परिषद तथा राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक संपन्न हुई। साथी जुगलकिशोर रायबीर तथा सुनील की स्मृति में यह कार्यक्रम संपन्न हुए। दल के महासचिव साथी सुनील के असामयिक निधन पर देश भर के साथियों ने इस परिस्थिति में अपने कर्तव्यपालन पर जोर दिया। सिद्धांत और जीवन शैली में फर्क न होने के कारण उनके संपर्क में आए व्यक्ति में चिंगारी जलाना और प्राण-शक्ति फूंकना, उनके लिए सहज था। वक्ताओं ने कहा कि हमें सामूहिक नेतृत्व की संस्कृति को ओर मजबूत करना होगा। हमें इस बात का गर्व है कि उनके जैसे व्यक्ति अन्य दलों में कम ही पाए जाते हैं। लोहिया और किशनजी के गुजर जाने पर उनके कुछ साथियों में भटकाव आया परंतु हमें यह भरोसा है कि साथी सुनील के न रहने पर ऐसा नहीं होगा। वे प्रेरणा के रूप में हमारे बीच में उपस्थित हैं, और उनके विचारों की परछाई हमारे साथ रहेगी।

गुजरात के मशहूर श्रमिक नेता तथा साम्प्रदायिकता विरोधी कार्यकर्ता मुकुल सिन्हा तथा वरिष्ठ समाजवादी मजदूर नेता साथी उमरावमल पुरोहित के निधन पर भी श्रद्धांजलि व्यक्त की गयी।

राजनैतिक प्रस्ताव अच्छी चर्चा के बाद सर्वसम्मति से पारित हुआ। सभी राज्यों द्वारा सदस्यता के बारे में रपट दी गई। सदस्यता अभियान चलाने को प्राथमिकता देने का निश्चय हुआ। हर स्तर की इकाई में अध्यक्ष और महामंत्री को सदस्यता के लिए जवाबदेह माना जाएगा। अक्टूबर 2014 तक व्यापक सदस्यता अभियान चला कर जिला तथा राज्य सम्मलेन संपन्न कर लिए जाएं। अगला राष्ट्रीय सम्मलेन केरल में

होगा। सम्मलेन में अच्छी संख्या में भागीदारी हो इसकी जिम्मेदारी राज्य इकाइयों की होगी। कर्नाटक में तदर्थ इकाई गठन की जिम्मेदारी साथी अखिला को सौंपी गयी।

राष्ट्रीय सचिव साथी रणजीत राय ने उत्तर बंग के बाबत प्रस्ताव पेश किया। इस इलाके में राजवंशी, नमोशूद्र आदिवासी, मुस्लिम और सवर्ण हैं। सबकी अलग-अलग भाषाएं हैं जिनको सम्मान दिलाने के लिए आंदोलन हुए हैं। सजप ने मुस्लिम मुद्दा को पिछड़ा घोषित कराने के लिए आंदोलन चलाया, जिसके फलस्वरूप इन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग में शामिल किया गया। बागानों में स्थानीय निकाय के चुनाव नहीं होते थे। साथी जुगलकिशोर रायबीर के नेतृत्व में इस मुद्दे पर सफल आंदोलन चला तथा चाय बागानों के लोगों को स्थानीय निकायों से भी जोड़ा गया। ट्रेड यूनियनों महसूस करती थी कि चाय बागानों को स्थानीय निकायों से जोड़ने पर उनका वर्चस्व कम होगा इसलिए वे इस लोकतांत्रिक मांग के साथ नहीं थीं। देश अमेरीका बनना चाहता है इस कारण उत्तर बंग जैसे अंचल को आतंरिक उपनिवेश बनाकर लूटा जा रहा है। इस क्षेत्र के बेरोजगार युवा सुदूर केरल तक काम की तलाश में जाने के लिए मजबूर हैं। 23 फरवरी 2014 को साथी सुनील ने प्रस्ताव रखा था कि उत्तर बंग की समस्याओं को लेकर एक यात्रा निकाली जाए जिसमें दल के राष्ट्रीय नेता भी भाग लें। इस प्रस्ताव को हमें गंभीरता से स्वीकार करना चाहिए। लोक सभा चुनाव में उत्तर बंग में तृणमूल कांग्रेस के अलावा भाजपा को काफी वोट मिले हैं, सजप इसे एक गंभीर चुनौती मानकर सक्रियता बढ़ाएगी।

इस प्रस्ताव के समर्थन में साथी सत्येन राय ने बताया कि सजप गठन के पूर्व उत्तर बंग

तपशिली जाति और आदिवासी संगठन (उतजास) ने इलाके के पिछड़ेपन और शोषण के खिलाफ सशक्त आंदोलन शुरू किया था और जाति की संकीर्णता के बजाए एक समग्र सोच के साथ आंदोलन चलाया था। उत्तर बंग में शिक्षा का विस्तार और विकास एक प्रमुख मुद्दा है। विभिन्न भाषा और जाति विशेष के नाम पर चलने वाले आंदोलन कमजोर हुए हैं किन्तु पिछले चुनाव में भाजपा ने इन संकीर्णतावादी और विच्छिन्नतावादी शक्तियों से चुनावी गठजोड़ किया। उत्तर बंग के प्राकृतिक संसाधन बाहर ले जाए जाते हैं और इनके प्रयोग के लिए इलाके में कोई भी कारखाने नहीं हैं। कच्चे माल को हासिल करने के लिए पहाड़ और नदियां नष्ट की जा रही हैं। जिनके फलस्वरूप नदियों में बाढ़ आने लगी है। पहले इस इलाके में बाढ़ नहीं आती थी। बड़ी नदी परियोजनाओं के नाम पर करोड़ों रुपए बर्बाद किए गए हैं। इसके बाद भी इलाके के खेतों को सिंचाई का पानी नहीं मिला है। इस देश और प्रदेश की आर्थिक-राजनीतिक नीतियां उत्तर बंग के खिलाफ हैं। हमें पुनः उतजास को सक्रिय करना होगा।

गत चुनाव में भवानीपटना (कलाहांडी, ओड़िशा) विधान सभा सीट से दल के प्रत्याशी साथी लिंगराज आजाद ने चुनाव में आय-व्यय का ब्योरा पेश किया। यह एक लाख सैंतालिस हजार रुपए का था। उम्मीद व्यक्त की गई कि अलीपुरद्वार तथा बैतूल लोक सभा सीटों के आय-व्यय का ब्योरा शीघ्र पेश किया जाएगा।

साथियों ने कहा कि कोषाध्यक्ष को सालाना पार्टी की वित्तीय जरूरत का अनुमान रखना चाहिए। राष्ट्रीय महामंत्री के यात्रा तथा कार्यालय के खर्च के मद में विभिन्न साथियों और इकाइयों ने सहयोग के संकल्प व्यक्त किए। साथी राधाकांत बहीदार ने बारह हजार रुपए सालाना, प. बंग इकाई द्वारा जनवरी 2015 के पहले बीस हजार रुपए, उग्र द्वारा सालाना 12 हजार रुपए, दिल्ली सालाना साठ हजार रुपए, झारखंड से सालाना 60 हजार रुपए व मोतिहारी जिला 6,000 रुपए सालाना, इस मद में देगी। मध्य प्रदेश, बिहार व केरल की इकाइयां बाद में बताएंगी।

'21 वीं सदी में समाजवाद के लिए वैकल्पिक राजनीति' विषयक राष्ट्रीय सेमीनार के लिए दल पहल कर रहा है। इस संदर्भ में डॉ. जीजी पारिख तथा श्री भाई वैद्य से चर्चा हो रही है। तिथि तथा स्थान का निर्धारण होते ही सूचना दी जाएगी। इस सेमीनार में दल के 50 साथी भाग लेंगे। इनमें केरल से 5, प. बंग से 10, झारखंड से 3, उग्र से 10,

कर्नाटक से 15, दिल्ली से 15, मध्य प्रदेश से 10, बिहार से 10 साथियों के भाग लेने की घोषणा हुई है।

9 अगस्त 2014 को सभी (सजप की) इकाइयां नवउदारवादी शक्तियों के खिलाफ धरना, सभा, गोष्ठी जैसे कार्यक्रम लेंगी, यह तय हुआ।

सांप्रदायिकता पर कुछ पुस्तिकाएं प्रकाशित करने की भी बात हुई। राष्ट्रीय परिषद की बैठक में अनुपस्थित साथी निशा शिवूरकर, साथी स्मिता और साथी अनुराग मोदी द्वारा भेजे गए पत्र पढ़े गए तथा (उस पर) चर्चा की गयी। दल के अध्यक्ष साथी जोशी जेकब द्वारा राष्ट्रीय परिषद में राष्ट्रीय महामंत्री का चुनाव संपन्न कराया गया। सर्वसम्मति से साथी लिंगराज आजाद सजप के राष्ट्रीय महामंत्री चुने गए।

परिषद में विशिष्ट आमंत्रित कर्नाटक की वरिष्ठ समाजवादी नेता साथी अनुसयम्मा, नव निर्वाचित महामंत्री साथी लिंगराज आजाद तथा अध्यक्ष साथी जोशी जेकब ने संबोधित किया। साथी डा स्वाति ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

चुनाव प्रचार के आखिरी दिन एक सभा के दौरान दल के उपाध्यक्ष साथी कमल बनर्जी के दुर्घटना में घायल हो जाने के कारण 25 मई को राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक जलपाईगुड़ी स्थित उनके निवास पर हुई।

इसमें साथी डॉ चंद्रभूषण चौधरी राष्ट्रीय उपाध्यक्ष चुने गए। साथी विनोद पय्याडा तथा साथी अनुराग मोदी राष्ट्रीय सचिव चुने गए। अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार परिषद में दल की ओर से राष्ट्रीय उपाध्यक्ष साथी कमल बनर्जी तथा डॉ स्वाति प्रतिनिधित्व करेंगे। साथी कमल बनर्जी इस परिषद की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य हैं। जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय में साथी लिंगराज आजाद तथा साथी चंचल मुखर्जी दल का प्रतिनिधित्व करेंगे। लोक राजनीति मंच में दल के प्रतिनिधि साथी अफलातून तथा साथी अतुल कुमार जाएंगे। साथी सनातन प्रधान राज्य सम्मलेन होने तक ओडिशा के प्रांतीय संयोजक मनोनीत किए गए।

वरिष्ठ साथी सच्चिदानंद सिन्हा तथा साथी अशोक सेक्सरिया ने सामयिक वार्ता के सम्पादक मंडल में शामिल होना स्वीकार किया है। सजप की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने साथी सच्चिदानंद सिन्हा से सविनय निवेदन किया कि वे सामयिक वार्ता का सम्पादकत्व ग्रहण करें।

राष्ट्रीय परिषद तथा राष्ट्रीय कार्यकारिणी में मुख्य रूप से इन साथियों ने भागीदारी की और विचार व्यक्त किए, जोशी जेकब, लिंगराज आजाद, डा चंद्रभूषण चौधरी,

कमल बनर्जी, रणजीत राय, विनोद पय्याडा, अफलातून, राधाकांत बहीदार, शांति चक्रवर्ती, डा स्वाति, चंचल मुखर्जी, चित्त दे, बिलकन बारा, सत्येन्द्र प्रसाद राय, अनुसूयम्मा, ललिता एक्का, अनीमा, अशोक रायबीर, नवल किशोर प्रसाद, संजय श्रीवास्तव, फागराम, सनातन प्रधान, बालेश्वर प्रसाद, बालकृष्ण संद, अखिला, प्योली, शिउली,

राजीव बामने, शोभनाथ यादव, नरेंद्र, अरुण कुमार बागी, विक्रमा मौर्य, अकरम अंसारी, बाबन दे, मलिन चन्द्र बर्मन, करुणा कान्त राय, श्यामल रायबीर, विकास चौधरी आदि। समलैंगिक संबंधों को अपराध घोषित करने वाली भारतीय दंड संहिता की धारा 377 के खिलाफ प्रस्ताव पेश किया गया।

सजप का राजनैतिक प्रस्ताव

2014 लोकसभा चुनाव का परिणाम, कांग्रेस के नेतृत्व में चली संग्राम सरकार के कार्यकाल में तीव्र महंगाई, रोजगार के संकुचित हुए अवसर तथा भ्रष्टाचार और लूट के महाघोटालों के खिलाफ राष्ट्रव्यापी क्रोध की अभिव्यक्ति था। इसके फलस्वरूप नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा को जीत मिली है। ओड़ीशा में बीजद, तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक, पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस, आंध्र प्रदेश में तेलुगु देशम- तेलंगाना राज्य समिति की सफलता, इस बात की द्योतक है कि यह राष्ट्रव्यापी कांग्रेस-विरोधी लहर थी। यह गौरतलब है कि उत्तर और पश्चिम भारत में भारतीय जनता पार्टी तथा ऊपर जिन दलों का जिक्र है वे मुख्य संगठित कांग्रेस- विरोधी दल हैं।

कांग्रेस के धराशायी होने का मुख्य कारण व्यापक भ्रष्टाचार और उस पर अन्योन्याश्रित गलत नीतियाँ रही हैं। राडिया, 2जे स्पेक्ट्रम घोटाला, कोयला ब्लॉक घोटाला तथा अन्य बीसियों घोटालों की जड़ों में तरीके से सुनियोजित सरकारी नियंत्रणों को समाप्त करने की नीतियाँ रही हैं। घोटालों में सत्ताधारी राजनीतिकों का अलावा उद्योगपतियों का हाथ रहा है। उद्योगों द्वारा संसाधनों की लूट में पड़ रही इन बाधाओं के कारण उन्होंने मनमोहन सिंह को छोड़ नरेंद्र मोदी को अपना लिया।

यह आम चुनाव अब तक का सबसे खर्चीला चुनाव था। चूंकी मौजूदा कानून दलों द्वारा चुनाव में खर्च पर कोई सीमा नहीं लगाता है इसलिए बड़े खर्चों की जिम्मेदारी तय नहीं हो पाती है। टेलीविजन के विज्ञापन, अखबारों के विज्ञापन, रैलियाँ, हेलीकॉप्टर तथा निजी जहाज के उपयोग का कोई प्रामाणिक हिसाब सामने नहीं आया है। जाति-समूहों के नेताओं को नगद दिए जाना इसके अतिरिक्त है। इन सब खर्चों में भाजपा का स्थान सर्वोपरि है।

लोकसभा चुनाव में जीतने वाले प्रत्याशियों की औसत

प्रतिव्यक्ति दौलत 2009 में 5.35 करोड़ रुपए थी जो इस चुनाव में 173 प्रतिशत बढ़कर 14.61 करोड़ हो गई है। नव-उदारवादी नीतियों के इन दो दशकों में 56 लोग डॉलर में अरबपति हो गए हैं वहीं 30 करोड़ लोगों की आमदनी 25 रुपए प्रतिदिन है।

इन आम चुनावों में हमारी मौजूदा चुनाव प्रणाली की विडंबना सर्वाधिक स्पष्टता से प्रकट हुई है।

राष्ट्रीय स्तर पर भाजपा को 31 प्रतिशत वोट मिले और 282 सीटें मिलीं। कांग्रेस को 19.3 प्रतिशत वोट मिले और 44 सीटें मिलीं। यानि इनमें 12 प्रतिशत वोट का अंतर था किंतु सीटों का अंतर 500 प्रतिशत है।

उप्र में बसपा को करीब 20 प्रतिशत वोट मिले परंतु शून्य सीटें मिलीं। इस राज्य में कांग्रेस को 8 से कम प्रतिशत वोट मिले और 2 सीटें मिलीं। सपा को 22.6 प्रतिशत वोट मिले और पांच सीटें मिलीं। भाजपा को 42 प्रतिशत वोट मिले और 90 प्रतिशत सीटें मिलीं।

सीमांध्रा में तेदेपा-भाजपा था वायएसआर कांग्रेस में बमुश्किल 2 प्रतिशत वोट का अंतर है परन्तु सीटें दुगुनी हैं। तमिलनाडु में द्रमुक को 23.6 प्रतिशत वोट मिलने के बावजूद कोई सीट नहीं मिल पाई। भाजपा के राज्यस्तरीय 6 दलीय गठबंधन को 18.6 प्रतिशत वोट मिले किन्तु 2 सीटें प्राप्त हुईं। वहां कई सीटों पर 5 कोणीय मुकाबले हुए जिसके फलस्वरूप अन्नाद्रमुक को 44 प्रतिशत वोट मिले और 39 में से 37 सीटें मिलीं।

सजप इस निर्वाचन प्रणाली में सुधार की बाबत चर्चा चलाएगी। मोदी इस अभियान में विकास के अपने मॉडल पर जोर देते रहे किंतु उनके सांप्रदायिक मंसूबे को पूरा करने के लिए रामदेव, अमित शाह और गिरिराज सिंह मुखर रहे।

समलैंगिक संबंधों को अपराध घोषित करने के खिलाफ अभियान चलाएगी समाजवादी जन परिषद

11 दिसंबर 2013 उच्चतम न्यायलय के इतिहास के सबसे शर्मनाक दिनों में से एक था। जब न्यायमूर्ति जीएस सिंघवी और न्यायमूर्ति एसजे मुखोपाध्याय की पीठ ने कौशल बनाम नाज फाउंडेशन व अन्य नामक केस में भारतीय दंड संहिता की धारा 377 को संवैधानिक घोषित करते हुए दिल्ली उच्च न्यायलय के 2009 में दिए गए ऐतिहासिक फैसले को पलट दिया, जिसमें दो वयस्कों के बीच स्वेच्छ से स्थापित समलैंगिक संबंध को अपराध की श्रेणी से हटा दिया गया था। उच्चतम न्यायलय का यह निर्णय भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त समता और गरिमा के साथ जीने के अधिकार के विरुद्ध है। समाजवादी जन परिषद यह मानती है कि हमारे देश के संविधान का एक बहुमूल्य गुण उसका समावेशी होना है। भाषा, धर्म, जाति, लिंग, लैंगिक रुझान आदि के परे सभी मनुष्यों को सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार है।

हमारे देश के उच्चतम न्यायलय ने 'जेहोवाज विटनेस' नाम से मशहूर ऐतिहासिक निर्णय में यह साफ कर दिया था कि अगर अल्पसंख्यक समुदाय की जनसंख्या 'एक' भी हो तब भी उसके मौलिक अधिकारों की रक्षा करना संवैधानिक न्यायालयों (उच्च न्यायलय एवं उच्चतम न्यायलय) का फर्ज है। 'कौशल बनाम नाज फाउंडेशन व अन्य' के निर्णय में इसके ठीक विपरीत कहा गया कि चूंकि समलैंगिक इस देश में केवल कुछ लाख हैं और आज तक केवल 200 लोगों के खिलाफ इस कानून के तहत अभियोजन चलाया गया है।

इसलिए उनके विषय में न्यायलय को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और यदि संसद चाहे तो इस कानून को बदल सकती है। समाजवादी जन परिषद का मानना है कि न्यायालयों को संविधान द्वारा मानवाधिकारों का प्रहरी बनाया गया है और उच्चतम न्यायलय द्वारा इस मामले में अपने हाथ पीछे खींच लेना भविष्य में अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए खतरनाक संदेश देता है। सजप इस मुद्दे पर भाजपा के घोषित और कांग्रेस के अधोषित रवैए की भर्त्सना करती है। जहां भाजपा ने समलैंगिकता को धर्म और प्रकृति के विरुद्ध एक अपराध घोषित कर अपनी दकियानूसी विचारधारा को उजागर किया है वहीं कांग्रेस ने यूं तो उच्चतम न्यायलय के फैसले का विरोध किया किंतु धारा 377 को दंड संहिता से हटाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया है।

समाजवादी जन परिषद यह मांग करती है कि औपनिवेशिक काल का यह दकियानूसी और अमानवीय कानून तत्काल हटाया जाना चाहिए। आज जब यह कानून बनानेवाला ब्रिटेन दुनिया के कई अन्य देशों की तरह समलैंगिक इंसानों के अधिकारों को स्वीकार कर चुका है ऐसी स्थिति में हम आज भी अपनी मानसिक गुलामी के तहत 1860 के इस कानून को ढोए जा रहे हैं। इस मांग के साथ पार्टी 10 दिसंबर, अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस को अपनी इकाइयों में धारा 377 के विरुद्ध कार्यक्रम चलाएगी।

अफ्सपा रद्द करो!

इस 11 जुलाई को मणिपुर में मनोरमा का भारतीय सेना द्वारा बलात्कार और उसकी क्रूरतापूर्वक हत्या को 10 साल पूरे हुए। मनोरमा की हत्या से पहले और बाद में, अफ्सपा कानून और सेना की ज्यादतियों के खिलाफ पूर्वोत्तर, जम्मू-कश्मीर व अन्य क्षेत्रों में लगातार आंदोलन चलते रहे। इसके बावजूद पूर्वोत्तर और जम्मू कश्मीर में अफ्सपा (सशस्त्र बल विशेष अधिकार अधिनियम, 1958) लागू हैं इन इलाकों की महिलाओं-पुरुष-बच्चों के दमन, शोषण, बलात्कार और हत्याओं के साथ। इसके विरोध में 11 जुलाई 2014 को जंतर-

मंतर, दिल्ली में डब्ल्यूएसएस (यौन हिंसा एवं राजकीय दमन के खिलाफ महिलाएं), पीयूडीआर, प्रतिध्वनि एवं अन्य कई प्रगतिशील संगठनों ने एक दिवसीय कार्यक्रम लिया। इसमें इन मांगों को रखा गया: पूर्वोत्तर, कश्मीर, छत्तीसगढ़, ओड़िशा और संघर्ष की अन्य परिस्थितियों में राज्य बलों द्वारा की गई यौनिक हिंसा के लंबित मामलों में कार्यवाही हो; नागरिक क्षेत्रों से सशस्त्र बल की वापसी हो; सशस्त्र बलों को दंडमुक्ति देने वाले अफ्सपा और अन्य कानूनों रद्द की जाएं; महिलाओं के साथ इस देश के नागरिक होने के नाते न्याय हो, मार्शल लॉ (सैनिक कानून) के अधीन नहीं; संघर्ष क्षेत्रों में यौन अपराधों से संबंधित वर्मा आयोग के दिशा-निर्देशों का क्रियान्वयन हो।

मेरे बाबा

इकबाल अभिमन्यु

जब वो चलते थे तो पैर की मांसपेशियों से चटकने की हल्की आवाज आती थी, जिसे सुनकर कई बार मेरी नौद टूटती जब मैं अंदरवाले कमरे में रजाई में दुबका रहता, या गर्मी में चटाई पर सोता और बगल से वे गुजरते। केसला की गर्मियां तेज और लू वाली होती हैं, और कुछ साल पहले तक पंखा भी नहीं था, तो बाबा हमेशा उघाड़े बदन रहते दिन में, और सन की रस्सियों वाली खटिया के निशान उनकी पीठ पर चारखानेदार पड़ जाते। जब भी बाबा घर पर होते तो मुझे और शिउली को पढ़ाते। गणित पढ़ाने में उनके जैसा सरल पढ़ानेवाला कोई नहीं मिला। अगर कोई ऐसी चीज होती जो उन्होंने अपने समय में नहीं पढ़ी, कोर्स में नई जुड़ी हो तो पहले उसे खुद पढ़ते फिर समझाते। व्यस्तता बढ़ने के साथ पढ़ाना कम भी हुआ, लेकिन मुझे भी पढ़ना हमेशा बोज़ लगा, मांगने पर समय हमेशा देते थे।

सुबह तड़के उठ जाते, और लिखने लगते, हम लोग रात (या भोर) समझ चार-पांच बजे पेशाब करने उठते तो बाबा पालथी मारे लिखते हुए दिखते, कभी लाइट न हो तो चिमनी की रोशनी में। लिखने की आदत जबरदस्त थी, चिट्ठियों के जवाब देते, प्लेटफार्म पर ट्रेन आने से पहले जल्दी-जल्दी लिखते ताकि स्टेशन की डाक से चली जाए। घर में पोस्टकार्ड इधर-उधर मिलते हैं जिसमें उनके द्वारा 'जवाब- तारीख' लिखी होती है। हफ्ते में दो लेख सामान्यतः लिखते, उसके अलावा प्रेस विज्ञप्ति, पार्टी के परिपत्र वगैरह भी।

भूतकाल में लिखना कठिन है। मैं हमेशा से उन पर लिखना चाहता था, आज नहीं, आज से बीस साल बाद। जब मेरी लेखनी में इतनी ताकत आ जाए, जब मैं एक बेटे का अपने पिता के प्रति प्यार और आदर नहीं बल्कि उनके काम और विचारों के बारे में लिख सकूँ। मैं समग्र में उनके जीवन और काम के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन समग्र तो कोई नहीं लिख सकता। श्रद्धांजलि कैसी होती है? भाषण या लेख में नहीं होती, वो जैसी किशन पटनायक को जन परिषद के जुझारू साथियों ने दी, वैसी होती है।

उन्हें मेरी कविताएं पसंद आई थी, हालांकि मैं उन्हें नहीं भेजता था, मेरा लिखना अपने दोस्तों, हमउम्रों, अपरिचितों के लिए होता है, जिन्हें मैं प्रभावित कर पाऊँ। उनकी पसंद को मैंने अपने लिखे से अलग ही समझा। लेकिन शिउली और अन्य लोगों के जरिए उन तक पहुंची और एक बार यहीं दिल्ली में मैंने एक सिरे से ब्लॉग की सारी कविताएं पढ़कर सुनाई, जिस पर उनकी मिली-जुली प्रतिक्रिया रही, लेकिन मुझे तसल्ली हुई। उन्हें गूढ़ता या शब्दजाल पसंद नहीं था, सीधी बात कहनेवाली चीजें पसंद थीं। मेरी कविता किसी और के जरिए पहुंची और सामयिक वार्ता में छपी तो मुझे बहुत अच्छा लगा।

मैं ज्यादातर जगहों पर सुनीलजी-स्मिताजी का बेटा बना रहा। अपनी पहचान में भी और अंतर्मन में भी। अभी भी हूँ। अबचेतन

में हमेशा याद रहा कि मैं कौन हूँ, हमेशा शर्म आई कि जनरल डिब्बे, या वेटिंग लिस्ट में सफर करने से क्यों घबराता हूँ, या किसी कार्यालय के कर्मचारी से बहस न कर पाने की शर्म, महंगी दुकानों या रेस्तरां में घुसते हुए अपराधबोध जरूर होता है और जीवन भर रहेगा, भले ही उसे दबा दिया जाए।

बहुत कुछ याद आ रहा है। आगरा के किले और फतेहपुर सीकरी दिखते हुए बहुत चाव से समझाया था कि कैसे मुगलों की स्थापत्य कला में टंडक रहती थी, दीवारों में हवा के गलियारों के जरिए और मेहराब में कैसे दरवाजे मजबूत बनते हैं, कैसे बिना मसाले की जुड़ाई के मजबूत पत्थर की दीवारें तैयार हो जाती हैं। बाबा नीरस-निर्माही नहीं थे, उन्हें कभी-कभार फिल्में देखने या जगहें देखने में आनंद आता था। लेकिन काम सबसे आगे था, और काम ही काम था। फुर्सत के क्षणों में किताबें पढ़ते और थ्योरेटिकल जमीन मजबूत करते, कभी कभार फिक्शन भी पढ़ते लेकिन वह भी इधर कुछ सालों में ही शुरू किया था। मेरा अनुमान यह है कि जब बाबा ने कार्यकर्ता बनने का तय किया तो 'शौक' उठाकर एक कोने रख दिए, हम उन्हें खींचकर कभी कभार फिल्म देखने ले जा पाए, कुल मिलाकर आधा दर्जन से ज्यादा बार नहीं। घूमते बहुत थे आंदोलन और पार्टी के काम से, और आसपास के दर्शनीय स्थल समय मिलने पर देख लेते। पर निरंतर लिखना और लोगों से चर्चा करना, आंदोलनों से जुड़ना, दौरा करना। यही उनके समय और सोच पर छाया रहता। उनकी अपेक्षाएं सबसे थीं, सबसे, कोई भी छूटा नहीं है। सबसे यह अपेक्षा कि अपने समय का बड़ा हिस्सा समाज या समाज उपयोगी काम के लिए हम दें, लिखें, संगठन करें, गोष्ठियां करें, वार्ता को फैलाएं, या जहां भी हों अपने स्तर पर कुछ करें, अपने हाथ में चीजों को लें, परिस्थितियों के गुलाम न बनकर हिलाएं, झकझोर दें।

मुझे तेईस साल उनका साथ मिला। अब आगे जीवन में कितने साल हैं, यह साफ नहीं, लेकिन मुझे हमेशा अनकहा गर्व था बाबा पर। अनकहा इसलिए क्योंकि दिखाने पर उसका महत्व खत्म हो जाता और हवाई गर्व की कोई कीमत भी नहीं। गर्व के आगे काम है, संघर्ष है, जिम्मेदारी है, उनका बेटा ही नहीं, उनका कार्यकर्ता होने की जिम्मेदारी ज्यादा बड़ी है। इस बेचैनी और ग्लानि को काम में बदलना है कि उनके रास्ते पर अभी तक चल ही नहीं पाया हूँ, या अपना रास्ता भी बनाना शुरू नहीं किया है।

बड़ी तकलीफ के बावजूद लिख रहा हूँ, क्योंकि वो एक सार्वजनिक व्यक्तित्व थे, जिनका लिखा जाना जरूरी है, ताकि आगे हम बार-बार मुड़कर देख सकें, खंगाल सकें एक जीवन को जो अनुकरणीय है।